CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# कालिदास की कला और संस्कृति

## (भाग १)

लेखक

डा० देवी दत्त शर्मा

१९८१

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# कालिदास की कला और संस्कृति (२)

लेखक :

**डा० देवीदत्त शर्मा**

एम० ए०, पी–एच० डी० (संस्कृत तथा भाषिकी),
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
अध्यक्ष, संस्कृत–विभाग
पञ्जाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रकाशिका

*देववाणी-परिषद्, दिल्ली*

६, वाणी-विहार:, नयी दिल्ली ११००५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# कालिदास की कला और संस्कृति (१)

(समीक्षा)

लेखक : डा० देवीदत्त शर्मा

सर्वाधिकार : लेखक

प्रकाशिका : देववाणी-परिषद्, दिल्ली

६, वाणी-विहार, नई दिल्ली-११००५९ (भारत)

मुद्रक : देव प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स

२६५, उत्तरी गाँधी कालौनी, मुजफ्फरनगर-२५१००१

संस्करण : प्रथम, १९८१

मूल्य : रु० ६०=०० साठ रुपये मात्र

# KĀLIDASA KĪ KALĀ AUR SAṂSKRTI (Vol.2)

(Criticism)

Author : Sharma, (Dr.) D. D.

© : Author

Publisher : Devavani Parishad, Delhi

6-Vani Vihar, New Delhi 110059

Printer : Dev Printers & Publishers

265-North Gandhi Colony, Muzaffarnagar

Edition : First, 1981

Price : Rs. 60-00 Rs. Sixty Only

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# समर्पण

परमश्रद्धेय गुरुप्रवर

स्व० आचार्य ब्रह्मानन्द जी शुक्ल

को

जिनके पावन चरणों में बैठकर
महाकवि कालिदास की
कृतियों का अध्ययन
प्रारम्भ किया

—देवीदत्त

गुरुपूर्णिमा, वि० सं० २०३८,
१७ जुलाई, १९८१ ई०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# विषय-सूची

समर्पण
प्रास्ताविकम्
प्राक्कथन

## मेघदूत

(१) मेघदूत : एक साहित्यिक विश्लेषण १—४०

काव्य-जगत् में मेघदूत का स्थान २. कालिदास के नवीन प्रयोग (क) काव्यशैली (ख) रस, (ग) छन्द (घ) प्रकृति-चित्रण ३. मेघदूत: कालिदास की काव्यगत विशेषताओं का प्रतिनिधि: (क) अनामिका सार्थवती बभूव, (ख) भाषागत, वैशिष्ट्य (ग) शब्दप्रयोग (घ) ध्वन्यात्मकता, शैलीगत वैशिष्ट्य: वैदर्भी का कौशल, शृंगार की स्थापना तथा संभोग की समस्त दशाओं का निरूपण, अलंकारगत सौन्दर्य, (क) उपमा (ख) उत्प्रेक्षा, (ग) दृष्टान्त आदि। सूक्ति, अनुपम शब्द-चित्र, भारतीय पृष्ठभूमि पर वर्षाकाल का भव्य चित्रण, पुरातन भारत की झाँकी, चरित्र-चित्रण, प्रेम का आदर्श, यक्षपत्नी और अपर्णा।

(२) मेघदूत : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ४१—६५

चेतोविश्राम का क्षेत्र: मानवलोक, यक्ष का शाप तथा उसकी भोगभूमि, मेघदर्शन और चेतोविकार, निरुपाय का उपाय, भावावेश और विवेकशून्यता, कामार्त की प्रकृतिकृपणता, प्रशस्ति का प्रभाव, निवेदन, पराधीनवृत्तिता की कसक, सन्देश का औचित्य, संवेदना का प्रसार, प्रवृत्ति और प्रेरणा, मनोभावों का प्रतिविम्बन, अनुरूप प्रलोभन-योजना, उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर की योजना, प्रेम का प्रसार, उज्जयिनी-वास का प्रयोजन, धैर्यच्युति, स्थान का प्रभाव, अन्तःकरण की शुद्धि, संस्कारों का प्रभाव, स्मृति और साहचर्य, भावावेश और आनन्दानुभूति, रागात्मक केन्द्र तथा मानसिक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

प्रतिक्रिया, अनुराग और अनुरंजन, प्रतिकू ः परिस्थिति एवं अनुभूति की तीव्रता, वियोगियों की समान्य मानः स्थिति, चिन्तन और स्वप्न, स्नेह और मनोदौर्बल्य, मनोविज्ञान का मूलमन्त्र, मनःस्थिति पर परिस्थितियों का प्रभाव ।

(३) मेघदूत का प्रतीकात्मक विश्लेषण ६६—७८

जीवनचक्र, का रूप अलकावासियों, का जीवन, यक्ष के भवन की दिव्य झाँकी, वैभव और विलास की नगरी अलका, नारी–सौन्दर्य का प्रतिमान, दाम्पत्य–विलास, विधिचक्र का परिवर्तन, विरह–दशा (क) पत्नीगत (ख) पतिगत, आस्था, विधि के विधान की विश्वात्मकता ।

(४) मेघदूत में प्रयुक्त मेघ के पर्यायों एवं सम्बोधनों का शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण ७९—९६

मेघ का व्यक्तित्व, शब्द-चयन का महत्त्व, स्वनिमिक चयन, गुणधर्मों के संकेतक पदों का विश्लेषण, मेघ, घन, जीमूत, पयोद, जलद, जलधर, अम्बुवाह, सम्बोधनपरक शब्दः सखे, कामचारिन् सुभग, आयुष्मन्, साधो, भ्रातः, निष्कर्ष ।

## रघुवंश

(१) रघुवंश : एक शास्त्रीय विश्लेषण ९७—११६

साहित्यिक जगत् में रघुवंश का स्थान, रघुवंश का उद्देश्य, रघुवंश का प्रेरणास्रोत, कालिदास की मौलिक उद्भावना का प्रतीक, वस्तुविन्यास, रघुवंश का नायकत्व, वस्तु–संयोजन पर कुछ आक्षेप और उनका निराकरण, वस्तु–विकास की अवस्थाएँ, वस्तु–विन्यास में चिन्त्य स्थल ।

(२) रघुवंश का कलापक्ष ११७—१४०

वस्तुविन्यास की कलात्मक योजना, भावनिरूपण, वातावरण की सृष्टि, व्यापार–व्यवस्था, रस–निरूपण, रूप–योजना अथवा छन्दोविधान, गुणरीति–विधान, अलंकार–विधान, प्रकृति–चित्रण ।

(३) रघुवंश का भावपक्ष १४१—१७२

समानान्तर शब्दचयन, देशकालातीत सौदर्यव्यंजना, रघुवंश

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

की भावचित्रयोजना, माधुर्य, स्नेह और विश्वास, सेवाभाव, भावतीव्रता के लिए विरोधी भावों की एकत्र योजना, भावपूर्ण तथ्यचित्रण, पृष्ठभूमि के साथ भावों का उभार, वात्सल्य भाव, शौर्य, भावों का संश्लिष्ट चित्रण, स्थानीय रंजन के साथ चित्रण, विम्बग्राही भावचित्रण, कारुण्य का चित्रण, दार्शनिक भावचित्रण, भावसंघर्ष, उदात्तभाव का चित्रण, विविध भावचित्रण प्रेम और आत्मोत्सर्ग की अपूर्व भावना का चित्रण, विविध भावचित्रण, वियोग और शृंगार, प्रेम और कर्तव्य, चारित्र्यिक दृढता आदि का चित्रण, उपसंहार।

## अभिज्ञानशाकुन्तल

(१) शाकुन्तल : एक साहित्यिक मूल्यांकन १७३—२२६

काव्य-जगत् में शाकुन्तल का स्थान, शाकुन्तल की मौलिक उद्भावना, वस्तु-योजना के रूप, वस्तु-योजना का वैशिष्ट्य, वातावरण की सृष्टि, नाटकीय सोत्प्रासों की योजना, भाषा और भावों का संयोजन, रस-विश्लेषण, शाकुन्तल का काव्य-सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण : दुष्यन्त, शकुन्तला कण्व और दुर्वासा, अनसूया और प्रियंवदा, शार्ङ्गरव और शारद्वत, गौतमी, माढव्य।

(२) शकुन्तला: एक चारित्र्यिक विश्लेषण २२७—२४१

परिचय, अपूर्व सौन्दर्य, शालीनता प्रकृति-पुत्रीत्व, मुग्धता, प्रेम विकास की अवस्थाएँ (क) अंकुरण (ख) प्रदर्शन (ग) तीव्रता (घ) पूर्णता, दुर्भाग्य का प्रकोप, आदर्शपत्नीत्व, नारीत्व की पूर्णता, प्रेम का परिष्कार, शकुन्तला की महानता का रहस्य तथा कालिदास की अन्य नायिकाएँ।

(३) शाकुन्तल का उद्देश्य २४२—२६१

शाकुन्तल की सौदृश्यता, सहजधर्म, गृहस्थ की प्रतिष्ठा, सहजकर्म, सहज सौन्दर्य, विशुद्ध प्रेम का परिष्कार, शिष्ट एवं संयत शृंगार, प्रकृति का उदात्त निरूपण, उपसंहार।



Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# प्रास्ताविकम्

'देववाणी-परिषद्, दिल्ली' संस्थायाः सद्ग्रन्थप्रकाशनरूपमप्येकमुद्देश्यमस्ति। तदनुसारमद्यावधि परिषदा इमे संस्कृतभाषानिबद्धा ग्रन्थाः प्रकाशिताः-(१) सुगमरामायणम् (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (२) श्रीकृष्ण-चरितम् (आचार्यश्रीरमेशचन्द्रशुक्लप्रणीतं महाकाव्यम्) (३) कर्णभूषणम् (डॉ० सी० आर० स्वामिनाथ-कृतं नाटकशोकगीतिप्रबन्धात्मकं रचनात्रयम्), (४-५) अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (रमाकान्तशुक्लसम्पादितः खण्डद्वयात्मकः समीक्षाग्रन्थः) (६) हरविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम् (डॉ० कृष्णकान्तशुक्ललिखितम्) (६) श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् (डॉ० हरिनारायणदीक्षितरचितम् गद्यकाव्यम्) भाति मे भारतम् (डॉ० रमाकान्तशुक्लप्रणीतं काव्यम्) (६) भारतस्वातंत्र्य-संग्रामेतिहासः (डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लकृतः) (१०) सदाशयसमुच्चयः (श्री टी० वी० परमेश्वर अय्यरप्रणीतः) (११) आभाणकमञ्जरी (श्री टी०वी० परमेश्वर-अय्यरप्रणीता) (१२) देववाणीदर्शनम् (डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लादिसम्पादितम्) च। परिषदा डॉ० देवीदत्तशर्मभिर्हिन्द्यां रचिताः संस्कृतसाहित्यपरकाः 'मेघदूत : एक विश्लेषण'-'रघुवंश : एक विश्लेषण' 'अभिज्ञानशाकुन्तल : एक विश्लेषण' शीर्ष-कास्त्रयो ग्रन्था अपि प्रकाशिताः। इदानीं च परिषदियं चण्डीगढस्थपञ्जाबविश्व-विद्यालयसंस्कृतविभागाध्यक्षपदमलंकुर्वद्भिः, एम० ए०- साहित्याचार्य-पीएच० डी०-प्रभृत्युपाधिभूषितैः किञ्च स्व आजीवनसदस्यैर्डाक्टर- देवीदत्तशर्ममहाभा-गैर्हिन्दीभाषामाध्यमेन लिखितं संस्कृत-साहित्यपरमुक्तग्रन्थत्रयमेव सम्पिण्डित-रूपेण "कालिदास की कला और संस्कृति (भाग २)" इति शीर्षकेण प्रकाशयन्ती हर्षमनुभवति।

अस्मिन् ग्रन्थे विदुषा लेखकेन कविकुलगुरुःकालिदासकृत मेघदूत-रघुवंशाभि-ज्ञानशाकुन्तलानां साहित्यिक–शैलीवैज्ञानिक–सांस्कृतिक-काव्यशास्त्रीय प्रभृतिदृष्टिकोणैरनितरसाधारणशैल्यां विविधदृष्टिभिर्विश्लेषणात्मिकासमीक्षा कृता। ग्रन्थोऽयं लेखकस्य गंभीराध्ययनस्य परिचायकः। आशासे, हिन्दीमाध्यमेन संस्कृत-साहित्यमवगाहितुकामाः पाठका अनेन ग्रन्थेन लाभान्विता भविष्यन्ति। डॉ० देवीदत्तशर्ममहाभागाः स्वकृतये वर्धाप्यन्ते। 'देववाणी-परिषद्' एतेषामाभा-रमावहति यदेभिः स्वग्रन्थस्य प्रकाशनमतोऽनुमतम्। कृपालवः पाठकाः क्वचिज्जातानि मुद्रणस्खलितानि शोधयितुं सादरं प्रार्थ्यन्ते।

विदुषामाश्रवः
डॉ० रमाकान्तशुक्लः
महासचिवः
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

१७ जुलाई १९८१ ई०
६, वाणी-विहारः
नयी दिल्ली-११००५९

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# प्राक्कथन

कालिदास के साथ मेरा लगाव बचपन से ही रहा है और अब भी चिर-नवीन बना हुआ है। मैंने उन्हें जब भी देखा है प्रतिबार उनका एक नया ही रूप मेरे सामने आया है। प्रारम्भ में उनके प्रति मेरे आकर्षण का केन्द्र यद्यपि उनका कलात्मक सौन्दर्य ही रहा, किन्तु काल-क्रम से मैं ज्यों-ज्यों उनके निकट होता गया त्यों-त्यों उनकी रचनाओं में निहित भाव-सौन्दर्य के असंख्य रूप मेरे समक्ष अनावृत होते रहे और अब भी मैं दावा नहीं कर सकता कि मैं उनमें निहित सभी रूपों को देखने में समर्थ हो सका हूँ। मुझे लगता है कि गीता के विराट् पुरुष के रूपों की भाँति वे भी अनन्त एवं अपरिमेय हैं। आज कालिदास पर लिखी गयी पुस्तकों की संख्या दर्जनों में है किन्तु इनमें से कोई भी शायद ऐसी नहीं होगी जो कि उस महाकवि के काव्य–सौन्दर्य या भाव–सौन्दर्य के सम्बन्ध में कुछ न कुछ नवीन तत्त्व प्रस्तुत न करती हो और इसका कारण है बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा अनेकानेक विश्वजनीन तथ्यों का निरूपण। मैं उनकी इन तीन प्रमुख एवं तीन प्रकार की काव्यसृष्टियों का प्रतिनिधित्व करने वाली कृतियों के प्रस्तुत विश्लेषण में उनकी प्रतिभा के किसी नवीन पक्ष को छू पाया हूँ या नहीं, अथवा अपने पाठकों को इस महाकवि की इन तीन कृतियों के सम्बन्ध में किसी जानी मानी बात को किसी नवीन ढंग से प्रस्तुत कर पाया हूँ या नहीं, इस विषय में मुझे यहाँ पर कुछ नहीं कहना है। इसका निर्णय सुधी आलोचक तथा कालिदास के रसिक पाठकजन स्वयं ही करें।

यहाँ एक प्रकरण जिसके सम्बन्ध में मैं विशेषरूप से कहना चाहूँगा वह यह है कि कालिदास की रचनाओं में पायी जाने वाली उनकी रसपूर्ण एवं भावपूर्ण अभिव्यक्तियों ने ही मेरे मन को इतना आबद्ध रखा कि उनके सम्बन्ध में लिखे गये दोनों ही ग्रन्थों में मुझे न तो उनके स्थिति या जन्मस्थानविषयक समस्याओं पर गहराई से चिन्तन करने या अनुसन्धान करने का अवकाश ही मिल पाया और न मुझे इसकी आवश्यकता ही प्रतीत हुई। मेरी दृष्टि में उनका व्यक्तित्व देश और काल के बन्धनों से मुक्त है, वह सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है। उसे देश-काल की संकीर्ण सीमाओं में बाँधना उचित नहीं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया है। उन्होंने जो कुछ भी कहा है वह सार्वकालिक एवं सार्वजनिक है, वह केवल किसी देश, काल, जाति या सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध रखने वाला नहीं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

इसीलिए मेरी दृष्टि में ऐसे विश्वात्मक कवि को किसी देश विशेष व काल विशेष की संकीर्ण सीमाओं में सीमित करना उचित नहीं। साथ ही, उसे किसी देश विशेष या काल विशेष का सिद्ध या असिद्ध करने से उसके कर्तृत्व या व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं आ जायेगा।

**'कालिदास की कला और संस्कृति'** के इस द्वितीय भाग के प्रकाशन के सम्बन्ध में भी मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि, चाहे विलम्ब से ही सही, मैं अपने पाठकों को **'कालिदास की कला और संस्कृति (भाग १)'** की भूमिका में दिये गये अपने वचन को निभाने में सफल हो गया हूँ जो मेरे लिए एक सन्तोष की बात है। यद्यपि इसके लेखन का कार्य इसके प्रथम भाग के प्रकाशन के साथ ही पूरा हो चुका था किन्तु किन्हीं अपरिहार्य कारणों से इसका प्रकाशन नहीं हो सका। अब भी शायद यह उसी पाण्डुलिपि की स्थिति में पड़ा रहता यदि **'देववाणी-परिषद्,'** के संस्थापक महासचिव भाई डा० रमाकान्त शुक्ल का उन्मुक्त सहयोग इसे न मिलता। वस्तुतः इसे पाठकों के समक्ष लाने का सारा का सारा श्रेय इन्हें है। ये मेरे छोटे भाई हैं और गुरु-पुत्र भी। समझ नहीं पा रहा हूँ कि इनके प्रति औपचारिक कृतज्ञता किस रूप में तथा किन शब्दों में व्यक्त करूँ। अतिनिकटता के कारण हार्दिक आभार को शाब्दिक रूप न देना ही उपयुक्त होगा।

इस ग्रन्थ के मुद्रण के सम्बन्ध में एक बात जो मैं विशेष रूप से अपने पाठकों को कहना चाहूँगा वह यह कि कुछ अपनी ही विवशताओं के कारण मैं स्वयं इसके प्रूफ बिल्कुल भी तथा किसी स्तर पर भी नहीं देख पाया हूँ, इसलिए यत्र-तत्र मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों के रह जाने की सम्भावना है। सुधी पाठकों से निवेदन है कि जहाँ पर उन्हें मुद्रणसम्बन्धी ऐसी कोई त्रुटि दृष्टिगत हो उसे स्वयं शुद्ध कर पढ़ने का कृपा करें तथा इस विषय में यदि मुझे भी सूचित कर सकें तो उनकी बड़ी कृपा होगी जिससे कि अगले संस्करण में उनका निराकरण किया जा सके। हाँ, विषयप्रतिपादन में यदि कोई असंगति दृष्टिगोचर हो तो उसके लिए लेखक स्वयं उत्तारदायी है।

अन्त में संस्कृत के प्रचार-प्रसार में दत्तचित्त 'देववाणी-परिषद्, दिल्ली' संस्था के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिसने इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया है।

ई—५३, सेक्टर १४
पंजाब विश्वविद्यालय परिसर, चंडीगढ़—१६००१४ —देवीदत्त शर्मा
गुरुपूर्णिमा, वि० सं० २०३८, जुलाई १७, १९८१

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# मेघदूत

(मेघे···गतं वयः)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (१)

# मेघदूत : एक साहित्यिक विश्लेषण

## काव्य-जगत् में मेघदूत का स्थान

'मेघदूत' भारतीय साहित्य के उन गिने चुने ग्रन्थरत्नों में हैं जिन्होंने कि अपने साहित्यिक-लालित्य, कल्पना-सौन्दर्य एवं सुकोमल भाव-प्रवणता के कारण सैकड़ों वर्षों से जनमानस को मोहित किया हुआ है। इस लघुकाय काव्य में कुछ ऐसा अनौखापन भरा हुआ है कि चाहे जितनी बार भी पढ़िए उसकी चारुता का ह्रास नहीं विकास ही होता जाता है। नवीनता के नये-नये रूप उघड़ते चले जाते हैं, निरन्तर रस-पान करते रहने पर भी हृदय अतृप्त ही रह जाता है। मेघ और माघ के इन्हीं गुणों के रहस्य को उद्घाटन करते हुए कभी किसी आलोचक ने स्पष्ट रूप से कह ही तो दिया था—**"मेघे माघे गतं वयः।"**

वस्तुतः इस कथन में कोई अत्युक्ति वा अर्थवाद नहीं, एक स्वीकृत तथ्य का ही अभिनिधान है। बात यह है कि इस छोटे से काव्य में चराचर जगत् का कोई ऐसा रूप व तत्त्व नहीं जो कि इसकी परिधि को न छू गया हो। इसका स्थूल से स्थूल भौतिक रूप भी सामने है और सूक्ष्म से सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप भी। संक्षेप में यह कवि-कल्पना का वह विराट् रूप है जिसमें कि समस्त विश्व ही प्रतिबिम्बित हो उठा है क्योंकि भूलोक से लेकर देवलोक तक तथा चेतन मानव से लेकर अचेतन पोषाण तक-सभी कुछ इसमें एक जीवन्त रूप में उभरता चला गया है। ग्राम-नगर, वन-उपवन, नदी-पर्वत, जड़-चेतन, नर-नारी, देव-मानव, यक्ष-गन्धर्व, संयोग-वियोग, संपत्ति-विपत्ति, कामी-भक्त, शृङ्गार-करुण, उत्तर-दक्षिण, धरती-आकाश सभी कुछ तो इसका वर्ण्य विषय है। विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं इतने विषयों का इतने लघुकाय काव्य में इतने प्रभावकारी ढंग से निरूपण हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (१)

# मेघदूत : एक साहित्यिक विश्लेषण

## काव्य-जगत् में मेघदूत का स्थान

'मेघदूत' भारतीय साहित्य के उन गिने चुने ग्रन्थरत्नों में हैं जिन्होंने कि अपने साहित्यिक-लालित्य, कल्पना-सौन्दर्य एवं सुकोमल भाव-प्रवणता के कारण सैकड़ों वर्षों से जनमानस को मोहित किया हुआ है। इस लघुकाय काव्य में कुछ ऐसा अनौखापन भरा हुआ है कि चाहे जितनी बार भी पढ़िए उसकी चारुता का ह्रास नहीं विकास ही होता जाता है। नवीनता के नये-नये रूप उघड़ते चले जाते हैं, निरन्तर रस-पान करते रहने पर भी हृदय अतृप्त ही रह जाता है। मेघ और माघ के इन्हीं गुणों के रहस्य को उद्घाटन करते हुए कभी किसी आलोचक ने स्पष्ट रूप से कह ही तो दिया था—**"मेघे माघे गतं वयः।"**

वस्तुतः इस कथन में कोई अत्युक्ति वा अर्थवाद नहीं, एक स्वीकृत तथ्य का ही अभिनिधान है। बात यह है कि इस छोटे से काव्य में चराचर जगत् का कोई ऐसा रूप व तत्त्व नहीं जो कि इसकी परिधि को न छू गया हो। इसका स्थूल से स्थूल भौतिक रूप भी सामने है और सूक्ष्म से सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप भी। संक्षेप में यह कवि-कल्पना का वह विराट् रूप है जिसमें कि समस्त विश्व ही प्रतिबिम्बित हो उठा है क्योंकि भूलोक से लेकर देवलोक तक तथा चेतन मानव से लेकर अचेतन पोषाण तक-सभी कुछ इसमें एक जीवन्त रूप में उभरता चला गया है। ग्राम-नगर, वन-उपवन, नदी-पर्वत, जड़-चेतन, नर-नारी, देव-मानव, यक्ष-गन्धर्व, संयोग-वियोग, संपत्ति-विपत्ति, कामी-भक्त, शृङ्गार-करुण, उत्तर-दक्षिण, धरती-आकाश सभी कुछ तो इसका वर्ण्य विषय है। विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं इतने विषयों का इतने लघुकाय काव्य में इतने प्रभावकारी ढंग से निरूपण हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इसके अतिरिक्त इस काव्यरत्न की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पाठक व श्रोता को अपनी भावना, ज्ञान व बौद्धिक स्तर के अनुरूप ही रसास्वादन करने को मिलता है। साहित्यमर्मज्ञ को इसमें कालिदास की काव्यकला के चमत्कार के दर्शन होते हैं तो मनोविज्ञानवेत्ता को मानव मन की उलझी हुई गुत्थियों एवं निगूढ़ रहस्यों के दर्शन। आध्यात्मवादी को यदि समस्त काव्य में आध्यात्मिक रूपों का प्रतीक दृष्टिगोचर होगा तो वियोगी को सर्वत्र विरहव्यथा का क्रन्दन ही सुनाई देगा। प्रकृतिप्रेमी का मन यदि मनोरम प्रकृति के रूपों में रम जाता है तो पुरातत्त्व-खोजियों को दिखाई देती है भारत के अतीत की गौरवमय झाँकी। कहने का अभिप्राय यही है कि जिधर से भी देखा जाये इसकी अनुपमेयता सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती जायेगी।

अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यरसिकों ने इसके काव्य-सौन्दर्य पर अनेक प्रकार से अपने विचार प्रकट किये हैं। सभी ने एक स्वर से तथा मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा ही की है। आश्चर्य की बात है कि कालिदास की प्रौढ़ कृतियों की आलोचना में तो आलोचकों ने कहीं-कहीं उनकी त्रुटियों का संकेत किया है पर अपेक्षाकृत इस अप्रौढ़ काल की रचना में किसी को कहीं कोई दोष नजर नहीं आया। निश्चय ही इसमें शब्द-चित्रों एवं भाव-चित्रों का एक ऐसा अभूतपूर्व-अनोखा निरूपण है तथा कवि की वाणी तथा भाव इतने एकाकार होकर प्रवाहित हुए हैं कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है। इसके आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिपादन भी डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने मेघदूत के संस्करण की भूमिका में भली-भाँति कर दिया है।[1] पर हम यहाँ इस मूल्यवान् ग्रन्थ के तीन पक्षों पर ही प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। हमारे विचार से कवि का प्रमुख ध्येय इन्हीं पक्षों का निरूपण रहा होगा। ऐसे लोकपरक काव्य की आध्यात्मपरक व्याख्या हमें कुछ खींचतान सी ही लगती है, यद्यपि गौणरूप से उसकी प्रतीयमानता भी सर्वथा असम्भव नहीं।

इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में मेघदूत मुख्य रूप से कालिदास की साहित्यिक विधाओं का निरूपक है, और इसके बाद कालिदास की उस सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक जो कि मानव मन की गहराइयों तक पैठकर उसके रहस्यों

१. तथा च 'विक्रम–कालिदास अंक' पृ० १७–२६ (मेघदूत का एक अध्ययनः शिव का स्वरूप)।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



का उद्घाटन करने का सामर्थ्य रखती है, और अन्त में प्रतीक रूप मानव जीवन के द्वन्द्वों का संकेतक भी। अतः प्रस्तुत अध्ययन में मेघदूत के अन्य सम्भाव्य पक्षों को छोड़कर इन्हीं तीन रूपों का निरूपण करने का प्रयास किया गया है।

## कालिदास के नवीन प्रयोग

मैं तो समझता हूँ कि मेघदूत की रचना भारतीय काव्य साहित्य के इतिहास में एक ऐसी क्रान्तिकारी घटना है जिसने कि उसे एक जबरदस्त नया मोड़ दिया, नई विधाएँ दी और नया विधान दिया। कहते हैं प्रतिभाएँ पुरानी लीक की दास नहीं होतीं—लीक छोड़ तीनों चलें शायर, सिंह, सपूत—वे सर्वत्र ही अपने लिए नये क्षेत्रों, नये मार्गों का चुनाव कर लेती है। कालिदास ने भी मेघदूत में पुरानत परम्परा से हटकर अनेक नूतन परीक्षण किये, नये मार्ग अपनाये, दूसरा कोई कवि सम्भवतः ऐसा करने का साहस न कर पाता और करता भी तो उसे कितनी सफलता मिलती, कह नहीं सकते। पर इस सरस्वती के वरद पुत्र ने जिस ओर भी चरण उठाया सफलता ने इसकी प्रतिभा के सामने मस्तक ही झुकाया। परीक्षण ही आदर्श बन गये और आने वाले युगों में लोग भूल गये कि ये महाकवि के प्रथम साहसिक प्रयोग थे।

(१) **काव्य-शैली :** प्रसंग को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ पर दो तीन रूपों का संकेत करेंगे। सर्वप्रथम यह तो सर्वविदित है ही कि 'दूतकाव्यों' की इसी दीर्घ परम्परा में 'मेघदूत' ही सर्वप्रथम दूतकाव्य है।[१] मेघ को दूत बनाकर भेजने की प्रेरणा कालिदास को चाहे जहाँ से भी मिली हो[२] किन्तु इसे काव्य का रूप देने का श्रेय केवल कालिदास को ही है। चीनी कवि सिङकाङ् (Hsin Kan) (२०० ई०) के मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना ने कालिदास को भी ऐसा करने की प्रेरणा दी होगी[३] यह दूर की खींचातानी उन्हें भले ही सन्तोष दे सके जिन्हें कालिदास की अलौकिक प्रतिभा एवं कल्पना शक्ति पर विश्वास न हो, किन्तु हमें तो यह अनावश्यक भ्रम ही लगता है।

---

१. दूत काव्यों की परम्परा के लिए देखिए श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती का लेख इ० हि० क्वा० iii पृ० २७३–२९७।

२. यथा मल्लिनाथ ने रामायण में हनुमान् के द्वारा सीता के प्रति राम द्वारा भेजे गये सन्देश को इसका प्रेरणास्रोत माना है।

३. हरिनाथडे राजेन्द्रनाथ विद्याभूषण कृत 'कालिदास' के प्राक्कथन में।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अस्तु, महाकवि का यह प्रथम परीक्षण इतना सफल तथा लोकप्रिय हुआ कि इस दिशा में अनेकों ही लेखनियाँ उठ पड़ीं, दूतकाव्यों अथच संदेशकाव्यों की परम्परा ही चल पड़ी, यहाँ तक कि जैन और बौद्ध लेखक भी इसके आकर्षण में खिचे चले आये। 'पवन', 'हंस', 'कोकिल', 'चक्रवाक', 'नेमि', 'शील', 'उद्धव' आदि सभी का दौत्य के लिए उपयोग किया गया, पर आज तक कोई भी इसकी समता को प्राप्त नहीं हो सका।

न केवल दूतकाव्य दृष्टि से अपितु 'गीतिकाव्य' की दृष्टि से भी यह संस्कृत-साहित्य की अपूर्व रचना है। इससे पूर्व कहीं भी लौकिक साहित्य में गीतिकाव्य का व्यवस्थित रूप देखने को नहीं मिलता। कालिदास की **'नवनवोन्मेषशालिनी'** प्रतिभा ने महाकाव्यों के अगाध सरोवरों के किनारे पर ही एक ऐसे निर्मल जल का स्रोत प्रवाहित कर दिया जिसकी कलकल ध्वनि बरबस ही सहृदयों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इस काव्य की रचना द्वारा कालिदास ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की उसके अनुयायियों की परम्परा आज भी जीवित है और पूर्व से पश्चिम तक फैल चुकी है। इसी से प्रभावित होकर जर्मन कवि 'शिलर' ने अपने 'मेरिआस्टुअर्ट' 'नामक नाट्य-काव्य में बन्दीगृह में पड़ी स्काटलैण्ड की रानी से मेघदूत की शैली पर ही मेघ को दूत बनाकर उसके द्वारा स्वदेश को संदेश भिजवाने की योजना की है।

(२) रस : इसी प्रकार काव्य में 'शृङ्गार' को महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठापित करने का श्रेय भी कालिदास को और उनके मेघदूत को ही है। इनसे पूर्व आदि कवि वाल्मीकि द्वारा 'करुण' को तथा महर्षि व्यास द्वारा 'शान्त' रस को काव्य का प्रधान रस बनने का गौरव प्राप्त हो चुका था, किन्तु अभी तक शृङ्गार कहीं भी प्रमुख रस का स्थान नहीं पा सका था। जहाँ कहीं उसे अवसर मिला भी वहाँ वह गौण रूप में किसी अन्य रस का अङ्ग बनकर ही सामने आया अङ्गी बनकर नहीं। यह कालिदास का ही साहसिक प्रयोग था कि उन्होंने सर्वप्रथम मेघदूत में इसे काव्य के प्रमुख रस का स्थान ग्रहण करने का अवसर दिया और अन्त में इसे रसराज की पदवी तक पहुँचा दिया। कालिदास के शृङ्गार पर पृथक् रूप से अन्यत्र विचार किया है अतः यहाँ विस्तार में न जाकर इतना ही संकेत करेंगे कि इस शृङ्गार परम्परा का श्रीगणेश भी कालिदास के इसी काव्य से हुआ। यद्यपि बाद में शृङ्गार की वह मर्यादित परम्परा स्थिर न रह सकी जिसका कि उसने प्रारम्भ किया था

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



किन्तु शृङ्गार को काव्यक्षेत्र में लाने तथा उसे लोकप्रिय बनाने का कार्य सर्वप्रथम यहीं से प्रारम्भ हुआ इसमें दो मत नहीं हो सकते।

(३) छन्द : 'मेघदूत' को इतना अधिक लोकप्रिय बनाने में इसमें प्रयुक्त छन्द 'मन्दाक्रान्ता' का भी कम योगदान नहीं। 'मन्दाक्रान्ता' की झूमती हुई चाल श्रोताओं के हृदयों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। पर स्मरण रहे कि कालिदास से पूर्व किसी भी कवि ने 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में काव्य-रचना नहीं की थी। यद्यपि हरिषेणकृत प्रयोग शिलास्तम्भ की प्रशस्ति में एक स्थान पर इस छन्द का उपयोग हुआ है किन्तु इसे काव्य में प्रयोग करने तथा लोकप्रिय बनाने का श्रेय कालिदास तथा उनके मेघदूत को ही है। यह भी कालिदास का एक प्रायोगिक कार्य था जो कि भविष्य में करुण और विप्रलम्भ की रचना के लिए आदर्श बन गया—**"प्रावृट्-प्रवास-व्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते।"** और इस प्रयोग में उन्हें जो सफलता मिली उसका गुणगान क्षेमेन्द्र ने यों किया है—

**सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।**
**सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥**

(४) प्रकृति-चित्रण : इस रचना में कालिदास का एक और नया प्रयोग है प्रकृति का सचेतन चित्रण। यद्यपि 'रामायण' तथा 'महाभारत' में भी प्रकृति-चित्रण पर्याप्त मात्रा में हुआ है किन्तु सचेतन मानव के समान ही प्रकृति को भी संवेदनशील चित्रित करने की कल्पना कालिदास से पूर्व किसी कवि में नहीं मिलती। ऋतुसंहार या मेघदूत में ही कालिदास ने सर्वप्रथम ऐसा प्रयोग किया जिसका चरम विकास उनके विश्वविश्रुत नाटक शाकुन्तल[1] में हुआ है।

मेघदूत' में हम देखते है कि कालिदास का यह मेघ केवल **'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः'** ही नहीं अपितु एक सचेतन प्राणी की भाँति हमारे सम्मुख आता है। वह इन्द्र का 'कामरूप पुरुष' है। यक्ष उसे बराबर 'सखे!' 'सुभग!' 'सौम्य!' 'साधो!' 'आयुष्मन्!' आदि पदों से सम्बोधित करता है। उसे 'कोमलहृदय' तथा 'उदार' कहा गया है। वह चेतन की ही भाँति देश-काल का दास है अन्यथा आकाशगामी को पर्वतों का व्यवधान कैसा! **(उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे! मत्प्रियार्थं यियासोः कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते—मेघ १ २२)** एक श्रद्धालु भक्त की भाँति ही वह देवगिरि पर स्वामी कार्ति-

---

१. पद्यसंख्या साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित मेघदूत (१९५७) के अनुसार दी गयी है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



केय और उज्जयिनी में 'महाकाल' की आराधना करता है। कैलास में जाकर तो वह भगवान् शंकर और पार्वती के मणितट पर चढ़ने के लिए अपने को ही सीढ़ियों के रूप में परिवर्तित कर उनके चरणों के नीचे लोट जाता है। वस्तुतः 'कवि का मेघ चैतन्ययुक्त है, अत एव उसमें मन-बुद्धि की कल्पनाएँ भी हैं, जिनके द्वारा वह अमरकण्टक और कैलास के भेद को जानकर अपने अध्यात्म की सिद्धि भी करता है। वह निर्विन्ध्या के साथ तो विलास करता है, परन्तु सरस्वती के जल का पान करके अन्तःकरण को शुद्ध करता है (१/४९)। चेतन प्राणी ही इस प्रकार का विवेक रखते हुए स्वर्ग और संसार दोनों को सिद्धि कर सकते है।"[1]

इतना ही नहीं पर्वत रामगिरि चिरकाल के बाद अपने मित्र मेघ से मिलने पर स्नेह के गरम गरम आँसू बहाता है (**काले काले भवति भवतो यस्य संयोग-मेत्य, स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम्** ॥१/१२) तो नदियाँ वियोग-विधुरा पतिव्रता गृहिणियों की भाँति तनक्षीण और मन मलीन हो गयीं हैं—

**वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः**
**पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः** ॥
**सौभाग्यं ते सुभग ! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती**
**काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः** ॥ (मेघ० २९)

(—"उस नदी की पतली जलधारा एक वेणी के समान बन गयी होगी, किनारे पर उगे हुए वृक्षों से गिरे हुए पुराने पत्रों से जो पीली पीली पड़ गयी होगी तथा जो अपनी इस विरह दशा से प्रवास में गये हुए तुम्हारे सौभाग्य को व्यक्त कर रही होगी उसकी दुर्बलता, हे सुभग ! जैसे भी हो दूर करने का प्रयत्न करना।")

प्रकृति के मानवीकरण की यह भावना मेघदूत में अनेक स्थलों पर अनेक रूपों में उभरी है। कहीं 'सूर्य प्रातः काल ही आकर अपनी खण्डिता प्रियतमा नलिनी के आँसू पोंछता हैं' (**तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानाम्**०—मेघ० ३९) तो कहीं प्रियतम की भाँति शिप्रावात कामिनियों के रतिखिन्न अंगों को सुखद स्पर्श देता है (**यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः, शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः** मेघ० ३१।) इसी प्रकार यक्ष की करुण दशा

---

१. डॉ० वा० श० अग्रवाल, मेघदूत–भूमिका पृ० ६७।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को देखकर प्रकृति उसके प्रति अत्यन्त संवेदनशील हो उठी है। 'स्वप्न में प्रियतमा का दर्शन होने पर यक्ष उसका आलिंगन करने के लिए शून्य गगन में अपनी भुजाएँ फैलाता है। उसकी इस दशा को देखकर वनदेवताओं की आँखों से मोतियों के समान बड़ी-बड़ी आँसुओं की बूँदें वृक्षों के पत्तों पर आ टपकती हैं' :

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—
लब्धायास्ते कथम पिमया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां—
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ (मेघ० १०३)

वस्तुतः कालिदास ने प्रकृति को जिस चेतन रूप में देखा है वह प्रकृति के उपासक विश्व के अन्य किसी कवि में नहीं मिल सकता। संस्कृत-साहित्य में भी कालिदास के उपरान्त भवभूति ही एक ऐसे व्यक्ति निकले जो किसी सीमा तक इसका सफल अनुकरण कर सके। पर कालिदास की प्रकृति के विविध रूपों का अभाव वहाँ भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघदूत कालिदास के नये प्रयोगों का परीक्षा-स्थल है। काव्यशैली, रस, छन्द, प्रकृतिवर्णन आदि के जो नवीन प्रयोग महाकवि ने यहाँ किये वे इतने सफल तथा लोक-प्रिय हुए कि उन्होंने अपने उत्तरवर्ती काव्य का सैकड़ों वर्षों तक मार्ग प्रदर्शन किया और करते जा रहे हैं। यही तो वह मूल रहस्य है जिसने मेघदूत को इतना लोकप्रिय तथा कालिदास को विश्ववन्द्य बनाया है।

## मेघदूतः कालिदास की काव्यगत विशेषताओं का प्रतिनिधि

उपर्युक्त विवेचन से हमारा यह अभिप्राय नहीं कि मेघदूत समस्त महत्त्व उसके नवीन प्रयोगों पर ही है। यह तो उसका एक पक्ष भर है— इसका वास्तविक महत्त्व तो अवलम्बित है कालिदास की अलौकिक काव्य-प्रतिभा पर, प्रसादमधुरा वाणी पर। वस्तुतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त ही है कि केवल मेघदूत की रचना करने पर भी कालिदास को विश्व के महाकवियों की उच्च श्रेणी में स्थान मिल जाता क्योंकि उनका यह लघुकाय काव्य ही उनके उन समस्त विशिष्ट गुणों का प्रतिनिधित्व करता है जिनके कारण कि उन्हें विश्वकवि माना जाता है।

कालिदास के काव्य की प्रशस्ति में भारतीय आलोचकों द्वारा उसके भिन्न अङ्गों के विषय में जो कुछ कहा गया है वह इस प्रकार है—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



(१) **भाषा** : साहित्यालोचकों ने कालिदास की भाषा को, दोषरहित, गुणों से परिपूर्ण तथा आह्लादकारक कहा है—

**अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।**
**प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासदपरस्य वाणी ॥**

(२) **शैली** : शैली की दृष्टि से उन्हें वैदर्भी रीति में परम सिद्धहस्त माना गया है । दण्डी ने तो उन्हें वैदर्भी रीति के सर्वप्रथम सफल प्रयोक्ता होने का सम्मान प्रदान किया है :

**लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः ।**
**तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥**

इसके अतिरिक्त अन्य आलोचकों ने भी कालिदास की वैदर्भी रीति की बड़ी प्रशंसा की है—**"वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते ।"**

(३) **रस** : रस की दृष्टि से कालिदास के शृङ्गार की बड़ी प्रशंसा की गयी है । यद्यपि उन्होंने अन्य रसों का भी सफल प्रयोग किया है[1] किन्तु आलोचकों के अनुसार उनके काव्य में शृङ्गार ही सर्वोपरि है । कविवर राजशेखर ने उसकी प्रशंसा में निम्नलिखित शब्द कहे हैं—

**एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।**
**शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥**

(४) **अलंकार** : यद्यपि कालिदास ने सभी अलंकारों का सुरुचिपूर्ण तथा सफल प्रयोग किया है किन्तु प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी आलोचकों ने उनकी 'उपमा' की एक स्वर से प्रशंसा की है यथा—

**उपमा कालिदासस्य**

(५) **छन्द** : अपने काव्यों के छन्दोविधान में भी कालिदास ने यद्यपि पूरी तरह भारतीय छन्दोविधानपरम्परा का पालन किया है किन्तु उन सबमें आलोचकों ने कालिदास के 'मन्दाक्रान्ता' की सर्वाधिक स्तुति की है । कारण कि सर्वप्रथम उन्होंने ही इस छन्द का काव्य में सफल प्रयोग किया था । इस पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं ।

(६) **सूक्ति-सौन्दर्य** : कालिदास की उक्तियों में जो सौन्दर्य और माधुर्य निहित है उस पर महाकवि बाणभट्ट की निम्नोक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

---

१. दे० करण पर लेखक का लेख 'कालिदास की करुणा' का. हिं. वि. पत्रिका प्रज्ञा.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥

(कालिदास की आम्रमञ्जरी के समान सरस मधुर उक्तियों को सुनकर किसे आनन्द का उद्रेक नहीं होता ?)

**अनामिका सार्थवती बभूव**

इसके अतिरिक्त स्वयं कालिदास के विषय में कहा जाता है कि प्राचीन काल में कवियों की गिनती का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम सर्वप्रथम कन्नी अंगुली पर रखा गया किन्तु उसके बाद कालिदास के समकक्ष और किसी कवि के न मिलने से दूसरी अंगुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं, इसलिए उसका नाम अनामिका रख दिया। आज भी कालिदास के समकक्ष कोई कवि न मिल सकने के कारण उस अंगुली का नाम अनामिका पूर्णतः सार्थक हो रहा है :—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

अब कालिदास की अन्य रचनाओं से निरपेक्ष होकर हम देखें कि मेघदूत पर ये प्रशस्तियाँ कितने अंशों में तथ्य उतरती हैं तथा क्या एकमात्र मेघदूत भी कवि के उज्ज्वल यश के प्रसार के लिए पर्याप्त था ?

सर्वप्रथम 'अनामिका सार्थवती बभूव' वाली उक्ति को ही लीजिए कि क्या वह मेघदूत की रचना पर ठीक उतरती है ? आज उपलब्ध और अनुपलब्ध संदेशकाव्यों की संख्या १५० से भी ऊपर मानी जाती है किन्तु जब उनकी श्रेष्ठता की गणना का प्रसंग आता है तो क्या 'मेघदूत' को छोड़कर कोई अन्य रचना उसकी समकक्षता को प्राप्त हो सकती है ? मेघदूत आज भी 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' है और भविष्य में भी रहेगा। और कुछ न लिखने पर भी केवल मेघदूत ही 'अनामिका' को सार्थक करता इसमें कोई भी सन्देह नहीं।

**भाषागत वैशिष्ट्य**

भाषा की दृष्टि से भी 'मेघदूत' में कालिदास की भाषा की वे समस्त विशेषताएँ मिलती हैं जिनका कि ऊपर संकीर्तन किया गया है तथा जिनका विस्तार उनकी अन्य रचनाओं में पाया जाता है। इसके प्रत्येक पद से भाषा का लालित्य प्रवाहित होता है। शब्दों के पारखी कवि ने अपने इस काव्य के लिए विशेष रूप से शब्दों का चयन किया है और फिर उन्हें परस्पर इस

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रकार गूँथा है कि उनका सौन्दर्य बरबस श्रोता के हृदय में एक गुदगुदी सी पैदा कर देता है। कहीं कोमल कान्त पदावली की ललित छटा है तो कहीं नादात्मक शब्दों की मधुर निर्झरिणी। शब्द-माधुर्य का एक रूप है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः। (मेघ० ६)

और नादात्मक सौन्दर्य की छटा है—

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां।
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्॥ (मेघ० ५०)

इसी प्रकार—

दीर्घीकुर्वन् पटु-मदकलं कूजितं सारसानां।
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः॥ (मेघ० ३१)

जैसे अनेकों पद अपने माधुर्य से काव्य सौन्दर्य पर चार चाँद लगा देते हैं। मेघदूत में आदि से अन्त तक सर्वत्र ही भावानुकूल कोमल कान्त पदावली का प्रयोग किया गया है। सर्वत्र भाषा का सौष्ठव एवं प्रवाह दर्शनीय है। प्रत्येक पद्य का एक-एक शब्द इस प्रकार चुनकर रखा गया है कि उसे आगे पीछे नहीं किया जा सकता। वृत्त की अंगूठी में शब्द-रत्नों की भाँति बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से जड़ दिये गये हैं। जहाँ उन्होंने भाषा के लालित्य का ध्यान रखा है वहाँ उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है। उनका एक एक शब्द उनकी व्यञ्जना शक्ति का भाष्य करता चलता है। 'सीता' और जनकतनया पर्यायवाची शब्द होते हुए भी 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' में कालिदास ने इस 'जनक' शब्द से सम्बन्धित जिस त्याग, तपस्या और तपोवन की त्रिवेणी का अध्याहार किया है वह सीता से कभी भी सम्भव नहीं हो सकता था। इसी प्रकार 'भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे! विद्धि मामम्बुवाहं' (मेघ० ९६) में कवि ने 'भर्तुर्मित्रं' 'अविधवे' और 'अम्बुवाहं' शब्दों में जो कुछ कह दिया है वह एक और सम्पूर्ण मेघसन्देश की सामग्री है।

**(१) शब्द प्रयोग का कौशल**

कालिदास के शब्द प्रयोग के प्रसंग में हम यहाँ उनके एक और शब्द पर विचार करेंगे। इससे स्पष्ट हो जायेगा कि वे पर्यायवाची होते हुए भी प्रत्येक शब्द की अर्थव्यञ्जना का कितना सूक्ष्म विचार रखते थे। सम्पूर्ण मेघदूत में बादल के लिए उन्होंने जिन-जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे हैं—मेघ, घन, जीमूत, जलद, पयोद, जलधर, और अम्बुवाह। और मेघ के लिए जिन सम्बो-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



धनों का प्रयोग हुआ है वे हैं—सखा, सुभग, कामचारिन्, साधु, सौम्य और आयुष्मन् । अब इन शब्दों का प्रसंगानुकूल विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि कालिदास ने उन-उन स्थानों पर इनका प्रयोग केवल 'मेघ' अर्थ बतलाने के लिये नहीं वरन् विशेष-विशेष अभिप्राय वा अर्थ को ध्यान में रखकर किया है । उस विशेष शब्द को उसके स्थान से हटाकर अन्य पर्यायवाची शब्द रख देने से उसका वह सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है ।

सर्वप्रथम मेघदूत के प्रारम्भ में ही कवि **'आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं'** (मेघ० २) तथा **'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः'** (मेघ० ३) में उसे **'मेघ'** कहता है । महर्षि यास्क मेघ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं— **मेघः कस्मातमेहतीति'** अर्थात् इसे मेघ इसलिए कहा जाता है कि यह बरसता है । अब यदि हम प्रकरणगत अर्थ पर ध्यान दें तो देखेंगे कि यहाँ केवल मेघ शब्द से ही अर्थ की ठीक-ठीक संगति बैठ सकती है । अर्थात् बरसने के लिए तत्पर काले-काले उमड़ते हुए मेघ को देखकर ही तो प्रिया के पास में रहने वाले सुखी जन का हृदय **'अन्यथावृत्ति'** हो सकता है सर्वसाधारण बादल को देखकर नहीं । इसके बाद दूसरी बार मेघ शब्द का प्रयोग उन्होंने **'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः (मेघ १/५)'** में किया है । यहाँ पर कवि ने मेहन करने वाले के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया है। कारण कि वैज्ञानिक मेघ तो वस्तुतः इन्हीं उपकरणों से बनता है और जब तक उसमें ये समस्त उपकरण—धुआँ, प्रकाश, जल और वायु—समुचित अनुपात में रहते हैं तब तक वह **मेघ** है । यक्ष ने आषाढ़ के प्रथम दिन पहाड़ की चोटी पर जिस 'मेघ' को देखा था वह यही मेघ था । यह 'मेघ' किसी के मन में विकार तो पैदा कर सकता है पर इससे अधिक कुछ नहीं, प्रियजन से दूर पड़े हुए यक्ष का काम इससे नहीं चल सकता । इसलिए वह अपनी प्रिया के 'प्राणों को सहारा देने के लिए' अपना कुशल वृत्तान्त **जीमूत** के द्वारा भेजेगा— **जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्** (मेघ० ४) क्योंकि उस दुखिया के प्राणों को सहारा देने का काम तो **जीमूत (जीवनं मुञ्चतीति)** ही कर सकता है मेघ नहीं । इसलिए यक्ष ने उस वैज्ञानिक मेघ को यहीं नमस्कार कर दिया और फिर समस्त मेघदूत में हमें उसके कहीं भी दर्शन नहीं होते ।

इसके बाद संतप्तों का जिक्र आया **(संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः —(मेघ० ७)** तो वह **'पयोद' (पयः ददातीति)** बन गया । **पय** से ही **ताप** मिट सकता था । इसके उपरान्त अमरकण्टक से कैलास तक उसे जड़

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



चेतन के मंगल के लिए जल बरसाना था अतः सम्बोधन हुआ **'जलद'** (**सन्देशं मे तदनु जलद !**—**मेघ १/१३**) और इसी पद्य में इस जल देने की बात को और भी स्पष्ट कर दिया—**क्षीणः क्षीणः परिलघुपयः स्रोतसां चोपभुज्य** (**मेघ० १३**) कहकर। इस **'प्रयाणानुरूप'** मार्ग में कहाँ-कहाँ किस-किस को कितना-कितना जल देना है यह उसे भली-भाँति समझा दिया गया है आगे चलकर। उत्तर मेघ में यह शब्द एक बार फिर आया है— **तस्मिन् काले जलद ! यदि सा लब्ध निद्रासुखास्यात्०** (**मेघ० ९४**) और इसका भाष्य किया गया है इससे अगले ही श्लोक में—**तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन०** (**मेघ० ९५**) के द्वारा। पूर्व श्लोक में यक्षिणी की जिस निद्रागत सुरतजनित अंग-खेद की ध्वनि व्यंजित होती है उसका उपचार करने के लिए जलकणों से संपृक्त शीतल वायु की आवश्यकता है। **जलद** से ही तो जलकण तथा वायु की शीतलता सुलभ हो सकती है। अतः कवि ने उसे 'जलधर' या 'घन' आदि न कह कर **जलद** कहा है। इस शब्द का अन्तिम प्रयोग मेघदूत के अन्तिम पद में किया गया है **'इष्टान् देशान् विचर जलद ! प्रावृषा संभृत श्रीः'** (**मेघ० १११**) यहाँ भी वर्षाकालीन मेघ की संसार को किस रूप में आवश्यकता है यह स्पष्ट ही है। या यों कह सकते हैं कि 'कामार्त' यक्ष के हृदय का इस विरह से इतना विस्तार हो गया है कि वह स्वार्थसिद्धि तक ही सीमित नहीं, वह मेघ के द्वारा अलका में संदेश पहुँचवाने के उपरान्त उसके विश्व-जनीन उपयोग की ओर संकेत करके उसे इस विषय में सावधान कर देना चाहता है। क्योंकि उसके जलदान से ही तो इस धरा पर वर्षाकाल का सौन्दर्य विकसित होगा और ग्रीष्म से संतप्त जड़ चेतन को शान्ति और आनन्द प्राप्त होगा।

इसके बाद प्रसंग आता है 'घन' शब्द का। इसका प्रयोग केवल एक बार हुआ है और वह है—**'अन्तःसारं घन ! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वाम्०'** (**मेघ० २०**) यहाँ क्योंकि **अन्तःसार** (भीतर से ठोस) की बात कहनी है अतः **घन** (**संहननात् घनः**) शब्द ही उस परिपूर्णता के भाव को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है और कोई नहीं। जल को अपने अन्दर भरे रखने का भाव मेघ के और किसी पर्यायवाची शब्द में नहीं मिलता। और कोई भी शब्द इस प्रकार **'रिक्तः सर्वोभवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय'** (**मेघ० २०**) के भाव को व्यञ्जित नहीं कर सकता था। क्योंकि मेघ, जलद, पयोद, वारिद आदि सभी में 'रिक्त' होने का ही भाव है 'पूर्णता' का नहीं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



मेघ वननदियों के किनारों पर लगे जूही के उद्यानों को सींचता हुआ महाकाल के मन्दिर में जा पहुँचा है। वहाँ कवि का आदेश है कि वह 'संन्ध्या-कालीन आरती के समय नगाड़े जैसी मधुर ध्वनि करते हुए धीर गम्भीर गर्जन करे (**कुर्वन् संध्या०—मेघ० ३४**)। इसलिए यहाँ पर उसे 'जलधर' (जल को धारण करने वाला) कहा गया है (**अप्यन्यस्मिन् जलधर ! महाकालमासाद्य काले०—मेघ० ३४**)। प्रसंगानुकूल इससे सुन्दर शब्द नहीं मिल सकता यह स्पष्ट ही है।

और अन्त में यक्ष के संदेश को लेकर वह उसकी प्रेयसी के पास जा पहुँचा है, अब संदेश कहने की बारी है। इससे पूर्व उसे अपना परिचय देना है—**भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे ! विद्धि मामम्बुवाहम्० (मेघ० ९६)** (हे सुहागिनी ! तू मुझ 'अम्बुवाह' को अपने भर्ता का प्रिय मित्र समझ)। 'भर्तुर्मित्र' और 'अविधवे' में महाकवि ने जो अद्‌भुत व्यञ्जना की है उस पर अन्यत्र विचार किया गया है अतः यहाँ 'अम्बुवाह' शब्द पर ही प्रकाश डाला जायेगा। स्पष्ट है कि यहाँ पर मेघ ने संदेशवाहक के रूप में ही अपना परिचय देना है अतः उसका वही नाम आना चाहिए जिसमें कि 'वहन' करने का भाव व्यञ्जित हो। वह चाहे 'वारिवाह' हो या 'अम्बुवाह', केवल 'वह्' धातु ही अभिलषित अर्थ को व्यञ्जित कर सकता है 'दा' (जलदादि) या 'धृ' (जलधरादि) नहीं।

अब लगे हाथ यदि मेघ के लिए प्रयुक्त सम्बोधनों पर थोड़ा विचार कर लिया जाय तो अनुचित न होगा। कुमारसम्भव में हम देखते हैं कि कालिदास ने सख्य सम्बन्ध को अन्य सम्बन्धों से अधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार व्यक्ति अपनी प्रेयसी के स्नेह के विषय में अस्थिर हो सकता है पर मित्र के विषय में सदा अचल ही रहता है—(**दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने**। कुमार० ४/२८)। इसलिये जहाँ भी मेघ के द्वारा कार्य सम्पन्न कराने या स्नेह की अभिव्यक्ति का प्रश्न आया है वहाँ-वहाँ (मेघ०/२२, ४१, ६१—**यथा—उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे ! मत्प्रियार्थं यियासोः आदि**) सर्वत्र ही उसे 'सखा' सम्बोधन किया गया है। और जहाँ उसका सम्बन्ध मुख्यतः यक्ष की कार्य-सिद्धि से है वहाँ **'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'** के अनुसार उसे 'साधो ! (**एभिः साधो ! हृदय निहितैः०—मेघ० ७७**) कह कर पुकारा गया है।

कालिदास की शब्द चातुरी तो देखिए कि आवश्यकता के अनुसार मेघ को मानव चरित्र के दो विपरीत छोरों पर लाकर बैठा देता है। एक ओर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तो 'प्रियतम की गोदी में बैठी हुई कामिनी की खिसकती हुई साड़ी के समान कैलास की गोदी में बसी हुई अलका से निकलती हुई गंगा' की बात बताते समय उसे **कामचारिन्** कहकर सम्बोधित करता है और दूसरी ओर विरह विधुरा 'भातृजाया' के दर्शन का प्रसङ्ग आते ही (**उत्सङ्गे वा मलिन वसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां—मेघ० ८३**) उसे सौम्य कहकर सम्बोधित करता है।

इसी प्रकार कवि ने मेघ के लिये तीन स्थानों पर 'सुभग' का प्रयोग किया है। एक स्थान पर केवल 'सुभग' शब्द है (**सौभाग्यं ते सुभग ! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती०—मेघ० २९**); दूसरे स्थान पर शब्द है **'नयन सुभग'** (**सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः—मेघ० ९**) और तीसरे स्थान पर है **'प्रकृति सुभग'** (**छायात्मापि प्रकृति सुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्— मेघ० ४०**)। इनमें से 'सुभग' का सम्बन्ध है 'निर्विन्ध्या' से, 'नयन सुभग' का सम्बन्ध है आषाढ़ के प्रथम मेघ से और 'प्रकृति सुभग' का है 'गम्भीरा' से। इन प्रकरणों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने उसे इन स्थलों पर इन विशिष्ट पदों से क्यों सम्बोधित किया है। 'निर्विन्ध्या' के प्रसंग में 'सुभग' का सम्बन्ध 'सौभाग्य' से है ही। भारत जैसे देश में आषाढ़ के प्रथम मेघ के 'नयन सुभगत्व' के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ ही होगा। और यदि पूछना ही हो तो पूछ लीजिए हाथ से अलकों को एक ओर करके उसकी ओर ताकने वाली पथिक वनिताओं से, भोली-भाली सिद्धाङ्गनाओं से, भ्रूविलासानभिज्ञ ग्राम वधुओं से, या चञ्चल चितवन वाली पौर वनिताओं से।

अब रह गया 'प्रकृति-सुभग' सो उसके बारे में भी सुन लीजिए। कारण है 'गम्भीरा' के निर्मल चित्त में स्थान पाने का। जैसा कि नाम से स्पष्ट है गम्भीरा है स्त्रीलिङ्ग और **'कन्या वरयते रूपम्'** की उक्ति के अनुसार स्त्री रीझती है रूप पर ही। अतः 'प्रकृति सुभग' के बिना चित्त में स्थान मिलना कठिन है। 'प्रकृति सुभग' को ही यह अवसर मिलता है। अतः कवि ने उसे 'सौम्य' 'साधु' या 'सखा' आदि कुछ न कह कर 'प्रकृति सुभग' कहा है, अब आप स्वयं ही निर्णय करलें कि कवि इस विशेष शब्द के द्वारा यहाँ क्या कुछ व्यञ्जना करना चाहता है।

इसी सिलेसिले में अन्त में एक और शब्द रह जाता है **आयुष्मन्**, यह शब्द केवल एक बार उत्तरमेघ में सन्देश कथन के प्रारम्भ में आया है। श्लोक इस प्रकार है—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तामायुष्मन् ! मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूयोदेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।
अव्यापन्नः कुशलमबले ! पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभ विपदां प्राणिनामेतदेव ॥ (मेघ० ९८)

यहाँ प्रकरण से स्पष्ट है कि मेघ दोनों के जीवन का संबल बन गया है। एक ओर यक्ष के जीवन का कुशल समाचार कहना है तो दूसरी ओर यक्ष पत्नी के जीवन की कुशल पूछनी है। दोनों ओर 'आयु' से ही सम्बन्ध है और आयु का यह प्रश्न सुलझ रहा है इस मेघ के द्वारा ही। अतः यहाँ पर उसे 'आयुष्मन्' कहना कितना सार्थक तथा साभिप्राय है इसे बतलाने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं।

यह है कुछ थोड़ा सा नमूना कालिदास की भाषा अथवा उसके शब्द प्रयोग का। अकेले मेघदूत के शब्दों पर यदि विचार किया जाय तो एक पृथक् पुस्तक ही बन जायेगी। शब्दों की यह बारीकी, यह अर्थव्यञ्जकता भला कालिदास को छोड़कर और कहाँ मिलेगी। इसीलिए तो सहृदय आलोचक ने कहा—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कमालीव विमर्दहृह्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

(२) ध्वन्यात्मकता

ठीक ही है–'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। जिस भाव गाम्भीर्य तथा अर्थ व्यञ्जना के दर्शन हमें आगे चलकर उनकी प्रौढ़ रचनाओं में होते हैं उसका पूर्व रूप हमें मेघदूत में ही दिखाई देने लगता है। मेघदूत का प्रथम पद्य ही उनकी वाणी की विशिष्टता का दर्शन कराने लगता है। श्लोक की पंक्तियाँ हैं—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ (मेघ०१)

यहां सर्वप्रथम कश्चित् पद में कवि ने किसी व्यक्ति विशेष का निदर्शन न कर केवल 'अस्तंगमित महिमा' कहकर उसे विश्वमानव बना दिया है। कोई भी विरहकातर प्रेमी उसका स्थानापन्न हो सकता है। दूसरे, कवि ने-कामप्रमादी यक्ष को ऐसे पावन स्थान पर ला छोड़ा है जहां का पावन वातावरण

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वरण ही उसके कामासक्त मन को पूत एवं निर्मल कर सकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भला 'जनकतनया के स्नान से पवित्र जलों वाले आश्रम' से अधिक उपयुक्त स्थान और क्या हो सकता था। सीता जो कि स्वयं ही अपनी पावनता के लिए विश्वविख्यात है और फिर है जनक जैसे तत्वज्ञानी विदेह की तनया! सो इस शरीरिणी पावनता के संसर्ग से कोई भी जड़-चेतन पदार्थ पावनता से संयुक्त हो ही जायेगा। रामगिरि की पुष्करिणियों को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है फिर उनके सम्पर्क में आने वाला यक्ष भला कैसे पावन हुए बिना रह सकता है? इसके अतिरिक्त हमें यह भी न भूलना चाहिए कि इस पर्वत का नाम है—**रामगिरि,** अर्थात् यह वह पावन क्षेत्र है जहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम ने जगत्पावनी जानकी जी के साथ आदर्श दाम्पत्य-जीवन बिताया था। इसलिए सभी दृष्टियों से वहाँ की भूमि का कण-कण पावनतामय बन चुका है। वासनात्मक प्रेम में निमग्न व्यक्ति को कालापानी देने का इससे अधिक उचित स्थान और मिलेगा ही कहाँ?

समय का फेर कहिए या कवि का विधान कि इन हरे-भरे लहलहाते वृक्षों की घनी छाया में कभी राम और जानकी ने सुखद दाम्पत्य-जीवन के अवि-स्मरणीय क्षण बिताये थे और आज उसी स्थान पर बेचारे यक्ष को अपनी कान्ता से विरहित हो कर एकाकी, कातर जीवन बिताना पड़ रहा है। फिर भला वह एक स्थान पर सुख से कैसे बैठ सकता था। वे घनी छाया वाले वृक्ष तथा शीतल जल वाली पुष्करिणियाँ उसे शारीरिक शान्ति तो दे सकती थीं पर मानसिक शान्ति नहीं। अतः मानसिक शान्ति के लिए वह एक आश्रम से दूसरे आश्रम में भटकता फिरता है इसका संकेत दिया है कवि ने **आश्रमेषु** में बहुवचन का प्रयोग करके।

संस्कृत आचार्यों ने काव्य का उत्तम, मध्यम और अधमादि रूपों में विभाजन करते हुए व्यङ्ग्यार्थ प्रधान काव्य को उत्तम काव्य कहा है। वस्तुतः ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ ही किसी काव्य को वह रमणीयार्थता प्रदान करता है जिसके लिए पंडितराज जगन्नाथ ने **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** कहा है। कालिदास के काव्यों में यह रमणीयार्थ प्रतिपादकता कूट कूट कर भरी हुई है। मेघदूत का कोई भी पद्य ले लीजिए उसी में न्यूनाधिक मात्रा में इसकी सत्ता मिलेगी ही, उदाहरणार्थ, गंगावर्णन से सम्बन्धित मेघदूत के निम्न पद्य को ही लीजिए :—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् ।
गौरीवक्त्र भ्रकुटिरचनां या विहस्यैव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ।। (मेघ०५०)

इस पद्य में कला पक्ष की दृष्टि से रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अलंकारों का सौन्दर्य तो है ही परन्तु इसमें कवि ने 'सगर पुत्रों को स्वर्ग तक पहुंचाने वाली सीढ़ी' तथा 'पार्वती की ईर्ष्या की परवाह न करके शंकर के केशों को पकड़ने' की बात कहकर ध्वनि रूप में गंगा जी की पवित्रता तथा महत्ता की जो व्यञ्जना की है वह भी कम रमणीय नहीं।

इसी प्रकार उत्तर मेघ का एक और पद्य लीजिये —

गत्वासद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपात हेतोः
क्रीड़ाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः ।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योताली विलसितनिभां विद्युदुन्मेष दृष्टिम् ।। (मेघ०७८)

(हे मेघ ! तुम शीघ्र ही नीचे उतरने के लिए अपने आप को हाथी के बच्चे के आकार का बनाकर ऊपर बताये हुये क्रीड़ा पर्वत की चोटी पर बैठ जाना, और फिर जुगनुओं की पंक्ति के समान लौकती हुई अपनी टिमटिमाती हुई बिजली रूपी दृष्टि को बार बार घर के भीतर डालना।)

ऊपरी दृष्टि से देखने पर इस पद्य में मेघ को दिये गये यक्ष के निदेश के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता किन्तु यहाँ कवि ने अपने इन शब्दों से जिस अर्थ की अभिव्यञ्जना की है वह बड़ी ही गम्भीर व रमणीय है।

बात यह है कि मेघ यक्ष के घर तक तो पहुंच जायेगा किन्तु उसकी पत्नी कैसे जानेगी कि यह मेघ उन सब मेघों से भिन्न है जो कि इस अलकापुरी में रोज आते ही रहते हैं। चमकना मेघों का स्वभाव ही है। अतः केवल चमकने भर से ही तो यह नहीं जाना जा सकता कि यह मेघ संदेश लेकर आया है या कुछ कहना चाहता है। इस वर्षाकाल में मेघों का आना या चमकना कोई नवीन घटना तो नहीं जिसके लिये यक्षपत्नी कौतूहलवश उसकी ओर उन्मुख हो उठे। इसलिये यक्ष ने उसे निदेश दिया कि वह बार बार मन्द मन्द स्फुरण करे (तीव्र इसलिये नहीं कि वह डर जायेगी) और तब तक करता रहे जब तक कि वह उसकी ओर उन्मुख न हो जाये। अर्थात् जब वह देखेगी कि बादल तो रोज आते थे और चमक कर चले जाते थे, किन्तु यह बादल तो जाने का नाम

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



ही नहीं लेता और निरन्तर ऐसे चमकता ही जा रहा है जैसे कि कुछ कहने का संकेत कर रहा हो तो वह अवश्य ही उसकी ओर आकृष्ट होगी। और हो न हो उसे प्रियतम का सन्देशवाहक समझने लगेगी। जैसे यदि घर के आंगन में कोई कागा एक दो बार बोले तो कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता, किन्तु जब वह लगातार बोलता ही चला जाय तो उसकी ओर ध्यान आकृष्ट हो जाता है और समझा जाता है कि वह किसी का सन्देशवाहक है। या कभी एकाध हिचकी आने पर उस पर कोई ध्यान नहीं देता किन्तु जब लगातार हिचकियाँ आती रहें और काफी देर तक बन्द न हों तो लोग भिन्न-भिन्न विश्वासों के अनुसार उसका 'स्मरण' आदि भाव लगाने लगते हैं। इसी प्रकार जब मेघ की चिलकन बन्द ही न होगी तो यक्षपत्नी भी आज उसे विशिष्ट मेघ समझ कर उसकी ओर आकृष्ट हुये बिना न रह सकेगी। यही है यहाँ कवि की व्यञ्जना का चमत्कार।

यों तो कितने ही पद्य इस प्रसंग में उपस्थित किये जा सकते हैं किन्तु स्थानाभाव से हम यहाँ केवल एक ही पद्य और उपस्थित कर सकेंगे। यह पद्य भी उत्तरमेघ का है। यक्ष अपनी पत्नी के नखशिख का वर्णन कर रहा है —

**तन्वीश्यामाशिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी**
**मध्ये-क्षामा चकित-हरिणी-प्रेक्षणा निम्ननाभिः।**
**क्षोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां**
**या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥** (मेघ०७९)

इस पद्य के पूर्वार्ध में यक्ष ने यक्षिणी के दाँत, आँख और नाभि के जो विशेषण दिये हैं उनसे यक्ष के सामुद्रिकशास्त्र तथा कामशास्त्र के ज्ञाता होने की व्यञ्जना के साथ साथ यक्षिणी के पद्मिनी होने की ध्वनि भी निकलती है और इससे उसके सौन्दर्य की अतिशयता और उस सौन्दर्य के प्रति यक्ष की प्रेमातिशयता, इस कारण दुःख की तीव्रता व दुःसहता आदि का परम्परा से ध्वनि प्रवाह चलता जाता है। तथा च उत्तरार्ध में वाच्योत्प्रेक्षाऽलङ्कार से उसके सौन्दर्य में पाये जाने वाले अद्वितीयत्व की ध्वनि, उससे व्यतिरेक अलंकार की ध्वनि, और इससे प्रतीयमान यक्ष के अपने सौभाग्यत्व की वस्तु ध्वनि तथा इससे होने वाले विषादादिसंचारिभावध्वनि आदि ध्वनि-परम्परा लक्षित होती है।

## शैलीगत वैशिष्ट्य

अब हम उनके भाषागत सौन्दर्य एवं भावव्यञ्जना पर अधिक विस्तार

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



में न जाकर संक्षेप में मेघदूत की शैली पर थोड़ा और प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे ।

**वैदर्भी** : वह तो हम पीछे कह ही चुके हैं कि कालिदास वैदर्भी शैली के सिद्धहस्त लेखक हैं । वैदर्भी शैली के प्रमुख गुण हैं —

**श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।**
**अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिः समाधयः ।। (वामन; काव्यालंकार)**

आचार्य दण्डी ने इनमें से श्लेष, समता, सुकुमारता और ओजस् को शब्द के आश्रित तथा प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता एवं समाधि को अर्थ के आश्रित तथा च माधुर्य को दोनों के आश्रित माना है । किन्तु भामह के बाद प्रायः सभी आचार्यों ने इन दश गुणों का माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीन गुणों में अन्तर्भाव कर लिया है ।

मेघदूत में माधुर्य और प्रसाद की जो फल्गुधारा प्रवाहित होती है उस पर हम पीछे कुछ प्रकाश डाल चुके हैं । मेघदूत की भाषा तथा भावों की सुकुमारता विश्वविश्रुत है । कोई भी पद ले लीजिये उसका लालित्य आपको मुग्ध किये विना न रह सकेगा । न भाषा का आडम्बर है न अलंकारों का बोझ । यही तो है न प्रसाद का प्रमुख लक्षण ? देखिये, कितने स्पष्ट, सरल तथा असमस्त शब्दों से उपस्थित कर दिया है विरह विधुरा यक्षपत्नी का विम्बग्राही चित्र ।

**उत्सङ्गे वा मलिन वसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां**
**मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।**
**तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्**
**भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।। (मेघ०८३)**

इस समस्त श्लोक में न कहीं दीर्घ समास है, न श्लेष है और न एक भी कठोर अक्षर । जितनी सुकुमार यक्षकान्ता होगी उससे भी अधिक सुकुमार है कालिदास के शब्द और उनसे भी अधिक सुकुमार है यह अर्थ । शब्दों के सुनते ही आँखों के सामने यक्ष पत्नी का वह कारुणिक चित्र खिंच सा जाता है और उसी के साथ हमारी आँखें भी गीली हो उठती हैं । यह है मेघदूत के प्रसाद एवं माधुर्य का एकत्र चमत्कार ।

और ओज की छटा देखनी हो तो देखिए इन पद्यों में :—

**तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा**
**बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।**

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारा सहस्रै—
रापन्नार्तिप्रशमनफलासंपदो ह्युत्तमानाम् ॥ (मेघ०५३)

इसमें सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा, उल्काक्षपितचमरीबालभारः और आपन्नार्तिप्रशमनफला' जैसे समस्त पद तथा 'स्कन्ध, संघट्ट, क्षपित, भार और आपन्नार्ति जैसे कठोर अक्षर संघ ओज के ही परिचायक हैं।

**समस्त शैली**

क्योंकि हमें कालिदास की शैली अथच वैदर्भी शैली पर पृथक् रूप से विचार करना है अतः हम यहाँ इस विषय को अधिक न बढ़ा कर उनकी शैली की कुछ अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालकर अन्य विषयों पर विचार करेंगे। जहाँ कालिदास अपनी सरल सुबोध एवं प्रसाद मधुर शैली के लिए विख्यात हैं वहीं कम से कम शब्दों द्वारा अधिक से अधिक बात कहने की व्यञ्जनात्मक शैली के भी वे आचार्य हैं। भारतीय साहित्याचार्यों ने इसे ही 'समस्त शैली' का नाम दिया है। यहाँ पर हम मेघदूत के उन दो पदों को उद्धृत करेंगे जिनमें से एक में तो कवि ने एक साथ मेघ और अलकापुरी के महलों की विशेषणात्मक तुलना की है तथा दूसरे में यक्ष तथा उसकी पत्नी की समान विरहदशाओं का वर्णन किया है। पद्य इस प्रकार हैं—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहृतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ (मेघ० ६४)

(—हे मेघ अलकापुरी के वे गगनचुम्बी भवन सभी प्रकार से तुम्हारी समता करने में समर्थ होंगे। यदि तुम्हारे पास चञ्चल चपला है तो उनमें बिजली सी दमकती हुई छबीली नारियाँ। यदि तुम सतरंगी इन्द्रधनुष से युक्त हो तो वे रंग बिरंगे चित्रों से अलंकृत। तुम्हारे पास मृदु गम्भीर गर्जन है तो उनमें संगीत के लिए मृदंग गमकते हैं। तुम्हारे पास चमकता हुआ निर्मल जल है तो उनमें मणियों से जड़े हुए चमकीले फर्श हैं। तुम आकाश तक उठे हुए हो तो उनमें भी गगनचुम्बी अट्टालिकायें हैं।)

और दूसरा पद्य है इस प्रकार—

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ (मेघ० ९९)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



(—यक्ष मेघ के द्वारा अपनी पत्नी से कहलवा रहा है:— तुमसे वियुक्त हुआ तुम्हारा वह सहचर अपने शरीर से मिलकर एक होना चाहता है किन्तु इस मिलन में वैरी विधाता के द्वारा रुकावट डाल दिये जाने के कारण वह अपने मानसिक संकल्पों द्वारा ही तुमसे एकाकार हुआ जा रहा है। वह अपने मन में सोचता है कि जैसे वह दुर्बल हो गया है वैसे ही तुम भी दुबली हो गई होगी। जैसे वह विरह से संतप्त है वैसे ही तुम भी विरह से तप रही होगी। जिस प्रकार वह लगातार आँसू बहाया करता है वैसे ही तुम में भी झर-झर आँसू बहाती होगी। जैसे उसके मन में तुमसे मिलने की व्याकुलता है तथा दिन रात गरम-गरम उसासें लिया करता है वैसे ही तुम भी उससे मिलने के लिए व्याकुल रहती होगी तथा दिन-रात लम्बी-लम्बी गरम आहें भरती होगी।

यहाँ कितने कम शब्दों में कितनी अधिक बात कितने सरल ढंग से कह डाली है इसे बतलाने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं।

**शृङ्गार की स्थापना तथा उसका साङ्गोपाङ्ग निरूपण**—इसके बाद अब हमें विचार करना है कालिदास के काव्यों की तीसरी विशेषता शृङ्गार पर। इस विषय पर हम पृथक् रूप से विस्तार से अन्यत्र विचार कर रहे हैं। अतः यहाँ उसका संकेत भर कर सकना संभव होगा। यों तो कालिदास में यत्र तत्र सभी रसों का वर्णन हुआ है किन्तु इनमें शृङ्गार-संभोग, और विप्रलम्भ-और करुण का जो सुन्दर रूप निखरा है वह अन्य रसों का नहीं। इनकी शृङ्गार-प्रियता के कारण ही जयदेव ने अपने आलोचना सूक्त में इन्हें 'कविता कामिनी का विलास' कहा है। कालिदास के शृङ्गार की विशेषता इसमें है कि एक तो वह साङ्गोपाङ्ग है तथा दूसरे वह सर्वथा मर्यादित है (यद्यपि भारतीय आलोचकों ने उसे कई स्थानों पर किसी अन्य दृष्टिकोण से अमर्यादित भी कहा है) मेघदूत में ही हमें उनके शृङ्गार के उन समस्त रूपों की झाँकी मिल जाती है जिनका कि आगे चलकर उनके काव्यों तथा नाटकों में विकास हुआ है।

'मेघदूत' में इस शृङ्गार के दो केन्द्र चित्रित किये गये हैं। एक है यक्ष दम्पति और दूसरा है मेघ तथा प्रकृति। इसमें यत्र तत्र शृङ्गार के ये दोनों रूप उभरे हैं। यक्ष दम्पती का संभोग शृङ्गार यहां दो रूपों में सामने आया है; एक तो स्मृतिगत और दूसरे स्वप्नगत। स्मृतिगत संभोग में वे पंक्तियाँ आती हैं जिनमें कहा गया है कि वह 'भाँति-भाँति के रति सुखों का स्मरण करके मेरे मिलन का रस चखती होगी' (**मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वप्यान्ती—मेघ० ८४**) या '**नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या—मेघ० ८६**' (जो

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



रातें मेरे साथ मनचाहा संभोग करते हुए क्षण की तरह बीत जाती थीं) या **संभोगान्ते मम समुचितो हस्त संवाहनानां, यास्यस्त्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्च-लत्त्वम् ॥ मेघ० ९३'** (सम्भोग के अन्त में जिसका मैं अपने हाथों से संवाहन किया करता था उसकी वह केली स्तम्भ जैसी गोरी जंघा (तुम्हारे जाने से) शगुनस्वरूप फड़क उठेगी।) और स्वप्नगत संभोग के परिचायक हैं वे पद्य जिनमें यक्ष या तो अपनी प्रेयसी के बारे में कह रहा है कि हे मेघ ! तुम्हारे वहाँ पहुँचते समय यदि वह सोई हुई हो तो तुम एक प्रहर तक उसके उठने की प्रतीक्षा करना (क्योंकि युवा व्यक्तियों का रतिकाल एक प्रहर माना गया गया है) कहीं ऐसा न हो कि बड़ी कठिनाई से स्वप्न में मिले हुए प्रियतम के गले में गाढ़ालिंगन के लिए डाला हुआ उसका बाहुपाश बीच में ही छिन्न हो जाय।

**तस्मिन् काले जलद यदि सा लब्ध निद्रासुखास्या—**
**दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।**
**मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्।**
**सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढ़ोपगूढम् ॥** (मेघ० ९४)

या जिसमें अपनी दशा का वर्णन करते हुए कह रहा है कि यदि कभी स्वप्न में मैं तुम्हें पा लेता हूँ और तुम्हारा गाढ़ आलिंगन करने के लिए इस शून्य में अपनी बाँहे फैलाता हूँ तो मेरी इस दयनीय दशा पर वनदेवियां तरु-पल्लवों पर मोती से बड़े-बड़े आँसू टपकाती हैं—

**मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो—**
**र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।**
**पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थली देवतानां**
**मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेषा पतन्ती ॥** (मेघ० १०३)

इसके अतिरिक्त मेघ में संभोग शृङ्गार के जो वास्तविक रूप सामने आये हैं वे हैं अलका में यक्ष-जीवन से तथा भूलोक में मेघ-जीवन से सम्बन्धित। यक्षों के जीवन का एक चित्र देखिए—

"उस अलकापुरी के कामीजन जब संभोग के लिये अपने चंचल हाथों से अपनी बिम्बाधरोष्ठी प्रियतमाओं की नीवी की गाँठ खोलकर उनकी रेशमी साड़ियों को खींचने लगते हैं तो बेचारी लाज के मारे जगमगाते हुए रत्न-दीपों पर कुंकुम-चूर्ण की मुट्ठियाँ मार-मार कर उन्हें बुझाने का विफल प्रयास करती हैं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरैर्व्याक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्तरत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढ़ानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ (मेघ० ६६)

अथवा

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां—
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ॥ (मेघ० ६७)

यों तो मेघ की मधुर गर्जन सुनकर गर्भाधान के लिये पृथ्वी के रोमाञ्चित हो जाने (कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्याम्—मेघ० ११) या भोली-भाली ग्राम वधूटियों के द्वारा उसे प्यारभरी चितवन से देखना (भ्रूविलासानभिज्ञैः, प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः—मेघ० १६) आदि प्रसंगों में भी संभोग शृङ्गार की मृदु छटा झलकती ही है; किन्तु मेघ-गत शृङ्गार का सबसे अधिक उत्कट रूप उभरा है निर्विन्ध्या तथा गम्भीरा के सम्बन्ध में ।

मेघ जब निर्विन्ध्या पर पहुँचा तो उसकी शृङ्गार चेष्टाएँ कितनी उद्दाम हो चली हैं इसका शब्द चित्र खींचा गया है निम्न श्लोक में—

वीचीक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथिभव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ (मेघ० २८)

(—मार्ग में पड़ने वाली वह निर्विन्ध्या अपनी उछलती हुई लहरों पर किलकारी भरती हुई हंसों की पंक्ति रूपी करधनी को झंकारती, रुक-रुक कर बहने के कारण भंवर रूपी नाभि को उघाड़ कर दिखाती हुई तुम्हें आमन्त्रित करती हुई भी दिखाई देगी । तुम उसका रसास्वादन करके ही आगे बढ़ना, कामिनियाँ अपनी शृङ्गार चेष्टाओं द्वारा ही अपने प्रियतमों पर प्रेम प्रकट करती हैं ।

मेघ को देखकर गम्भीरा की तो कुछ दशा ही अद्भुत हो जायेगी । प्रियतम मेघ के दृष्टिगोचर होते ही उसका समस्त गाम्भीर्य जाता रहेगा । हृदय में उसका प्रतिबिम्ब पड़ते ही चञ्चल आँखें उसके हृदय की तरलता को प्रकट कर देंगी, और फिर उसका जो रूप सामने आयेगा वह कुछ इस प्रकार होगा :—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



'तट से हटी हुई जल रेखा और उस पर झुकी हुई बेंत की लताएँ कुछ ऐसा चित्र बनायेंगी जैसे किसी कामिनी का अधोवस्त्र उसके नितम्ब प्रदेश से खिसक पड़ा हो और वह लज्जित हो उसे पकड़ने का असफल प्रयास कर रही हो। उसका यह रूप देखकर उस पर झुका हुआ रसिक मेघ भी वहाँ से न जा सकेगा। क्योंकि जवानी का रस ले चुकने वाला ऐसा कौन रसिक होगा जोकि कामिनी के अनावृत जघनस्थलों को देखकर उनका रस लिये बिना ही वहाँ से चल दे।'—

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे! लम्बमानस्य भावि
ज्ञानास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥ (मेघ० ४१)

यह तो रही संभोग शृङ्गार की बात। अब हम थोड़ा सा विप्रलम्भ का भी रूप देखलें तो अनुचित न होगा। यों तो समस्त मेघ ही विप्रलम्भ की छाया में पला है किन्तु यक्षिणी की विरहदशा के वर्णन में तथा मेघ के संदेश वचनों में जिस विप्रलम्भ का रूप सामने आता है वह अद्वितीय है, अलौकिक है। विप्रलम्भ का इतना सुकुमार तथा हृदयस्पर्शी रूप अन्यत्र देखने को कम ही मिलता है।

आचार्यों ने विप्रलम्भ शृङ्गार के चार रूप माने हैं— पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। मेघदूत यद्यपि प्रवास के अन्तर्गत आता है— (प्रवासो भिन्न देशत्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात्—सा० द० ३/२०९)। किन्तु इसमें पूर्वराग तथा प्रवास दोनों ही प्रकार की काम दशाओं का समावेश हुआ है। और यह ठीक भी है क्योंकि इसके बिना विप्रलम्भ का सम्पूर्ण चित्र भी उपस्थित नहीं हो सकता। कारण कि आचार्यों के विभाजन के अनुसार पूर्वराग में केवल नायक की स्मरदशाओं और प्रवास में केवल नायिका की स्मर दशाओं का विश्लेषण दिया गया है जो कि अधूरा ही चित्र लगता है। किन्तु मेघदूत में हमारे सामने एक ऐसा पूर्ण चित्र आता है जिसमें नायक और नायिका दोनों की दशाओं का सुन्दर चित्रण मिलता है। पूर्वराग में नायकगत स्मरदशायें हैं— अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति। इसी प्रकार प्रवास में नायिकागत काम दशायें हैं— अंगों में असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, तन्मय, उन्माद, मूर्च्छना और मृति। इसमें

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विशेषकर नायिका के अङ्गों और वस्त्रों की मलिनता, एक वेणी, निःश्वास, उच्छ्वास, रुदित, भूमिपतन आदि का भी चित्रण होना चाहिए।

**तन्वाङ्गचोलमालिन्यमेकमवेणीधरं शिरः।**
**निःश्वासोच्छ्वासरुदितंभूमिपातादि जायते॥ (सा० द० ३/२१०)**

अब इस विवेचन के प्रकाश में देखने पर हम देखेंगे कि मेघ विप्रलम्भ शृङ्गार का एक जीवन्त चित्रण है। पाने की इच्छा का नाम ही अभिलाष है। **(अभिलाषः स्पृहा)**। यद्यपि यहाँ पूर्वराग की अवस्था के समान अप्राप्त को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं किन्तु वियुक्त को प्राप्त करने की तथा मिलन-सुख की अभिलाष तो दोनों ओर से है ही। इसीलिए तो यक्ष कहता है **'पश्चादावां विरह गुणित तं तमात्माभिलाषं, निर्वेक्षावः (मेघ० १०७)'**। पुनः एक दूसरे को पाने की प्रबल उत्कण्ठा है यक्ष की उत्कण्ठा संदेश में व्यक्त हुई है **त्वामुत्कण्ठा विरचित पदं०—मेघ० १००)** तो यक्षिणी की उच्छ्वासों में **(त्वामुत्कण्ठोच्छ्वासितहृदया०—मेघ० ९७)**। प्राप्ति के उपाय का नाम ही चिन्ता है **(चिन्ता प्राप्त्युपायादि चिन्तनम्)**। इस प्रकार शापादि की अवस्थाओं में प्राप्त्युपाय केवल स्वप्नगत ही हो सकता है। शाप एक वर्ष का है इस बीच शारीरिक मिलन की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती। अतः इस दिशा में उपाय चिन्तन भी व्यर्थ है, शरीर शापग्रस्त हो सकता है किन्तु मन तो शापग्रस्त नहीं। अतः मानसिक मिलन में कोई बाधा नहीं। इसलिए उपाय चिन्तन भी इसी दिशा में हो सकता है। इसके लिए दोनों ओर से दो प्रकार के उपाय हो रहे हैं। एक चित्रगत मिलन के लिए और दूसरा स्वप्नगत मिलन के लिए। इधर यक्ष उससे चित्र-मिलन के लिए पाषाण शिला पर गेरुए के रंगों से उसका प्रणय कुपित चित्र बनाकर उससे मिलने का प्रयत्न करता है**(त्वामालिख्य-प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां०—मेघ० १०२)** तो उधर यक्षपत्नी भी अपनी कल्पना पर आधारित उसका विरहकृश चित्र बनाकर मिलन का उपक्रम कर रही है **(मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती— मेघ० ८२)**। इसी प्रकार स्वप्न मिलन के लिए भी दोनों ओर से उपाय किये जाते हैं। यक्षपत्नी स्वप्न संयोग के लिए निद्रा की मनुहार करती दिखाई देती है**(मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रामाकाङ्क्षन्तीं० – मेघ० ८७)** तो उधर यक्ष भी इसी प्रयत्न में लीन होकर सो जाता है **(लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु— मेघ० १०३)**।

यों तो समस्त मेघदूत यक्ष और यक्षिणी की स्मृति की कोमल छाया में ही पला है किन्तु कालिदास ने उत्तर मेघ में दो स्थलों पर इन दोनों की स्मृति

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को इस रूप में चित्रित किया है कि वहाँ दोनों ओर से ही स्मृति और गुण-कथन नामक दो दशाओं का एकसाथ वर्णन हो गया है। यक्ष को प्रियंगुलता को देखकर यक्षिणी के इकहरे शरीर की, चकित हरिणियों को देखकर उसके नेत्रों के कटाक्ष की, चन्द्रमा को देखकर मुख की, मोरपंखों को देखकर केश कलाप की, सरिता की चञ्चल लहरों को देखकर भ्रौंहों की स्मृति हो आती है —

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदी वीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥
(मेघ० १०१)

तो यक्षपत्नी कभी उसका नामांकित पद गा-गाकर उसे याद करती है (मद्गोत्रांकं विरचित पदं गेयमुद्गातुकामा—मेघ० ८३) तो कभी इसी बहाने सारिका से पूछने लगती है— 'हे रसिके ! क्या तुझे भी कभी स्वामी की याद आती है ? तुझे तो वे बहुत प्यार करते थे।' (कश्चित् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति—मेघ० ८२)। यहाँ पूर्व श्लोक में प्रकारान्तर से यक्षिणी के सौन्दर्यादि गुणों का तथा द्वितीय में यक्ष के 'प्रियत्व' गुण का संकीर्तन भी साथ-साथ हो गया है।

इसी प्रकार यक्ष और यक्षिणी की समस्त मनोदशा 'उद्वेग' तथा यक्ष की समस्त कल्पित उक्तियाँ 'प्रलाप' के अन्तर्गत आ जाती हैं। 'उन्माद' का अर्थ है 'चेतन और अचेतन के ज्ञान से शून्य हो जाना' (उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि)। यक्ष की चेतनाचेतन कृपणता का ही फल यह मेघदूत है इसे सभी जानते ही हैं।

इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे।
कामार्ता हि प्रकृति कृपणाः चेतनाचेतनेषु॥ (मेघ० ५)

यही वह उन्माद है जिससे वह कभी मेघ से शरण माँगता है (संतप्तानां त्वमसि शरणं०—मेघ० ७) तो कभी हिमालय की ओर से आने वाली हवाओं का ही आलिंगन करने को दौड़ता है (आलिङ्गचन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः—मेघ० १०४)। उन्माद दशा पूर्वराग तथा प्रवास दोनों में समान मानी गई है। इसी प्रकार प्रवास की ताप, पाण्डुता और कृशता का भी पूर्वराग की व्याधि दशा के अन्तर्गत ही समावेश हो जाता है। (व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वास पाण्डुता कृशता-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दयः) । यों तो 'निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्' (मेघ० ८१) से यक्षिणी तथा 'गाढ़ोष्माभि कृतमशरणं त्वद्वियोग व्यथाभिः' (मेघ १०५) के द्वारा यक्ष के संताप एवं च 'प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः' (मेघ० ८६) के द्वारा यक्षिणी तथा 'कनकवलयभंशरिक्तप्रकोष्ठः' (मेघ० २) केद्वारा यक्ष की दुर्बलता आदि की व्यञ्जना की गयी है किन्तु इस व्याधि का साङ्गोयाङ्ग वर्णन एक साथ उभरा है 'अङ्गेनाङ्ग प्रतनुतनुना०' (मेघ० ९९) आदि श्लोक में ।

'जडता' (जडताहीन चेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा) वा 'मूर्च्छना' की अवस्था विशेषकर यक्षपत्नी में देखी जाती है । प्रिय के नामांकित गीत गाने के लिए वीणा लेकर बैठती है किन्तु उसकी स्मृति पर मूर्च्छा का ऐसा आघात होता है कि बेचारी सब कुछ भूल जाती है (भूयोभूयः स्वयमपिकृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती —मेघ० ८३) प्रवास में मन की इसी शून्यता का नाम 'अधृति' वा अंनालम्बनता' भी कहा गया है (अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता) । और यक्ष में 'असौष्ठव' की दशा अधिक है । असौष्ठव का अर्थ है पराधीनता (असौष्ठवमनायत्तिः) । यक्ष को पराधीनता के कारण ही यह 'अस्तंगमितमहिमा' वाला वियोगरूपी शाप भोगना पड़ रहा था । उसकी इस पराधीनता की भावना की सबसे तीव्र व्यञ्जना हुई है निम्न पंक्ति में :

कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहामिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ (मेघ० ८)

(हे मेघ तुम्हारे उमड़ने पर कौन अपनी विरह-विधुरा पत्नी के प्रति उदासीन रह सकता है, हाँ यदि उसका जीवन मेरी भाँति पराधीन नहीं है ।)

'अरुचि' का चित्रण यक्षपत्नी के विषय में अधिक सफल हुआ है । उसे सभी विषयों से अरुचि हो गयी है । न आभूषण पहनती है (सा सन्यस्ताभरणमबला—मेघ० ९०) न अंजन आँजती है(अंजनस्नेहशून्यं—मेघ० ९२) न मदिरा पीती है (प्रत्यादेशादपि च मधुनो०—मेघ० ९२) और न चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से ही प्यार रह गया है (पादानिन्दो०—मेघ० ८९) 'तन्मय' का अर्थ है बाहर भीतर सर्वत्र उसी के रूप को देखना, उसी में लीन हो जाना । यक्ष के हृदय में उसी का ध्यान है (संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः—मेघ० ९९) और बाहर प्रकृति के पदार्थों में उसी का रूप दिखाई देता है(श्यामास्वङ्गं०—मेघ० १०१) । यक्षपत्नी को भी उसी का ध्यान है और उसी में खोई रहती है (मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती—मेघ० ८४) । वह चाहे पूजा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



करे, चित्र बनाए, सारिका से बातें करे, वीणा बजाए, गीत गाए, देहली पर पुष्प चढ़ाए, सर्वत्र ध्यान यक्ष का ही है।

मरण यद्यपि उभयत्र दशम दशा कही गयी है किन्तु करुण के अतिरिक्त इसका चित्रण निषिद्ध माना गया है (**रसविच्छेद हेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते**)। इसके अतिरिक्त हमें नायिकागत मालिन्य का (**मलिन वसने—मेघ० ८३**) व एक-वेणीत्व का (**कठिन विषमामेकवेणीं करेण—मेघ० ८८**) आदि का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

यद्यपि पूर्वापर विभावानुभावादि के बिना किसी एक पद्य में किसी रस का पूर्ण आस्वादन कठिन ही है। किन्तु फिर भी हम यहाँ कालिदास के रस-व्यञ्जना-कौशल का किञ्चित् दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे। यक्ष का अलका-निवास का जीवन कितना आनन्दमय था और अब उसकी शारीरिक और मानसिक दशा क्या हो गई है इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए जब हम यक्ष के उस कथन को सुनते हैं जिसमें कि वह मेघ के द्वारा अपने विगत जीवन और इस जीवन के अन्तर की ओर संकेत करके कहला रहा है— 'कहाँ तो वे दिन थे जबकि सखियों के सामने जोर से कही जा सकने वाली बात को भी मैं तुम्हारे मुख के स्पर्श के लोभ से कान के पास मुँह ले जाकर रहस्य की भाँति चुपके से कहता था और कहाँ अब यह दशा कि जोर जोर से पुकारने पर भी तुम तक न मेरे शब्द पहुँच सकते हैं और न तुम्हें देखने के लिए दृष्टि ही पहुँच सकती है। किन्तु वैरी विधि के द्वारा दर्शन, स्पर्शन का मार्ग रोक दिये जाने पर भी (**विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः**) तुम्हारे मिलन तथा दर्शन की उत्कण्ठा इतनी प्रबल है कि मेघ के द्वारा तुम्हारे पास सन्देश भेजने को विवश हो रहा हूँ—

**शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्**
**कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।**
**सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्टः—**
**स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥**
**(मेघ० १००)**

तो उस बेचारे की विवशता एवं दुर्भाग्य पर हमारे हृदय में करुणा का स्रोत सा फूनेट लगता है। और इसी प्रकार जब हम अलका की नारियों के विलास-वर्णन के प्रकाश में विधाता की आदि सृष्टि के समान उस 'श्यामा', 'पक्व-विम्बाधरोष्ठी', 'चकितहरिणीप्रेक्षणा' की कल्पना करते हैं और उसके उस मनचाहे शृङ्गार एवं मनचाही रति (**नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छार-**

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तैर्या—मेघ० ८६) का विचार करते हैं और इधर आज उसके रूखे और बिखरे बालों, उलझी हुई लटों रोते रोते सूजी हुई आँखों, गरम गरम आहों के छोड़ने से फीके पड़े हुए होठों, चिन्ता में डूबे हुए मुख को देखते हैं तो बरबस उस वियोगिनी बाला के प्रति सहानुभूति उमड़ने लगती है और आँखें गीली हो उठती हैं। इसी से हमें शाकुन्तल के चतुर्थ अंक के सफल नाटककार तथा 'अज विलाप' व 'रति विलाप' के करुण-रस के प्रयोक्ता कालिदास की झांकी मिल जाती है।

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तिर्बिभर्ति ॥ (मेघ०८१) ॥

यहाँ पर कालिदास ने यक्षपत्नी के इस रूप वर्णन के द्वारा उसके वियोग-जन्य दुःख से उत्पन्न शारीरिक तथा मानसिक विकारों का जो रूप चित्रण किया है वह वस्तुतः कथानक की पृष्ठभूमि के बिना भी स्वयं ही पाठक के हृदय में करुणा का संचय करने की क्षमता रखता है। कालिदास के काव्यों में वर्णित रसों का भरपूर आनन्द लेने के लिए सहृदय पाठकों को उनके काव्यों के तत्तत् प्रकरणों को सांगोपांग पढ़ना चाहिये। तभी कालिदास की कला का चमत्कार दिखाई दे सकता है।

## अलंकार-सौन्दर्य

इसके बाद कालिदास के काव्यों की विशेषताओं में स्थान आता है अलंकार का। यों तो कालिदास में सभी अलंकारों को निखरने का अवसर मिला है। किन्तु इनके काव्यों में उपमा अथच सादृश्यमूलक अलंकारों का जो रूप निखरा है वह अद्वितीय है। यों तो उनकी उपमाओं का भण्डार खुलता है 'रघुवंश' तथा 'शकुन्तला' में किन्तु यहाँ हम 'मेघदूत' तक ही अपने को सीमित रखेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि कालिदास के अलंकार नियोजन-नैपुण्य का जो रूप आगे चलकर चमका है उसका रूप क्या मेघदूत में भी मिलता है ?

कालिदास ने अपने काव्यों में शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है किन्तु कहीं भी उन्होंने इस अलंकार योजना के लिए प्रयत्न नहीं किया है। वह योजना सर्वत्र सहज है, स्वाभाविक है। यही उनकी विशेषता भी है। उनकी इस विशेषता के दर्शन 'मेघदूत' में भी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इसी रूप में होते हैं। यद्यपि अनुप्रास, श्लेष आदि की कहीं-कहीं योजना हुई है (यथा–तस्मिन् काले नयनसलिल० (मेघ०३९) में 'कर' शब्द में) किन्तु यह योजना इतनी सरल है कि इसके लिए पाठक को कोई बौद्धिक श्रम नहीं करना पड़ता। यों भी मेघ में शब्दालंकारों के लिए बहुत कम अवकाश है। मेघ की सुकुमार रचना शब्दालंकारों के बोझ को सह भी नहीं पाती। वहाँ तो आदि से अन्त तक हृदय के ही उद्गार हैं बुद्धि का चमत्कार नहीं।

(१) **उपमा :** कालिदास के अर्थालंकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सर्वथा देश, काल और वक्ता आदि के अनुरूप होती है। उनके प्रत्येक दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा या उपमा में स्थानीय रंग (Local Colour) इतना स्पष्ट होता है कि उसकी सहायता से अर्थ अपने आप अभिव्यक्त हो उठता है।

कालिदास की अलंकार योजना में देश-काल का रंग कैसे निखरता है इसे बतलाने के लिये हम यहाँ मेघ से सम्बन्धित दो चार उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का उल्लेख करेंगे। और फिर देखेंगे कि एक ही मेघ का भिन्न-भिन्न स्थानों तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध में क्या-क्या रूप बन जाता है।

दक्षिण प्रदेश के वनों में जंगली हाथियों की सत्ता के कारण कवि ने रामगिरि पर्वत की चोटी पर 'मेघ' को 'ढूँसा मारने में मग्न हाथी' (**वप्रक्रीडा परिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श—मेघ०२**) के समान देखा तो भगवान् शंकर का निवास स्थान होने के कारण 'हिमालय की हिम धवल चोटी पर उसे ऐसे देखा जैसे कि भगवान् शंकर के नन्दी ने गीली मिट्टी के ढेर को सींगों पर उठा लिया हो।'

**वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गेः निषण्णः।**
**शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्॥** (मेघ०५२)

अब देखिये उनकी उपमा के स्थानीय रंग को। जिस प्रकार रामगिरि के संसर्ग में हाथी की कल्पना साकार हो उठती है उसी प्रकार हिमालय के सम्पर्क में नन्दी की। 'उपमेय' दोनों स्थानों पर वहीं है किन्तु स्थान भेद से 'उपमान' बदल जाते हैं।

इसी प्रकार विष्णु के अवतार राम के चरणों से पवित्र प्रदेशों (**वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु—मेघ०१२**) में तो मेघ की उपमा गोपवेषधारी विष्णु से दी गयी है (**गोपवेषस्य विष्णोः—मेघ०१५**) और भगवान् शंकर के निवास-स्थान महाकाल के मन्दिर में उसकी उपमा स्वयं शंकर के कण्ठ की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



छवि से दी गई (**भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः—मेघ०३३**) । अपि च कामार्त यक्ष के संदेशवाहक कामचारी मेघ के लिए 'तट से हटे हुए गम्भीरा के नीले जल की कामिनी के नितम्ब प्रदेश से खिसके हुए नील-वसन से' तथा 'कैलास की गोदी में स्थित अलका से निकलती हुई गंगा की प्रियतम की गोद में स्थित प्रमदा की सरकती हुई साड़ी' की उपमा वक्ता तथा श्रोता के कितने अनुकूल है इसे बतलाने की सम्भवतः आवश्यकता ही नहीं ।

(२) **उत्प्रेक्षा** : इसी प्रकार प्रकरणवश यदि यहाँ हम उनकी एक उत्प्रेक्षा तथा दृष्टान्त पर भी थोड़ा विचार कर लें तो अनुचित न होगा । प्रकरण है— कामरूप मेघ उस आम्रकूट तक जा पहुँचा है जिसके कुञ्ज **'वनचरवधूभुक्त'** हैं तथा जिससे आगे वह प्रसिद्ध नगरी आ रही है (**तेषां दिक्षु०—मेघ०२४**) जहाँ पहुँचने पर उसे 'कामुकत्व का अविकल फल मिलने वाला है (**फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा—मेघ०२४**) गदराये हुये पीले-२ आमों से लदे उस पर्वत की चोटी पर बैठे हुये मेघ की 'सब ओर से पीले और बीच में सांवले पृथ्वी के उठे हुए स्तन' से उत्प्रेक्षा की जो सूझ दिखाई है वह अद्भुत है । यह वह सूत्र है जो कि आम्रकूट से लेकर दशपुर तक की मेघ की गतिविधियों का भाष्य कर डालता है । मेघ के विलासी जीवन का सूत्रपात यहीं से होता है और दशपुर तक बराबर वही रूप चलता है किन्तु इसके विपरीत जब कैलास की उत्प्रेक्षा का प्रसंग आया तो कवि ने झट से कह दिया **"राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः"** (**मेघ०५८**) और भगवान् शंकर की वहाँ उपस्थिति के कारण ऐसा लगने लगता है जैसे कि वस्तुतः हिमालय की ये ऊँची ऊँची हिमाच्छादित चोटियाँ नहीं वरन् भगवान् शंकर के प्रतिदिन के अट्टहास का ही ढेर लगा हो ।'

(३) **दृष्टान्त** : यों तो समस्त मेघ उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से भरा पड़ा है किन्तु हमारी सीमाएँ हमें उन सब पर विचार करने का यहाँ अवसर प्रदान न करेंगी । हम 'उपमाकालिदासस्य' शीर्षक से इस पर पृथक् रूप में विस्तार के साथ विचार करेंगे । यहाँ हम अब केवल एक दृष्टान्त पर और विचार करेंगे । यक्ष मेघ को अपने घर की पहचान बता कर उससे कह रहा है—'अब मेरे वियोग से वह घर ऐसे ही छविहीन पड़ा होगा जैसे कि सूर्य के छिप जाने पर कमल शोभाहीन हो जाता है ।

**क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं**
**सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥** (**मेघ०७७**)

इसमें यों अलंकार की दृष्टि से तो कोई अद्भुत बात नहीं कही गयी है किन्तु

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अलंकार–योजना के लिए प्रस्तुत किये गये उपमानों की योजना में जो लिङ्ग-वचनादि का नैपुण्य दिखलाया है वह दर्शनीय है। 'यक्ष' क्योंकि पुल्लिङ्ग शब्द है अतः दृष्टान्तयोजना में तत्स्थानीय शब्द 'सूर्य' भी पुल्लिङ्ग रखा गया है और 'भवन' शब्द क्योंकि नपुंसकलिङ्ग है अतः उसका दृष्टान्त 'कमल' भी नपुंसक ही रखा गया है। अलंकारयोजना की यह बारीकी अन्य कवियों में बहुत कम देखने को मिलती है। जहाँ अन्य कवि केवल सादृश्य वा साम्य को देखकर ही अलंकारयोजना कर डालते हैं वहाँ कालिदास वक्ता, श्रोता, प्रकरण स्थान. लिङ्ग, वचन आदि का भी पूरा पूरा ध्यान रखते हैं। यही उनकी अलंकार-योजना की विशेषता है और इसी में निहित है उनके काव्य की चारुता अथवा अलौकिक चमत्कार

**सूक्ति विधान :**

मेघदूत में प्रयुक्त मन्दाक्रान्ता छन्द पर पहले विचार हो ही चुका है अतः हम उनकी सूक्तियों की ओर कुछ संकेत करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य जगत में जितनी लोकप्रियता कालिदास की सूक्तियों को मिली उतनी शायद ही किसी को मिली हो। उनकी सूक्तियों की विशेषता इसी में है कि वे सहज रमणीय तथा जीवन के अति निकट हैं। उनमें काव्य की रोचकता तथा दर्शन की गम्भीरता साथ साथ पाई जाती है। उनका जीवन से कितना निकट सम्बन्ध होता है इस पर **'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतम्०'** (मेघ० १०६) इत्यादि पर अलग निबन्धन किया गया है। यहाँ केवल नमूने के रूप में मेघदूत से थोड़ी सी सूक्तियों का उल्लेख भर पर्याप्त होगा। क्योंकि इनकी व्याख्या में प्रत्येक के लिए पर्याप्त स्थान अपेक्षित होगा जोकि इस छोटे से निबन्ध के लिए सम्भव न हो सकेगा। मेघदूत की कुछ अति प्रसिद्ध सूक्तियाँ हैं:— **याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' 'मन्दायन्ते न खलु सुहृदा-मभ्युपेतार्थकृत्याः' 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' 'आशाबन्धः कुसुम-सदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां' 'सद्यः पाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि', 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय' ' स्त्रीणामाद्यंप्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु' 'आपन्नार्तिप्रशमनफला सम्पदो ह्युत्तमानां' 'प्रायः सर्वो भवति करुणा-वृत्तिरार्द्रान्तरात्मा'** और—

**कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।**
**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥** (मेघ०१०६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघदूत कालिदास की काव्य-कला की उन समस्त विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है जिन पर मुग्ध होकर काव्य-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



रसिकों ने अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाये हैं। यदि हम मेघ को रचनाक्रम से कालिदास की द्वितीय रचना भी माने तब भी हमें इसमें ही कालिदास के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक दिखाई देने लगती है। क्या भाषा, क्या भाव, क्या शैली, सभी का एक निखरा हुआ रूप इस छोटे से काव्य में दीखने लगता है। 'प्रसादचिह्नानि पुरः फलानि'। सहज एवं जन्म-जात प्रतिभा किसी महान् अवसर की प्रतीक्षा नहीं किया करती, वे जिसे छू लेती हैं वही महान् बन जाता है। कालिदास की लेखनी को पाकर मेघ धन्य हो गया और यक्षदम्पती अमर हो गया। इसमें उनके कवित्व की ही नहीं वरन् यत्र-तत्र उनके नाटककार होने की परछाई भी साफ-साफ दिखाई देती है। अनेक उक्तियाँ ऐसे चुस्त एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत की गयी हैं कि उनमें किसी भावी नाटककार का रूप प्रस्फुटित सा होता दिखाई देता है।

**अनुपम शब्द-चित्र :—**

'मेघदूत' में जहाँ सुललित पदावली, सहज अलंकार-सौन्दर्य व गम्भीर भाव-व्यञ्जना पाठकों के मन को गुदगुदाने लगती है वहीं उसके प्रत्येक श्लोक से उभरने वाला नयनाभिराम चित्र भी अन्तश्चक्षुओं को मुग्ध किये बिना नहीं रहता। कह नहीं सकते कि कालिदास रंग और तूलिका लेकर चित्र बनाने की कला में कितने निपुण थे किन्तु उनके मेघ का एक-एक पद्य इस बात की साक्षी अवश्य देता है कि प्रकृति की ओर से उन्हें एक श्रेष्ठ चित्रकार की कल्पना प्रतिभा अवश्य मिली थी। शायद यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने अपने लिए रंगों से चित्रण करने के क्षेत्र को छोड़कर बिना रंगों के चित्रण करने के क्षेत्र को अपनाया। इन चित्रों की बारीकी देखने योग्य है। अनुकूल वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करने वाली पृष्ठभूमि पर चित्रित इन चित्रों की एक-एक शब्द-रेखा इतनी बारीकी से तथा इतने कलात्मक ढंग से खींची गयी है कि वह स्वयं ही बोलने लगती है। धन्य है यह प्रतिभावान् चित्रकार जिसके चित्रों का रंग आज दो हजार वर्षों के बाद भी उसी प्रकार दमक रहा है! उसकी एक-एक रेखा उस चित्रकार की अद्भुत प्रतिभा का उद्घोष कर रही है।

वस्तुतः 'मेघदूत' एक ऐसी एल्बम है जिसमें कि अनेकों सुन्दर-सुन्दर चित्र संजोकर रखे गये है। इनमें से कुछ चित्र कल्पनात्मक हैं, कुछ भावात्मक हैं तथा कुछ यथार्थ। भारत के अतीत के गौरव की झाँकी अब भी इन चित्रों में सुरक्षित है। किस प्रकार यह चित्रकार प्रकृति की साभिप्राय पृष्ठभूमि पर किसी चित्र का अंकन करता है इसे देखिये मेघदूत के प्रथम पद्य में ही। जनक-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तनया के स्नान से पवित्र जलों वाली पुष्करिणी के सुरम्य तटपर घनी छाया वाले वृक्षों के नीचे अत्यन्त कृश-गात्र यक्ष उन्मन सा बैठा है। उस के एक ओर सघन प्रशान्त वृक्षावली है तो दूसरी ओर गगनचुम्बी शिखरों वाला रामगिरि-पर्वत। चारों ओर से वर्षाकाल के नीले-नीले बादल उमड़ घुमड़ रहे हैं। प्रकृति की इस उद्दीपक पृष्ठभूमि के बीच वियोगी यक्ष को बैठाकर कवि ने उसका जो चित्र खींचा है वह प्रारम्भ से ही उस विरह-विधुर के प्रति हमारी सहानुभूति को उभाड़ देता है। हृदय में करुणा का एक लघु स्रोत सा उमड़ने लगता है और उस दुखिया का एक चित्र सा आँखों के सामने खिंच जाता है। इसके उपरान्त तो चित्रों की ऐसी अविच्छिन्न शृंखला चलती है कि एक के बाद एक अधिक सुन्दर और अधिक सजीव चित्र अन्तःचक्षुओं के सामने खिंचता चला जाता है। दृष्टि जिस पर भी पड़ती है लगी सी वहीं रह जाती हैं। कोई भी चित्रकार इसके एक-एक पद्य को रेखाओं में रंग भर कर आज भी उन जादूभरे चित्रों को किसी पट पर उभार सकता है।

इनमें से किसे लिया जाये तथा किसे छोड़ा जाये यह निश्चित करना बड़ा ही कठिन है। सभी सुन्दर हैं, अभिराम हैं, जीवन्त हैं। फिर भी यहाँ हम उत्तरमेघ से एक और शब्दचित्र प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकते। यक्ष के घर के उस विलासमय वातावरण के बीच विरह-विधुरा यक्ष-पत्नी तनक्षीण और मनमलीन सी बैठी है। वस्त्र भी बड़े अस्तव्यस्त एवं मलिन से धारण किए हुये हैं। मन बहलाने के लिये गोदी में वीणा लेकर प्रियतम के गीत गाने का उपक्रम कर रही है। परदेशी साजन की याद आते ही आँखें भर आई हैं और टप-टप आँसू की बूँदें वीणा पर पड़ रही हैं। और वह आत्म-विस्मृत सी उन्हें पोंछती जा रही है—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ (मेघ० ८३)

## भारतीय पृष्ठभूमि पर वर्षाकाल का भव्य चित्रण

वर्षाकाल के मेघों के उमड़ते ही इस धरा पर क्या कुछ होने लगता है इसके एक विशाल चित्र की कल्पना कालिदास ने पूर्वमेघ में की है। इस समस्त पूर्वमेघ को आधार बनाकर यदि एक चित्र का निर्माण किया जाये तो वह अकेला भारत जैसे देश के वर्षाकालीन रूप का बिम्बग्राही चित्रण प्रस्तुत

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कर सकेगा इसमें सन्देह नहीं। मेघों के गरजते ही समस्त प्रकृति रोमांचित हो उठती है। कुटज, कदम्ब, जूही, केतकी सभी में पुष्प प्रसव होने लगता है। मोर, पपीहा, बगुले सभी उत्कण्ठित हो उसका स्वागत करने लगते हैं। धरा भी खुम्भियों के मिष रोमांचित हो जुते हुए खेतों से सुगन्धित निश्वास छोड़ने लगती है। कहीं हिरन चौकड़ी भरते हैं तो कहीं मतवाले हाथी अपनी सूँडों से मन्द सुगन्धित समीर का पान करने लगते हैं। कहीं बगुलों के जोड़े मेघ तक उड़कर गर्भाधान का उत्सव मनाते हैं तो कहीं राजहंस अपनी चोंचों में कमल-नाल लिये उनके साथ-साथ मानसरोवर के लिये चलने लगते हैं। वनों में काली-काली भौंराली जामुनों, पीले-पीले पके हुए आमों और बरसाती हवा से गदराये हुए गूलरों की शोभा भी दर्शनीय होती है। इस मेघ को विरहिणी पथिकवनिताएँ आशाभरी दृष्टि से, जनपद वधुएँ स्नेह और आदरभरी दृष्टि से, तथा पौराङ्गनाएँ चञ्चल चितवन से देखा करती हैं। मेघ के अनेक रूप भी कम दर्शनीय नहीं होते। कभी पहाड़ से ढूँसा मारते हुये हाथी सा विशाल तो कभी पीतपट पहने घनश्याम सा श्याम, कहीं आकाश में उड़ती हुई पर्वत की चोटी सा तो कहीं मोतियों के हार में गुँथे हुए नीलमणि सा। तिरछा, लम्बा, द्रुत, मन्द आदि अनेक रूपों में चराचर जगत के मन को मोहता है।

## पुरातन भारत की झाँकी

इस प्राकृतिक वर्णन के साथ-साथ कालिदास ने तत्कालीन भारत के नगरों के समृद्ध एवं विलासी जीवन का तथा ग्रामों के एकान्त शान्त जीवन का जो चित्रण किया है वह जितना काव्य की दृष्टि से रमणीय है उससे भी अधिक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यद्यपि आज अवन्ती, विदिशा, उज्जयिनी, रेवा, शिप्रा, वेत्रवती, दशपुर आदि अपना पुरातन वैभव खो चुके हैं—इतिहास की वस्तु हो चुके हैं किन्तु अपने 'मेघदूत' में कालिदास ने उनके जिस वैभव को संजोकर रख छोड़ा है आज भी हम उसके मेघ की आँख से देख सकते हैं। शिप्रा के किनारे बसी हुई वैभवनगरी उज्जयिनी के महलों के झरोखों से निकलने वाला वधुओं के केशों को सुगन्धित करने वाला धुँआ, उनके कमल से कोमल पैरों पर लगे हुए महावर से रंगी हुई अटारियाँ, अंधेरी रात में जन-शून्य मार्गों पर, धड़कते हृदय से जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाकर प्रियमिलन को जाती हुई अभिसारिकाएँ, महाकाल के मन्दिर से सायंकालीन पूजा के समय उठती हुए नगाड़ों की ध्वनि, भगवान् शंकर की सेवा में अपना नृत्य और संगीत अर्पित करती हुई वाराङ्गनाओं के पैरों की थिरकन व कटि की रसना के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



घुंघुरुओं के बज उठने से सुनाई देने वाली छम-छम (**पादन्यासक्वणितरसना० —मेघ ३५**) की धुँधली छाया आज भी देखी जा सकती है। कालिदास के गाँवों की प्रीतिस्निग्ध दृष्टि वाली वधुएँ आज भी भौंहें मटकाना ही नहीं जानती। उसके गाँवों की बूढ़ी दादियाँ आज भी उदयन-वासवदत्ता जैसे प्रेमी राजकुमार और राजकुमारी की गाथाएँ सुनाया करती हैं। वर्षाकाल के आने पर आज भी इन्हीं दशार्णों के आस-पास घर की बलि को खाने वाले पक्षी अपने घोंसले बनाने में व्यस्त हो जाते हैं। इनके बन बागों में काली-काली भौंराली जामुनें पकने लगती हैं। महाकाल ने इन दो हजार वर्षों में नगरों के रूप को अवश्य परिवर्तित कर दिया है पर मेघ के इस देश के गाँव अब भी वही हैं। आज भी इस देश का कृषि-फल मेघ के ही अधीन है (**त्वदायत्तं कृषिफलमिति०—मेघ० १६**), इसलिये मेघ का उसी भाँति 'प्रीतिस्निग्ध' नयनों से स्वागत होता है जैसा कि यक्ष के मेघ का हुआ होगा।

## चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'मेघदूत' एक उत्कृष्ट काव्य है। इसमें यक्ष, यक्षपत्नी तथा मेघ के चरित्र का जो उदात्त एवं रमणीय चित्रण कालिदास ने प्रस्तुत किया उस पर पिछले पृष्ठों में भिन्न रूप में प्रकाश डाला जा चुका है। उसकी पुनरावृत्ति अब यहाँ अपेक्षित नहीं। उनके चरित्रों में जिस शील, मर्यादा और कुलीनता का चित्रण किया गया है वही उन्हें भारतीय काव्यशास्त्र के विधान के अनुसार किसी भी काव्य के चरित नायकों की कोटि में रखने के लिये पर्याप्त है।

## प्रेम का आदर्श

कालिदास ने प्रेम को सदा वासना से पृथक् किया है। वियोग के बिना प्रेम की सच्ची अनुभूति नहीं हो सकती और वासना को जलाये बिना प्रेम का कुन्दन नहीं हो सकता। इस भावना का प्रथम रूप मेघ में ही कालिदास के सामने आ गया था। जिस आदर्श दाम्पत्य-स्नेह की उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों में स्थापना की वही यहाँ भी उनके हृदय को प्रभावित किये बैठा है। मेघदूत का विरह केवल यक्ष का ही विरह नहीं वरन् विश्व के किसी भी विरही हृदय वा व्याकुल मन की व्याख्या है। यक्ष विरही विश्वयुवक का प्रतीक है। भिन्नलिङ्गी की ओर आकृष्ट होना, यौवन के प्रबल प्रवाह में बह जाना, कर्तव्यच्युत हो जाना अस्वाभाविक नहीं, किन्तु भारतीय आदर्शों एवं संस्कृति के धनी कालिदास ने दाम्पत्य विरह की कल्पना द्वारा यौवन की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उच्छृङ्खलता के साथ एकपतित्व तथा एकपत्नि का गठबन्धन कर अनौचित्य का बड़े ही सुन्दर ढंग से बहिष्कार कर दिया है। यक्ष विश्वहृदय का प्रतीक है, उसकी कल्पनाएँ युवक-मानस की कमनीय तरंगें हैं और यक्षपत्नी उसके मानस की रंगीन एवं स्वप्निल तरंगों पर विलास करने वाली हंसिनी। युवक-हृदय यौवन सुलभ भावनाओं में विभोर होकर इस यथार्थ जगत् को छोड़कर कल्पनालोक में विचरण करने लगता है और वहाँ अपनी कल्पना-प्रसूत प्रेयसी के नयनाभिराम, मनोमुग्धकारी चित्रों के निर्माण में लीन हो जाता है। अतः यदि कहा जाये कि प्रत्येक युवक हृदय में एक-एक मेघदूत का जन्म होता है तो अनुचित न होगा।

कालिदास ने अपने हृदय की वेदना को मेघ के समक्ष उड़ेल देने वाले अभागे यक्ष का जो चित्रण किया वस्तुतः हृदय को द्रवित कर डालने वाला है। 'यक्ष के प्रेमकातर हृदय का चित्रण कर महाकवि कालिदास ने उस मानव हृदय का चित्र अंकित किया है, जो विधाता के विधान को मूक वेदनापूर्वक स्वीकार करते हुए भी तिमिराच्छन्न आकाश में प्रकाश की क्षीण रेखा—आशा की ज्योति—देखता है।'[1]

इसी प्रकार यक्षपत्नी के चित्रण में भी कालिदास ने उसे पतिव्रता गृहिणी रूप में प्रस्तुत किया है। वह केवल अलौकिक रूप-संभार से युक्त ही नहीं अपितु विविध कलाप्रवीण, सहृदया और आदर्श पतिव्रता भी है। उसकी विरहावस्था के चित्रण में कालिदास ने बड़े कौशल का परिचय दिया है। पतिव्रता नारी के विरहकालीन जीवन के जिस आदर्श रूप की परम्परा इस देश में चली आती है उसी के अनुरूप ही कालिदास ने इस अलकावासिनी यक्षिणी का भी किया है। वह इसी मानव समाज की प्रतिनिधि है।

## यक्षपत्नी और अपर्णा

यक्षपत्नी की तपस्या पार्वती की तपस्या से किसी भाँति कम नहीं। वहाँ अप्राप्त पाने की अभिलाषा थी किन्तु यहाँ ? यहाँ तो प्राप्त भी हाथ से जाता रहा। फिर वहाँ अभुक्त के भोग की कामना थी पर यहाँ तो है भुक्त की कसक, टीस और दम निकालने वाली बेचैनी। नगाधिराज की नगरी में विलास का ऐसा नंगा नाच न था जैसाकि इस यक्षाधिराज की पुरी में है। ऐसे वातावरण के बीच यौवन के प्रथम चरण के प्रथम वियोग को एकाकी सहते हुए शुद्ध हृदय से अपने कौलीन्य की रक्षा करना कठोर साधना नहीं तो

---

१. सं० सा० की रूपरेखा, पृ० ३२४।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



और क्या है ? अपर्णा के समान ही इसमें भी केवल कान्ति ही शेष रह गई है। वहाँ मन बहलाने को सखियाँ तो हैं यहां वह भी नहीं। पर धन्य है भारतीय आदर्शों की जीवन्त मूर्ति कालिदास को, यों ही कटवा दिये आठ महीने रो-रोकर। अब तो चार ही महीने बाकी हैं, वे तो आँखे मींच कर ही बीत जायेंगे(**शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा०—मेघ० १०७**)। तब इसके बाद बिछोह के दिनों में सोची हुई सब साधें शरत् की सुहावनी रातों में पूरी हो जायेंगी।' इस पद्य में 'क्षपासु' पद विशेष रूप से व्यङ्ग्य हो उठता है। कवि दिखाना चाहता है कि इस दण्ड वा वियोग से यक्ष का मन इतना निर्मल हो गया है कि अब उसमें वासनाभिभूत होकर कर्तव्य वा मर्यादा के उल्लंघन की कोई सम्भावना नहीं। वह दाम्पत्य जीवन की साधों को पूरा करेगा अवश्य, पर कर्तव्य वा मर्यादा के मूल्य पर नहीं। इसके लिए तो शरत् की चाँदनी रातें ही पर्याप्त हैं।

अन्त में, हम डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में यही कह सकते हैं कि 'जब तक मानव उद्दाम यौवन से धनी है, जब तक विधाता ने उसके प्राणों के संगीत को स्त्री नामक सृष्टि की रहस्यमयी शक्ति के साथ संयुक्त कर रखा है जिसके कारण वह अकेला चक्रवाकी से विरहित चक्रवाक के समान केवल अपने में नहीं रमता, तब तक मेघदूत के इस संगीत का माधुर्य अक्षुण्ण है और उसकी व्याकुलता मानव हृदय को निजी टीस के रूप में प्रिय लगती रहेगी।'

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (१)

# मेघदूत : एक मनोविश्लेषण

(कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु)

**चेतोविकार का क्षेत्र : मानवलोक**

मेघ के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार करते समय हमें कालिदास के 'अबला विप्रयुक्तः स कामी, (मेघ० २) तथा 'कामरूपं मघोनः' (मेघ० ६) इन पदों पर विशेष दृष्टि रखनी होगी, क्योंकि समस्त मेघदूत के मूल में मेघ और यक्ष ही दो पात्र हैं, जिनकी दृष्टि से हम चेतन और अचेतन जगत् के समस्त व्यापारों को देखते हैं। यद्यपि यक्षपत्नी भी इस त्रिवेणी की एक अंग है किन्तु उसे तो हम अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति अप्रत्यक्ष ही पाते हैं। उसके दर्शन हमें यक्ष की आँखों से ही होते हैं।

हम यहाँ पर इस 'कामी' और 'कामरूप पुरुष' के अन्य सम्भाव्य रूपों के विषय में कुछ न कहकर केवल उनके मानवगत रूप का ही विश्लेषण करेंगे; क्योंकि हमारे मत में, कालिदास के मत में भी, स्नेह-व्यापार का केन्द्र केवल मानव-भूमि ही है। कालिदास के अन्य ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने जब 'चेतोविकार' या 'काम' की लीलाओं का चित्रण किया—मानव भूमि पर ही किया। कुमारसम्भव में काम की क्रीडा-स्थली यही भूलोक है। शाकुन्तल के समस्त मनोविकार की भूमि 'कण्वाश्रम' है 'मरीचाश्रम' नहीं। इसी के लिए उन्होंने उर्वशी को 'शापग्रस्ता' मानवी बनाया है और यक्ष को 'शापेनास्तंगमितमहिमा' (मेघ० १) निरा मानव। कालिदास की दृष्टि में मानवमन ही सबके अधिक जटिल है, महान् है और अध्ययन का विषय हो सकता है। क्योंकि मनोदशाओं की इतनी बहुरूपता न देवयोनि में है और न पशुयोनि में ही। उनमें संवेदना और अनुभूति तो है,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



किन्तु उनसे उत्पन्न होने वाली समस्यायें नहीं। कारण ? वहाँ वासनाओं के के दमन की समस्या नहीं, अतः कुण्ठाओं के लिए अवसर भी नहीं। न किसी वस्तु की उपलब्धि की समस्या है और न उपलब्ध के भोग में किसी बात की बाधा। वहाँ का सारा व्यापार निर्बाध चलता है, न स्वामी (धर्म) का शाप और न समाज का बन्धन। इसीलिए हम देखते हैं कि मेघदूत का यक्ष छाया-रूप में उस भोगभूमि का निवासी तो अवश्य है जहाँकि केवल हर्ष के ही आँसू आ सकते हैं और किसी कारण से नहीं(**आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यै-निमित्तैः—मेघ० ६**) किन्तु कार्य रूप में वह निरा मानव ही है। इस बात को महाकवि ने उसके प्रथम परिचय में ही पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है—**शापेना-स्तंगमितमहिमा (मेघ० १)**।

**यक्ष का शाप तथा उसकी भोगभूमि**

महाकवियों की सर्जनशक्ति और अन्तर्दृष्टि अद्भुत होती ही है, वे जब जैसी सृष्टि चाहते हैं कर लेते हैं। इस विराट् जगत् की सभी विधायें उनकी संकल्पशक्ति के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। सो कालिदास की संकल्प-शक्ति का अनुगामी यह यक्ष भी अपने कार्य-प्रमाद के कारण स्वामी कुबेर के शाप से अभिशप्त होकर, अपनी समस्त यक्षीय शक्तियों से वञ्चित हो एक साधारण मानव की भाँति उस सदासुहागन नगरी अलका से रामगिरि के आश्रम में आ पहुँचा एक वर्ष का वियोग भोगने के लिए। स्थान तो बहुत अच्छा था, परमज्ञानी जनक की पावनी पुत्री के स्नान से पवित्र जलों वाला तथा घनी छायादार वृक्षों वाला था (**जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छाया-तरुषु०—मेघ० १**) किन्तु उस वियोगी के लिए उन जलों में शान्ति कहाँ ? न जाने कहाँ का ताप भरा था उन वृक्षों की घनी छाया में कि वह बेचारा कहीं घड़ी भर चैन से न बैठ सका (**'आश्रमेषु'**—ध्यान दीजिए इसके बहुवचन के प्रयोग पर)।

**मेघदर्शन और चेतोविकार**

तनक्षीण, मनमलीन वह 'कामी' किसी प्रकार अपने दिन काट ही रहा था कि उसे एक दिन आषाढ़ का वह 'दर्शनीय' मेघ दिखाई दे गया जिसे देख-कर उसका समस्त दबा हुआ सन्ताप भभक उठा। कामी तो था ही और जानता ही था कि मेघ के आने पर जड़-चेतन में क्या-क्या विकार आ जाते हैं। अतः आँखों ने वप्रक्रीड़ा में व्यस्त हाथी के समान मेघ को जब पर्वत की चोटी पर देखा तो मन में उथल-पुथल मचने लगी। उद्दीपन को देखकर उद्दीप्त

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



होना 'मन' का स्वभाव जो ठहरा। यदि प्रिया ने भी कहीं इस प्रथम विरह में इस **'परिणतगजप्रेक्षणीय'** को देख लिया तो ? अनर्थ हो जायेगा। यह विचार आते ही आँखें छलछला उठीं। प्रिया के जीवन की आ पड़ी; क्योंकि इस **'कौतुकाधान'** मेघ को देखकर तो संयोगियों का मन भी दूसरी तरह का हो जाता है, गले से लगाकर प्यार किये जाने वाले प्रियजन से वियुक्त व्यक्तियों की दशा क्या होगी, इसे कौन बता सकता है ? :

**मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः।**
**कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥** (मेघ० ३)

**निरुपाय का उपाय**

साधारण स्थिति में तो इसका यही उपाय हो सकता था कि अन्य पथिकों की भाँति वह भी मेघ के गर्जन को सुनकर अपनी विरहिणी पत्नी की रूक्ष वेणी को खोलने के लिए चल पड़े :

**यो वृन्दानित्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।**
**मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥** (मेघ० ९६)

परन्तु शापदण्डित यक्ष के लिए यह सम्भव न था। उसे तो अभी शाप के चार महीने और पूरे करने थे। आखिर वह करे तो क्या करे, 'दयिता के जीवन के आलम्बन' (**दयिताजीवितालम्बनार्थी—मेघ० ४**) का प्रश्न था। इन अन्तर्द्वन्द्व के क्षणों में एक उपाय जो उसे सूझ सका वह था किसी मित्र के द्वारा अपनी प्रिया के पास अपना सन्देश पहुँचवाना; क्योंकि मित्रजनों के द्वारा दिया गया प्रियजन का कुशलवृत्तान्त उनके प्रत्यक्ष मिलन से कुछ ही कम आनन्द देने वाला माना गया है :

**कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किंचिदूनः।** (मेघ० ९७)

पर वहाँ उस निर्जन प्रदेश में कोई मित्र भी तो नहीं जिसे अलका भेजकर प्रिया के जीवितालम्बन का कार्य कर सके। पर जैसे भी हो यह तो होना ही चाहिए अन्यथा इस 'विप्रयोग' में **'सद्यःपाति प्रणयिहृदय'** को कौन रोकेगा ? सौभाग्य की बात कि सामने ही **'अम्बुवाह'** उपस्थित था अतः उससे ही अपना कुशल-वृत्तान्त भेजने का संकल्प बन गया और ताजे खिले हुए कुटज के फूलों से उसका प्यार भरा स्वागत होने लगा :

**प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी**
**जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्।**
**स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै**
**प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥** (मेघ० ४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**भावावेश और विवेकशून्यता**

मेघ के स्वागत में यक्ष ने जो किया और इस धुएँ, पानी, धूप और हवा के जमघट से उसने जो कार्य लेना चाहा उससे स्पष्ट है कि उसने विवेक खो दिया, वह प्रकृतिकृपण हो उठा, चेतन और अचेतन के विषय में; या यों कहें कि प्राण स्पन्दन हो उठा अचेतन में भी। हृदय अपनी सीमित परिधि को तोड़कर इस विशाल चराचर जगत् का प्राणी बन गया। अचेतन को भी चेतन बना डालने वाली 'कामार्त' की यह प्रकृति-कृपणता भी धन्य है जो 'आर्त' प्राणी का 'जीवितालम्बन' बन जाती है और विवेक को दूर करके हृदय को अनावृत रूप में सामने आने और विश्व के जड़ चेतन के साथ तादात्म्य स्थापित करने का अवसर प्रदान करती है।

वस्तुत: "उस औत्सुक्य की दशा में उसका जडांश बिल्कुल निर्गलित हो गया, आत्मेतर पदार्थों की प्रतीति जाती रही। बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लिए बाह्य जगत् में कोई स्थान न रहा, और हुआ क्या—**"बाढ़ी उत्कण्ठा जक्ष बुद्धि बिसरानी सब·····"**। यक्ष **'अपरिगणयन्'** दशा में जाकर संसारगत परिगणनाओं को भूल गया। उसका दृष्टिबिन्दु ही और का और हो गया। उसके इस परिवर्तन में किस नियम ने काम किया ? उसको अन्तिम अनुभव की कोटि तक पहुँचाने के लिए किस प्रकार मन बुद्धि आदि अन्त:करणों को नया जन्म लेना पड़ा ? इसकी व्याख्या यही है :

**कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।"** (मेघ० ५)

**कामार्त की प्रकृतिकृपणता**

अब इस सूत्र को बराबर ध्यान में रखिए और फिर देखते जाइए कि इसकी दृष्टि कहाँ-कहाँ क्या कुछ देखती चलती है। रास्ते में था तो बहुत कुछ किन्तु इसका मन विशेषकर रमा उन्हीं दृश्यों पर जिनका इसकी भावनाओं से कुछ लगाव हो सकता था। या कालिदास के ही शब्दों में दूसरी प्रकार यों भी कह सकते हैं—**"कामी स्वतां पश्यति"**, पर यक्ष अब साधारण कामी नहीं; प्रेम की आग में तप कर अब उसकी वासना दिव्य बन चुकी है, उसका संतप्त हृदय इस विराट् जगत् के समस्त संतप्तों के साथ तादात्म्य स्थापित कर चुका है। इसीलिये तो वह इस विशाल जगत् में किसी को दु:खी नहीं देखना चाहता है, सब के सुख में ही अपना सुख देखता है। जहाँ कहीं भी उसने किसी को दु:खी देखा वहीं उसके सुख का विधान करने का अनुरोध किया। ऐसा व्यापक और उदार हो गया है उस सन्तप्त हृदय का प्रसार।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इसीलिये तो उसका सन्देशवाही मेघ केवल उसकी प्रिया के लिये ही सन्देश लेकर नहीं चलता, वरन् मार्ग में अनन्त जनों को अनन्त सन्देश सुनाता चलता है। वह स्वयं ही सन्देश रूप हो गया है।

**प्रशस्ति का प्रभाव**

अस्तु, मेघ से प्रार्थना करनी थी, कार्य कराना था अतः शिष्टाचारसम्मत स्वागत के उपरान्त गुणगान की बारी आई। मनुष्य चाहे जितना भी उदार हो, परोपकारी हो, पर प्रशंसा का भूखा तो होता ही है। यक्ष 'चेतन' की इस दुर्बलता को भली-भाँति जानता था। बहुत दिनों तक की गयी यक्षपति की सेवा से सम्भवतः उसका यह अनुभव और भी दृढ़ हो गया था। अतः प्रशंसा होने लगी मेघ के 'भुवनविदित वंश की', उसके महत्वपूर्ण कार्यों की, उसके गुणों की और साथ में ही निवेदन भी कर दिया अपनी विवशता का, दीनता का भी :

**जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानां**
**जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।**
**तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशात् दूरबन्धुर्गतोऽहम्**
**याञ्चामोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा॥ (मेघ० ६)**

(—हे मेघ! लोकप्रसिद्ध पुष्कर और आवर्तक मेघों के वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है, मैं जानता हूँ कि तुम्हीं इन्द्र के मुख्य कामरूप पुरुष हो। दुर्भाग्यवश मैं अपनी प्रिया से दूर आ पड़ा हूँ इसीलिये तुमसे कुछ याचना करने चला हूँ, क्योंकि गुणीजन से ही याचना करना ठीक है, चाहे वह असफल ही क्यों न हो। अधम से माँगना उचित नहीं, चाहे वह पूर्ण ही हो जाय।)

**निवेदन**

इतना सब कुछ हो लेने के बाद ही जी की बात जीभ पर आई और निवेदन हुआ—

**संतप्ततानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः**
**संदेशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।**
**गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां**
**बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या॥ (मेघ० ७)**

(—हे मेघ! तुम संतप्त प्राणियों के रक्षक हो, इसलिये कुबेर के कोप के कारण अपनी प्रेयसी से वियुक्त मुझ विरही का सन्देश मेरी प्रिया तक पहुँचा दो। इसके लिये तुम्हें यक्षपतियों की उस प्रसिद्ध अलकापुरी की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



यात्रा करनी पड़ेगी जिसके भवन उसके बाहरी उद्यानों में रहने वाले भगवान् शंकर के शिरस्थ चन्द्रमा की चाँदनी से सदा नहाए रहते हैं ।)

इस निवेदन में **'धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य'** पद यक्ष की मनोवृत्ति पर अथवा मानव मात्र के मनोभावों पर सुन्दर प्रकाश डालता है। मेघदूत के प्रथम पद्य मेंही कालिदास ने यक्ष का परिचय **'स्वाधिकारात्प्रमत्तः'** (अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन न करने वाला) कहकर दिया है, और यह प्रमाद ही है उसके सन्ताप और कुबेर के कोप का कारण भी। किन्तु धृष्ट मानव-मन अपने दुःखों के लिये अपने को कभी भी दोषी ठहराने को उद्यत नहीं। वह सदा अपनी विपत्ति के कारण को दूसरों के शिर ही मढ़ने को तत्पर रहता है। यक्ष-मनोवृत्ति भी इसी दिशा में काम कर रही है। उसने मेघ से यह नहीं कहा कि मैं अपने कर्तव्य से च्युत होने के कारण यह सन्ताप भोग रहा हूँ वरन् इस 'विश्लेष' का दोष कुबेर के शिर पर मढ़ दिया है।

**पराधीनवृत्तिता की कसक**

मेघ के ही द्वारा सन्देश भेजने के औचित्य की बात तो हो गयी किन्तु आठ महीने बाद आज सन्देश भेजने में क्या औचित्य है ? इसकी कुछ व्याख्या तो **'मेघालोके भवति सुखिनोप्यन्यथावृत्ति चेतः'** में हो गयी और रही सही कर डाली अब : —

**त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः**
**प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।**
**कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां**
**न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ (मेघ० ८)**

(—हे मेघ ! तुम्हें आकाश में उमड़ते देखकर प्रवासी पथिकों की वियोगिनी पत्नियाँ मुँह पर लटकते हुए बालों को हाथ से ऊपर करके इस विश्वास के साथ तुम्हारी ओर टकटकी बाँधकर देखेंगी कि अब उनके प्रवासी प्रियतम अवश्य लौट रहे होंगे। क्योंकि तुम्हारे घुमड़ने पर कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो कि अपनी विरह विधुरा पत्नी के प्रति उदासीन रह सके। यदि उसका जीवन मेरी तरह दूसरे के अधीन नहीं है।)

**संदेश का औचित्य**

इस **'पराधीनवृत्ति'** में कवि ने यक्ष की समस्त वेदना को उड़ेल दिया है। **'आर्द्रान्तरात्मा'** मेघ के मन में उसके प्रति संवेदना जागृत करने के लिये यह पद सर्वथा समर्थ है। ऐसे क्षणों में यदि स्वयं जा सकना अपने वश की बात

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



न हो तो सन्देश तो अवश्य ही जाना चाहिये। क्योंकि इसके न पहुँचने पर तो 'विरह के दिनों को गिनने में संलग्न, प्रियतम की बाट जोह-जोहकर अपने प्राणों को धारण करने वाली उस पतिव्रता यक्षिणी का वह आशा का बन्धन ही टूटकर बिखर जायेगा जोकि नारियों के फूल से सुकुमार प्रेम-भरे हृदयों को बचाकर रखता है :

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी–
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥ (मेघ० १०)

अतः सन्देश तो अवश्य ही ले जाना है। पर देखिए 'सन्देश' कहा गया है 'बहुत कुछ' कहने के बाद। वस्तुतः देखा जाये तो यही 'बहुत कुछ' ही तो इस मेघ सन्देश का 'सब कुछ' है। कालिदास की कला और यक्ष के हृदय इन दोनों को इसमें खुलकर खेलने का अवसर मिला है। इस 'बहुत कुछ' के बिना तो मेघ संदेश स्वयं ही जड़ीभूत हो जायेगा और वह जड़ सन्देश न किसी को प्रभावित कर सकेगा और न किसी में प्राणस्पन्दन ही।

**संवेदना का प्रसार**

अस्तु, मेघ का तो विरुद ही है 'संतप्तों का रक्षक', अतः जब संतप्त की गुहार लगी तो चल दिया 'यक्षेश्वराणां वसतिं' की ओर उसी कामी की मार्गदर्शक दृष्टि के साथ, उसी की कल्पना के रथ पर आरूढ़ हो कर। वियोगी का सन्देश ले जाने वाले को स्वयं भी तो वियोग की कुछ अनुभूति होनी चाहिये तभी तो वह सन्देश के सूत्रों का ठीक-ठीक भाष्य कर सकेगा। पत्नी-वियोग न सही मित्र-वियोग ही सही। और सखा भी तो ऐसा कि जो 'चिर-विरह' के बाद जब गले मिलता है तो उसे अपने गरम-गरम आँसुओं से नहला डालता है (आपृच्छस्व०—मेघ० १२)।

**प्रवृत्ति और प्रेरणा**

यक्ष यद्यपि यथाशीघ्र अपना सन्देश पहुँचवाने के लिए आतुर है, किन्तु स्थान का प्रताप कहिए या दण्ड की प्रभुता कि वह दूसरे के सुख और आराम की उपेक्षा नहीं कर सका। इसलिए सर्वप्रथम उसने मेघ की यात्रा के अनुकूल उस मार्ग की व्यवस्था की जिसमें उसके विश्राम, विनोद, खानपान आदि की समुचित व्यवस्था हो (१३) और फिर एक के बाद एक आकर्षणों की ऐसी व्यवस्था करदी कि वह न तो आगे जाने के लिए मन्दोत्साह हो और न गन्तव्य स्थान से

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पूर्व यात्रा का ही विराम हो। इसलिए हम देखते हैं कि यद्यपि मेघ के मार्ग में सभी कुछ रमणीय है, आकर्षक है, अद्भुत है किन्तु अलका का अलौकिक रूप इन सबसे भिन्न है। उसकी पूर्ति कोई भी नहीं कर सकता, न भौतिक दृष्टि से और न आध्यात्मिक दृष्टि से ही। न अलका सी नगरी कहीं है और न यक्ष-पत्नी सी नारी। इन दोनों का ऐसा कल्पनातीत सौन्दर्य है कि कोई भी मेघ उनके दर्शन के आकर्षण में अपने आप खिचा चला जायेगा।

**मनोभावों का प्रतिबिम्बन**

'कामी' यक्ष के कल्पना विमान पर आरूढ़ यह इन्द्र का 'कामरूप' पुरुष जब रामगिरि से अलका की ओर चला तो सबसे पहले उसे देखा 'भोली-भाली सिद्धाङ्गनाओं' ने। थोड़ा ही आगे चला तो आतिथ्य मिला 'भ्रूविलास नभिज्ञ भोली-भाली जनपदवधुओं के सतृष्ण नयनों' का। इसके बाद जब आम्रकूट पर्वत पर पहुँचा तो उसने उसे सिर आँखों पर बैठाया, जिससे उसकी छटा ही निराली हो उठी। स्वयं देवता भी उसे देखने को ललक उठे। 'कामी' की कल्पना तो देखिए :

**छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै—**
**स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।**
**नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां**
**मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥** (मेघ० १८)

(—पीले-पीले पके हुए जंगली आमों से लदे हुए वनों वाले उस आम्रकूट की चोटी पर जब चिकनी वेणी की तरह काले रंग वाले तुम घिर जाओगे तो उसकी शोभा ऐसी हो जायेगी जैसे कि बीच में साँवला और सब ओर से पीला पृथ्वी का उठा हुआ स्तन हो। उसकी इस शोभा को देखने के लिए देव-दम्पती भी ललक उठेंगे।)

इस पर्वत के कुञ्जों की महत्ता इसी में है कि उनमें 'वनचरों की वधुओं ने रमण किया है', अतः क्षणभर रुककर इस पवित्र तीर्थ का भी दर्शन होना ही चाहिए (**स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तम्**— मेघ० १९)। खैर, यहाँ तो क्षणभर दर्शनों का काम था सो हो गया, लेकिन आगे 'रेवा' के उस-पार 'आँखों में आँसू भर कर' कोई बाट जोह रहा हो तो? तब तो आगे बढ़ना ही कठिन हो जायेगा। किसी विरही की आँखों में, उसके आँसुओं में और उसके उन अव्यक्त शब्दों में कितना जोर होता है इसे विरही यक्ष भली-भाँति जानता है। सच है सच्चा प्रेमी किसी के प्रेम की उपेक्षा नहीं कर सकता,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



और इस वियोग से यक्ष की प्रेमविषयक जो हृद्गत उदारता बढ़ गयी है उसी का एक रूप है यह सम्भावना भी। कामी है तो सहृदय भी तो है। इसलिए कुछ ऐसे शब्दों में अपनी बात कहता है कि अगले को खटके नहीं, केवल स्वार्थ की ही गन्ध न प्रतीत हो :

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे ! मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुल्कापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ (मेघ० २२)

(—हे मित्र ! यद्यपि मेरा प्रिय कार्य करने के लिए तुम यथाशीघ्र जाओगे किन्तु फिर भी कुटज के फूलों से महकती हुई पर्वत चोटियों पर तुम्हारा अटक जाना असम्भव नहीं। सफेद डोरे खिचे हुए नेत्रों में आँसू भरकर जब मोर अपनी प्यारी वाणी से तुम्हारा स्वागत करेंगे तब तुम, जैसे भी हो, जल्दी ही आगे जाने का प्रयत्न करना।)

**अनुरूप प्रलोभन-योजना**

कामी यक्ष की चतुराई तो देखिए कि कामरूप पुरुष के लिए ऐसे मार्ग का विधान कर दिया जहाँ उसे 'कामुकत्व का अविकल फल' प्राप्त हो सकेगा। चंचल भौंहों वाली किसी छबीली वेत्रवती के मुख का पान करने का अवसर मिलेगा :

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा—
न्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ (मेघ०२४)

(— अपने ऐश्वर्य के लिए चारों ओर प्रख्यात राजधानी विदिशा में पहुँचने पर तुम्हें अपने रसिकपने का फल तुरन्त ही मिलेगा, क्योंकि चञ्चल लहरों वाली वेत्रवती के तट पर मन्द मन्द गर्जन करते हुए तुम ऐसे उसके जलों का पान करोगे जैसे कि कोई रसिक चञ्चल कटाक्षयुक्त प्रिया के मुख का पान करता है।)

भला किसी कामुक के लिये इससे बढ़ कर और क्या आकर्षण हो सकता था। और इसके उपरान्त विश्राम के लिए स्थान भी ढूँढा तो कहाँ ? उस निचले पर्वत पर जिसकी पथरीली कन्दराएँ यौवन से उन्मत्त नागरिकों द्वारा उपर्युक्त गणिकाओं के 'रतिपरिमल' से महक रही हैं :

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा–
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ।। (मेघ०२५)

यौवन की उद्दाम लीला को देखने के बाद तो अपना भी किसी से परिचय होना ही चाहिए, थोड़ी देर के लिये ही सही। अतः विधान हुआ कि 'विश्राम कर लेने के उपरान्त जंगली नदियों के तटों पर लगी हुई जूही के उद्यानों में उनकी कलियों को ताजी-ताजी जल की बूँदों से सींचते चलना। और साथ ही उन फूल तोड़ने वालियों से भी (छाया देकर) कुछ क्षणों के लिये परिचय कर लेना जिनके कि कपोलों के कमल पसीना पोंछते-पोंछते कुम्हला गये हों :

विश्रान्तः सन्व्रजवननदीतीरजालानि सिञ्च
न्नुद्यानां नवजलकणैः यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।।
(मेघ०२६)

**उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर की योजना**

यद्यपि अब तक जो कुछ देखा वह भी सुन्दर था मधुर था, उसका भी अपना आकर्षण था, किन्तु यह सब किसी विदग्ध 'कामरूप' नागरिक को रिझाने के लिये काफी न था। अब तक मिलीं भी तो कौन ? 'मुग्ध सिद्धाङ्ग-नाएँ,' 'भ्रूविलासानभिज्ञ जनपदवधुएँ,' या 'धूप से मुरझाये मुखों वाली पुष्प-लावियाँ', जिनमें सौन्दर्य तो है पर न विभ्रम है, न विलास। उसे तो चसका लगा हुआ है भौंहों की मटक, कमर की लचक और मेखला की छनक का। अतः उसे इन्हें पाने के लिये नगरों में प्रसिद्ध नगरी, स्वर्ग के कान्तिमान् खण्ड, उज्जयिनी जाना ही होगा। रास्ता यदि थोड़ा दूर भी हो जाये तो कोई बात नहीं। कम से कम नेत्र निर्वाण तो प्राप्त होगा ही :

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।। (मेघ०२७)

इसी उज्जयिनी के मार्ग में मिलेगी 'निर्विन्ध्या' भी, जो कि उन्मादिनी बन कर कहीं भँवर रूपी नाभि को दिखाती फिरती है तो कहीं विहग-पंक्ति रूपी करधनी को झंकारती हुई इठलाती फिरती है :

वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलित सुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ (मेघ०२८)

( — उज्जयिनी की ओर जाते हुए मार्ग में पड़ने वाली उस 'निर्विन्ध्या' नदी का भी रस लेते जाना जोकि अपनी उछलती हुई लहरों पर किलकारी भरते हुये हंसों की पंक्तिरूपी करधनी को झंकारती हुई और रुक-रुककर बहने के कारण भँवर रूपी नाभि को उघाड़ कर दिखाती हुई तुम्हें आमन्त्रित करती हुई दिखाई देगी। क्योंकि कामिनियाँ अपनी शृङ्गार चेष्टाओं द्वारा ही अपने प्रेमियों पर अपना प्रेम प्रकट करती हैं। )

**प्रेम का प्रसार**

इस निर्विन्ध्या के ग्रीष्म-कृश गात का प्रसंग आते ही यक्ष की आँखों में उसकी विरहविधुरा पत्नी का चित्र खिंच गया, हृद्गत प्रेम का प्रसार हुआ। निर्विन्ध्या का दुःख अपना दुःख हो गया। हो भी क्यों नहीं, वह तो उस आश्रम का वासी है जहाँ के कि पर्वत भी आँसू बहाते हैं। अतः मेघ से निवेदन होने लगा —

'देखो! तुम्हारे वियोग में उस निर्विन्ध्या की धारा चोटी के समान पतली हो गई होगी और तटवर्ती वृक्षों के पीले पत्तों के झड़ने से उसका रंग भी पीला पड़ गया होगा। इस प्रकार वह बेचारी तुम्हारे वियोग को प्रकट कर रही होगी। इसलिए हे सुभग! उस बेचारी की दुर्बलता जैसे भी दूर हो ऐसा उपाय अवश्य करना :

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ (मेघ०२९)

**उज्जयिनीवास का प्रयोजन**

और इसी के बाद आ पहुँची है स्वर्ग के जगमगाते टुकड़े के समान सदासुहागिन नगरी उज्जयिनी। इस विलास-नगरी में थोड़ी देर टिकने से तो बनेगा भी क्या? अतः कम से कम एक रात तो यहाँ बितानी ही चाहिये। यहाँ पर 'स्त्रियों की सुरतग्लानि को मिटाने वाला क्षिप्रावात (यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः) कामिनियों के केशों से बिखरने वाला मादक सौरभ (जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः); उनके महावर लगे चरणों से रञ्जित अटारियाँ (लक्ष्मी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पश्यल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु); युवतियों की जलक्रीडा (तोयक्रीडा-निरतयुवति०); रमणवसतियों को जाती हुई अभिसारिकाएँ, सभी कुछ तो दिल लगाने वाला है। इसलिये रात खूब अच्छी तरह से कटेगी। पर यह तो हुई प्रेक्षक की बात। इसमें नेत्र सुख तो है पर इससे आगे और कुछ नहीं। हो सकता है इतना भर आकर्षण किसी रसिक नागर को इतनी लम्बी दौड़ काटने के लिये आकर्षित न कर सके। अतः इससे आगे उससे जो कुछ कहा गया उसे भी सुनिये :

"सायंकालीन संन्ध्या के समय नृत्य में थिरकती हुई वारवनिताओं की करधनी के घुँघरुओं की छमाछम हो रही होगी। उनके कोमल हाथों में बड़ी नजाकत से रत्नों की चमक से झिलमिलाती मूठों वाली चौरियाँ डोल रही होंगी। और ऐसे थके हुए क्षणों में जब उनके नखक्षतों पर तुम्हारी ठंडी-ठंडी बूंदें पड़ेंगी तो वे भौंरों की कतार सी दीर्घ अपनी चितवनों से तुम्हें प्यारपूर्वक निहारेंगी :

पादन्यासक्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयिमधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥ (मेघ० ३५)

उस विलास नगरी में आगन्तुकों के मनोरंजन की भी कुछ व्यवस्था होनी ही चाहिये। 'वनिता' नहीं तो 'वारवनिता' ही सही। किसी कामुक के लिए यही क्या कुछ कम आकर्षण हो सकता है ?

**धैर्यच्युति**

दूर दिन चढ़ते ही आगे की यात्रा प्रारम्भ हो गयी। पर अभी बहुत दूर न जा पाये थे कि 'गम्भीरा' की प्रेमभरी चितवन से टक्कर हो गयी। कभी जब उसमें गम्भीरता थी तब सम्भवतः वह अपने मनोभावों को किसी पर प्रकट ही नहीं होने देती थी। किन्तु आज इस कामरूप मेघ को देखकर तो मानों उसका गाम्भीर्य ही जाता रहा। हृदय उत्कण्ठित हो उठा। मेघ का मोहक रूप उसमें प्रतिबिम्बित होने लगा और साथ ही आँखों से इशारे होने लगे, कमर की साड़ी खिसकने लगी। अब मेघ को उसके अनुराग का निश्चय हो ही जाना चाहिये। इसलिये यक्ष का उसे उपदेश है कि वह अपने धैर्य को पकड़ कर न बैठा रहे, अपनी संयम जड़ता से उसके कटाक्षों को निष्फल न बना दे :

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ (मेघ०४०)

ऐसी स्थिति में उसके प्रेम को ठुकराया तो नहीं जा सकता। रसिक 'रसपान' करके ही आगे बढ़ेगा। गम्भीरा का रूप भी तो कुछ ऐसा ही बन गया है। 'तट से हटी हुई जल रेखा और उस पर झुकी हुई वेंत की लताएँ कुछ ऐसा चित्र बना रही हैं जैसे किसी कामिनी का अधोवस्त्र उसके नितम्ब प्रदेश से खिसक पड़ा हो और वह लज्जित हो अपने हाथों से उसे पकड़ने का असफल प्रयास कर रही हो। उसका यह रूप देखकर उस पर झुका हुआ रसिक मेघ भी वहाँ से न जा सकेगा। क्योंकि जवानी का रस ले चुकने वाला ऐसा कौन रसिक होगा जोकि कामिनी के अनावृत जघनस्थलों को देखकर उसका रस लिये बिना ही वहाँ से चल दे :

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे ! लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥ (मेघ० ४१)

लोग क्या कहेंगे इसकी चिन्ता किये बिना ही रसिक कवि भी मानव स्वभाव की उस बहुत बड़ी कमजोरी की पोल खोल गया जिसे कि वह अपने कृत्रिम लबादे में छुपाये रखना चाहता है।

**स्थान का प्रभाव**

अस्तु, मेघ को अपनी 'वक्र' यात्रा का हर प्रकार का पूरा-पूरा फल मिल गया। अब उसे इस बात की कोई शिकायत नहीं रहनी चाहिये कि उसे रास्ते का इतना बड़ा चक्कर खाना पड़ा। इससे आगे आ रहा था कुमार कार्तिकेय का निवासस्थल देवगिरि। किसकी हिम्मत कि जो इस प्रदेश में 'विलास' और 'वनिता' का नाम भी ले सके। और दूसरी बात, मेघ जिस 'मघवा' का प्रधानपुरुष है 'स्कन्द' उसी की रक्षा करने वाला सेनानी। अतः मेघ स्वर्ग गंगा के जल में भीगे हुये सलिल पुष्पों से उनका अर्चन करके और उन्हें प्रणाम करके चुपचाप आगे खिसककर चर्मण्वती का सम्मान करने के लिए नीचे उतर पड़ा। देखिए छबीले मेघ ने कैसा रंग बदला है यहाँ आकर। जो आम्र-कूट पर—मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः (मेघ०१८) की शोभा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



बन कर छाया था वही यहाँ आकर एक पहाड़ी नदी के सम्पर्क में 'पृथ्वी के वक्ष पर मोतियों के हार के बीच में गुथे हुए इन्द्रनील मणि के मनके के समान (एकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्—मेघ०४६) बन गया। किया न समझदारी का काम ?

**अन्तःकरण की शुद्धि**

इससे आगे का प्रदेश तो पवित्र ब्रह्मावर्त प्रदेश है जहां एक ओर कुरु प्रदेश की सीमा पर अन्तःशुद्धि करने वाली सरस्वती बहती है और दूसरी ओर परमपावनी भागीरथी। मेघ का अन्तःकरण भी सरस्वती के पावन जल का पान करके शुद्ध हो गया। इसके उपरान्त कनखल में जाह्नवी का दर्शन कर तथा उसका जलपान करते समय अपनी छाया से वहाँ त्रिवेणी संगम का दृश्य उपस्थित कर अलका की चढ़ाई की यात्रा प्रारम्भ कर दी। इस यात्रा में कहीं अपनी जलधाराओं से चमरी गायों के दुःख का हरण करता तथा कभी व्यर्थ के कामों में हाथ डालने वाले शरभों पर ओलों की वृष्टि करता हुआ हिमगिरि की उस चट्टान तक पहुँचा जहाँ भगवान् शंकर के चरण-चिह्न बने हुए थे।

स्मरण रहे कि देवगिरि से लेकर अलका तक की यात्रा बिल्कुल निर्विकार रूप से की गई है; न कहीं 'काम' है और न 'कामिनी।' अपने को पुष्पाकार बनाकर भगवान् कार्तिकेय के स्नान कराने वाले, भगवान् शंकर के चरण-चिह्नों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करने वाले या उनके चरणों के नीचे सीढ़ीनुमा बनकर लोट जाने वाले मेघ की श्रद्धा और भक्ति को देखकर तो कल्पना भी नहीं हो सकती कि यह वही विलासी 'कामरूप पुरुष' है जो कि पुष्पलावियों से क्षण परिचय के लिए उत्कण्ठित था, या जो निर्विन्ध्या की चञ्चल चितवन देखकर अपना संयम ही खो बैठा था। उज्जयिनी की कामिनियों के चञ्चल कटाक्षों की झांकी लेने के लिए सहज ही मार्ग का इतना लम्बा चक्कर काटने को तैयार हो गया था।

**संस्कारों का प्रभाव**

पर इसमें मेघ का ही क्या दोष ? क्या समस्त मानव स्वभाव ही ऐसा नहीं ? कोई भी मानव मूलतः बुरा नहीं। उसे जैसे चाहे बदला जा सकता है। इसी धारणा ने तो महात्मा गांधी के सत्याग्रह को बल दिया था। डाकुओं और लुटेरों को भी दान और परोपकार करते देखा गया है, देव मन्दिरों में श्रद्धा और भक्ति से प्रणाम करते, भेंट चढ़ाते या इन स्थलों पर अपनी प्रवृत्ति से विरत होते देखा गया है। प्राक्तन संस्कार कहिए या स्थान का प्रभाव कि कामी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



और विलासी भी तीर्थस्थल वा देवमन्दिरों में जाकर वासनामुक्त हो ही जाते हैं। पर उतनी देर के लिए जितनी देर कि वे उस प्रभाव से प्रभावित होते हैं। यक्ष-दूत की भी तो यही दशा है। यक्षेश्वरों की विलास नगरी में पहुँचते ही फिर वही दृष्टि फिर गई। आँखों में फिर से रंगीनी छाने लगी। कैलास की गोदी में बसी अलका पहली दृष्टि में ही उसे ऐसी दीखने लगी जैसे कि कोई कामिनी अपने प्रेमी की गोदी में बैठी हो और वहाँ से निकलती हुई गंगा ऐसी लगने लगी जैसे कि उस कामिनी की साड़ी खिसक पड़ी हो :

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्। (मेघ० ६३)

**स्मृति और साहचर्य**

वैभव और विलास से भरपूर इस सदासुहागिन नगरी का संकीर्तन होते ही 'कामी' यक्ष की आँखों में वहाँ के वे सारे दृश्य घूम गये जिनसे उसका भावनात्मक सम्बन्ध था। वहाँ पर होगा तो और भी बहुत कुछ किन्तु यक्ष के रागाभिभूत मानस पटल पर उसकी परछाई न पड़ सकी। सबसे प्रथम चित्र जो उसके मानस पर उभरा वह था उन छैलछबीली (ललितवनिता) यक्षिणियों का जो कमल के आभूषण पहने, अपनी चोटियों को कुन्द की कलियों से सजाए, मुख पर लोध्र पराग लगाए, जूड़े में कुरवक और कानों में सिरस के फूलों को खोंसे हुए, अपनी मांगों को कदम्ब के फूलों से सजाए इस विलास नगरी में चहकती फिरती हैं (हस्ते लीलाकमलमलके०—मेघ० ६५)।

कहा जाता है कि मानव मन उन चित्रों को अधिक संजोकर रखता है जिनसे कि उसका विशेष रागात्मक सम्बन्ध होता है। कामी यक्ष भी कभी इसी नगरी का एक प्राणी था। यद्यपि आज एक 'सारिका' को छोड़कर सभी यक्ष को भूल गए हैं, किन्तु कभी वह भी इन बांके छबीले रसिकों की गोष्ठियों का नेतृत्व करता था। बीते दिनों की यादें, अनुभूतियाँ मन को रह-रहकर कचोटती हैं। यक्ष ने वहाँ के सारे राग-रंग देखे थे, स्वयं भी उनका भुक्त-भोगी था। इसलिए उस नगरी का नाम आते ही फिर एक बार भावावेश में वह गया, स्वप्नलोक में खो गया और घर का पता बताने एवं संदेश की बात कहने के बजाय वहाँ की रंगीनियों का निरूपण करने में लग गया। अव्यवस्थित मनोदशा में यही सब कुछ तो होना था। उसे याद आने लगीं वे चन्द्रिका चर्चित रातें जब संगमरमर की अटारि ों पर वह भी अन्य यक्षों की भाँति अपनी पत्नी के साथ बैठकर संगीत का आनन्द लेता था और मधुरतिफल नामक मधु का पान

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



करता था (**यस्यां यक्षाः०—मेघ० ६६**) । इस यक्षपुरी के वैभव और विलास के उद्दीपक वातावरण के बीच कभी वह भी तो अपने चञ्चल हाथों से अपनी 'विम्बाधरोष्ठी' प्रेयसी के नीवी-बन्ध को ढीलाकर उसकी रेशमी साड़ी को हटाने की चेष्टा करता था और वह बेचारी लाज के मारे रत्नदीपों पर कुंकुम के चूर्ण की मुट्ठियाँ भर-भरकर डालती हुई उन्हें बुझाने का विफल प्रयास करती थी :

**नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्रविम्बाधराणां**
**क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।**
**अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्त रत्नप्रदीपान्**
**ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ (मेघ० ६९)**

उसे याद आने लगी चित्ररथ नामक उद्यान की संगीत गोष्ठियों की, कामिनियों के अभिसार की, और उन कामिनियों की प्रेमभरी चितवन की जिनके कारण वहाँ कामदेव को अपना धनुष चढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती :

**सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै—**
**स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेवसिद्धः ॥ (मेघ० ७१)**

उनके रंग-बिरंगे वस्त्र, मधु से मादक आँखें, पुष्पकिसलयों एवं भाँति-भाँति के आभूषणों से सज्जित अङ्गलतिका, महावर से रंगे लाल-लाल चरण (**वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं०— मेघ० १०**) सभी कुछ तो प्रत्यक्षवत् दिखाई देने लगा ।

भावावेश कुछ कम हुआ तो फिर अपने घर का पता बतलाने लगा । बस, उस अलका में कुबेर के भवन के उत्तर की ओर मेरा घर है—(**तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं०— मेघ०७२**) इतनी बात कही कि फिर वहाँ के वैभव की चकाचौंध में खो गया । इस 'बालमन्दारवृक्ष' 'सुवर्ण कमलों वाली वावड़ी' उसकी 'पन्ने की सीढ़ियों' उसके किनारे बने हुये चारों ओर से सोने के केलों से घिरे हुये इन्द्रनीलमणि के क्रीड़ा पर्वत, उसी पर कामिनियों के 'पादाघात' एवं 'वदनमदिरा' के लिये तरसने वाले अशोक और मौलसिरि के वृक्षों के झुरमुटों में बने 'माधवी मण्डप' के साथ न जाने उसकी कितनी मधुर स्मृतियाँ जुड़ी हुई थीं । आज उनका स्मरण आते ही यदि वह भाव-विभोर होकर उनके वर्णन में डूब जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या, प्रिया के साथ बिताये गये मधुर क्षणों के साक्षी तो यही हैं न ?

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**भावावेश और आनन्दानुभूति**

यों तो घर की पहचान बताने के लिये एक दो बातें ही पर्याप्त थीं पर यक्ष को इतने भर से सन्तोष कैसे हो सकता था। उसका इनके साथ केवल संकेतबोध का ही तो सम्बन्ध न था। वस्तुतः भावावेश में कहने वाले को तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक कि वह सम्बन्धित व्यक्ति वा वस्तु के विषय में सारी बातें न बता दे। कभी कभी तो वह एक ही बात को कई बार कह जाता है और फिर भी नहीं थकता। दूसरों की दृष्टि में अकिंचन वा लघु दीखने वाली बातें भी उसके लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी तो सुनने वाले के लिये इस बात का अनुमान लगाना भी कठिन हो जाता है कि कहने वाला उसे कहने में कितने आनन्द का अनुभव कर रहा है।

घर की पहचान में जो कुछ बताया गया था वही किसी भी अपरिचित के पथ-प्रदर्शन के लिये पर्याप्त था पर यक्ष कुछ और बताये बगैर न रह सका, क्योंकि उसका सम्बन्ध 'गृहिणी' से था। प्रियजन के गुणों का गान करने में भी मानसिक आनन्द प्राप्त होता ही है। यक्ष की प्रिया एक कुशल 'गृहिणी' भी है और वह प्रतिदिन अपने गृहद्वार को 'आलते' की सुन्दर आकृतियों से सजाया करती है। भला इस बात का संकीर्तन करना वह कैसे भूल सकता था ?

द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा। (मेघ०७७)

**रागात्मक केन्द्र तथा मानसिक प्रतिक्रिया**

बस, इसके बाद ज्योंही यक्ष के मानस पटल पर विरहविधुरा कान्ता की परछाईं पड़ी विश्व के समस्त चित्र ओझल हो गये। वह यक्ष की कल्पना पर छा गयी और इससे आगे समस्त मेघदूत उसी के वर्णन में समाप्त हो जाता है। यक्ष का मन तभी तक अन्य दृश्यों को देख सकता था जब तक कि वह उस केन्द्रबिन्दु से पृथक् है जिसने कि उसे उन्मादक बना रखा है। उसके मन की उड़ान, कल्पना का विलास तभी तक है जब तक कि वह उस अभीष्ट से वियुक्त है (**वियोगी होगा पहला कवि**)। मानसिक वा शारीरिक किसी भी रूप में उसके साथ मिलन हो जाने पर फिर वही शेष रह जाता है। समस्त मानस पर छा जाता है। फिर तो दर्शन हैं तो उसी के और गुणगान है तो उसी का। वह प्रियजन चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक।

मेघ जा पहुँचा क्रीडाशैल पर और उसके शिखर पर बैठकर चिलकने लगा है बार-बार। उस खद्योतपुंजप्रभा से घर का कोना बार-बार दीपित हो उठेगा। यहाँ पर यक्ष ने विशेष तौर पर उससे बार-बार चमकने का

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



निदेश किया है। कारण ? यक्ष समझता है कि उसकी वियोगिनी रानी मेघ की ओर विशेष रूप से उन्मुख तभी होगी जबकि वह देखेगी कि यह मेघ तो निरन्तर स्फुरण करके कुछ संकेत सा कर रहा है। अन्यथा यों तो वहाँ सदा मेघ आते रहते हैं और दो चार बार चमक-दमक कर चले जाते हैं। उन पर कोई विशेष ध्यान नहीं देता। अतः यदि कोई मेघ निरन्तर चमकता ही जाय और उसकी जुगनुओं की सी चिलकन बन्द होने का नाम ही न ले तो देखने वाले को उस पर अवश्य ही कुतूहल होगा और वह उसकी ओर आकर्षित हो जायेगा :

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसननिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॥ (मेघ० ७८)

**अनुराग और अनुरञ्जन**

और इसी 'विद्युदुन्मेषदृष्टि' में ही दिखाई देगी वह सौन्दर्य-प्रतिमा, विधाता की आदि सृष्टि यक्षिणी। छरहरा बदन, उभरता हुआ यौवन, नुकीली दन्तपंक्ति, बिम्बफल से लाल होंठ, पतली कमर, चकित हरिणी सी चञ्चल चितवन, गहरी नाभि, गति के अवरोधक भारी नितम्ब, तनलता को झुका डालने वाले उन्नत उरोज-यही सब कुछ तो था उसका रूप जब यक्ष उसे छोड़ कर चला था :

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ (मेघ० ७९)

हाँ, यही था उसका रूप ! और स्मरण रहे विश्व के समस्त प्रियों की आँखों में उनकी प्रेयसियों का यही रूप होता है। किसी भी प्रेमी की प्रेमिका में उसकी आँखों से देखने पर यक्षपत्नी के सौन्दय से किंचित् मात्र भी कमी न मिलेगी। क्या प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका को धाता की अद्वितीय सृष्टि नहीं समझता ? कालिदास कहते हैं— किसी कामिनी का सौन्दर्य उसकी शारीरिक बनावट में इतना नहीं होता जितना कि उसके चाहने वाले की भावनाओं में होता है (**प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता—कुमारसम्भव ५/१**)।

अब देखना यह है कि यक्ष का मन उस 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' 'चकितहरिणी-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रेक्षणा' एवं 'श्रोणीभारादलसगमना' के विषय में क्या कुछ कल्पना करता है। वह सोचता है कि उसकी वह प्राणेश्वरी उससे बिछुड़कर चकवे से बिछुड़ी हुई चकवी के समान व्याकुल हो खोई-खोई सी हो गयी होगी। विरह के कठोर दिनों से संतप्त हो उसका वह रूप मुरझाकर ऐसा ही हो गया होगा जैसे कि पाले से मारी हुई कमलिनी का :

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्॥
(मेघ० ८०)

इतना ही नहीं, वरन् विछोह में रोते-रोते उस 'हरिणाक्षी की चञ्चल आँखें' सूज गई होंगी और गर्म-गर्म आहों से उसके 'बिम्बाधरों' का रंग फीका पड़ गया होगा। हथेली पर रखा हुआ तथा बिखरे हुए बालों से आधा ढका हुआ वह चन्द्रमुख भी तो मेघ से ढके हुए चन्द्रमा के समान कान्तिहीन दिखाई दे रहा होगा (नूनं तस्या०)।

**प्रतिकूल परिस्थिति एवं अनुभूति की तीव्रता**

उसकी पीड़ा और तीव्र हो उठी जब उसे ध्यान आया उन दिनों का जब कि यह 'नवोढा' प्रियतम के पास रहने से फूली न समाती थी; चकई सी नाचती फिरती थी। अन्य रमणियों के समान ही कल्पवृक्ष से प्राप्त होने वाले रंग-बिरंगे वस्त्र, कटीली आँखों में बाँकापन बढ़ा देने वाली मदिरा, सुन्दर सुरभित पुष्पपल्लवों के आभरण, पैरों में लगाने के लिए महावर आदि समस्त सौन्दर्य-प्रसाधन पाकर छबीली बनी फिरती थी और आज वही मैले कपड़े पहने, गोद में वीणा लिये प्रियतम के गीत गाकर मन को बहलाने का उपक्रम कर रही होगी। पर गीत तो ठीक-ठीक गाये जा सकते हैं व्यवस्थित दशा में ही, पर यहाँ तो गाना शुरू किया ही था कि याद आ गयी प्यारे की, आँखें उमड़ पड़ीं, वीणा भीगने लगी, दिल भर आया, भूल गयी सब सुध-बुध, फिर भला किसे ध्यान स्वरों के उतार चढ़ाव का :

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ (मेघ० ८३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**वियोगियों की सामान्य मन:स्थिति**

कहते हैं प्रियजनसम्बन्धी विनोद से प्रेम का प्रसार होता है और जीवन को रस मिलता है। यक्ष भी तो कभी 'प्रियंगुलता में उसके छरहरे शरीर, चकित हरिणियों के नेत्रों में उसके कटाक्ष चन्द्रमा में उसके मुख की कान्ति, मोरपंखों में केश-सौन्दर्य, और नदी की इठलाती लहरों में चञ्चल भौंहों की समता निहारता है (**श्यामास्वङ्गं०— मेघ० १०१**) तो कभी चट्टान पर गेरू से उसका चित्र बनाता फिरता है (**त्वामालिख्य०—मेघ० १०२**)।

पर ध्यान रहे 'प्रिय' सादृश्य की खोज में भटकता है तो भटकता फिरे पर प्रिया को तो किसी कोने में बैठकर ही अलख जगाना है। इसीलिए तो वह समझता है कि वह या तो अपने भावों के अनुसार मेरे विरहक्षीण शरीर का चित्रांकन कर रही होगी (**मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती—मेघ० ८२**) या घर के कोने में बैठकर वीणा से अपना मन बहलाती होगी, या देहली में पूजा के लिए चढ़ाए गए फूलों को गिन-गिनकर वियोग की अवधि के दिनों को गिनती होगी, या फिर भाँति-भाँति के रति-सुखों को मन में सोचती हुई मुझसे मिलन के रस का आस्वादन करती होगी। क्योंकि प्रियतम के वियोग में वियोगिनी स्त्रियाँ प्राय: इसी प्रकार अपने मन को बहलाया करती हैं।

दोनों के भाग्य में रोना ही रोना लिखा है। यक्षिणी वीणा लेकर प्रिय के गीत गाकर जी बहलाने का उपक्रम करती है तो उसकी वीणा के तार आँखों से टपकते हुए बड़े-बड़े आँसुओं से गीले हो जाते हैं और यक्ष उसका प्रणय-कुपित चित्र बनाकर उसके चरणों में पड़ने का उपक्रम करता है तो उसकी दृष्टि आँसुओं से अवरुद्ध हो जाती है।

वियोगी यक्ष का मन वियोगिनी यक्षिणी के लिए भी उन्हीं रूपों की कल्पना करता है जिनका कि उसे स्वयं भी सामना करना पड़ता है। दिन तो ज्यों-त्यों बीत ही जाता है पर रात्रि बिताने की समस्या दोनों के सम्मुख एक सी है। यदि यक्ष को रात्रि लम्बे-लम्बे प्रहरों वाली प्रतीत होती है (**संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा—मेघ० १०५**) तो यक्षिणी भी इस द्रौपदी के चीर सी लम्बी रात को गर्म-गर्म आँसू बहाकर तिल-तिल करके काटती है (**तामेवोष्णै-विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् —मेघ० ८६**) इसीलिए तो यक्ष मेघ से कहता है कि 'बेचारी का दिन तो किसी न किसी प्रकार कट ही जाता होगा पर रात्रि को कोई विनोद न होने से उसका दु:ख तीव्रतर हो उठता होगा। सम्भवत:

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विधि के विधान में वियोगियों के लिए रात दिन गरम-गरम आहें भरने और आँखों का उष्ण जल पीने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

**चिन्तन और स्वप्न**

नींद तो जैसे दोनों से ही रूठ बैठी है। दोनों में ही स्वप्न मिलन की आकाङ्क्षा है (**मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रामाकाङ्क्षन्ती०—मेघ० ८७** तथा **कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु— मेघ० १०३**) पर नींद तो आती ही नहीं। यदि कभी कुछ क्षणों लिए के नींद आ जाये तो दोनों ओर ही स्वप्न का एक ही लक्ष्य होता है 'गाढ़ालिंगन'। उधर तो यक्ष मेघ से कहता है—यदि वह सोई हो तो तुम एक पहर तक उसकी नींद खुलने की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना, कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे गर्जन से उसकी नींद बीच में ही भंग हो जाये और उसका आलिंगन सुख बीच में ही विच्छिन्न हो जाये :

**मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्**
**सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम्॥** (मेघ० ९४)

और इधर अपनी दशा का वर्णन करते हुए वह कहता है कि जब मुझे किसी प्रकार स्वप्न में तुम्हारा मिलन हो जाता है तो मैं तुम्हें अंक में भरकर तुम्हारा गाढ़ आलिंगन करने के लिए अपनी भुजायें शून्य में उठाकर स्थलीदेवताओं की सहानुभूति का पात्र बना करता हूँ :

**मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो–**
**र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु॥** (मेघ० १०३)

यह तो सर्वथा मनोविज्ञान सम्मत ही है कि दिन-रात जिस वस्तु की चिन्ता की जाती है, सुषुप्ति की अवस्था में भी उसी के दर्शन होते हैं। इस स्वकल्पित जगत् में भी प्राणी उसी प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है जिस प्रकार कि यथार्थ जगत् में। यहाँ तक कि शारीरिक प्रक्रिया में भी जागृत जगत् की भाँति ही कार्य करती हैं और आनन्द प्राप्ति के उपरान्त स्वयं ही जागृत अवस्था प्राप्त हो जाती है। किन्तु बीच में ही कारणान्तर से निद्रा का विच्छेद हो जाने पर उस सुख का भी विच्छेद हो जाता है। क्योंकि यक्षिणी युवती (श्यामा) है और युवा नर-नारियों के रति-सुख की मर्यादा एक याम मानी गयी है। इसीलिए यक्ष मेघ को परामर्श देता है कि वह यदि उसकी पत्नी को सोती हुई पावे (**लब्धनिद्रासुखा**) तो कम से कम एक पहर तक (**याममात्रं**) उसके जागने की प्रतीक्षा करे :

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तस्मिन् काले जलद ! यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या—
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व ।
मा भूदस्या प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ (मेघ० ९४)

"स्वप्न में मानसिक विक्रिया के कारण जो शरीर मथ जाता है उससे जागृत दशा के समान ही रतिग्लानि होती है।" इसलिए यक्ष ने अगले श्लोक में इसे ही व्यंजित करके उसका उपचार भी बताया है :

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां समभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम् ॥ (मेघ० ९५)

(अपने जल की फुहारों से शीतल वायु से पहले मालती के फूलों के समान मेरी प्यारी को आश्वस्त कर लेना और तब मेरा सन्देश यों कहना प्रारम्भ करना ।)

**स्नेह और मनोदौर्बल्य**

सर्वविदित है कि स्नेह पापशंकी होता है। अत्यधिक स्नेह में संकट आने पर अशुभ बातें पहले मन को घेर लेती हैं। यक्ष इस बात को भली भाँति जानता था। उसे घर से प्रवास में आये हुए आठ महीने हो चुके हैं। इस बीच उसकी पत्नी के पास उसका कोई कुशल समाचार नहीं पहुँच सका है। स्वभावतः उसके मन को तरह-तरह की अशुभ आशंकाएँ आ घेरती होंगी। उसके जीवन के विषय में भी वह संदिग्ध हो उठती होगी। ऐसी स्थिति में पति के स्थान पर अचानक किसी अप्रत्याशित संदेशवाहक को आया देखकर उसका हृदय कहीं किसी अप्रत्याशित की आशंका से विखण्डित न हो उठे इसलिए यक्ष ने मेघ को संदेश की शब्दावली बताते हुए सर्वप्रथम शब्द कहे—

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे ! विद्धि मामम्बुवाहम्
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ (मेघ० ९६)

(—हे सुहागिनी, मैं तुम्हारे पति का प्रिय मित्र हूँ और उसके संदेशों को हृदय में धारण करके तुम्हारे पास आया हूँ। मैं ही वह व्यक्ति हूँ जोकि अपनी धीमी और मीठी गर्जना से मार्ग में थके हुए उन प्रवासी पतियों को घर लौटने के लिए उतावला कर डालता हूँ जोकि अपनी प्रेयसियों की उलझी हुई लटों को सुलझाने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं।)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वस्तुतः कालिदास ने यहाँ पर 'भर्तुर्मित्रं' और 'अविधवे' में ही सारा संदेश कहलवा दिया है। यही समस्त संदेश का प्राण है, बाकी तो सब इसका कलेवर है। इस दीर्घ वियोग में संदेश का सबसे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण अंश हो सकता है यक्ष की 'अव्यापन्नता' (सकुशलता) उस वियोगिनी पतिव्रता के लिए तो यही सबके अभिलषित संदेश होगा कि उसका पति 'अव्यापन्न' अथ च जीवित है। उसके जीवन की आशंका ही तो उसे रात-दिन खाये जा रही होगी। इसलिए यक्ष ने सबसे पहले उसके लिए **अविधवे !** (सौभाग्यवती !) सम्बोधन कराया है ताकि किसी दूत को आया देखकर उसका मन किसी अनिष्ट की आशंका न कर बैठे अथवा भग्न न हो जाये। फिर मेघ को भी कहा कि वह अपने को कोई दूत वा संदेशवाहक न कहकर 'भर्तुमित्रं' कहे। क्योंकि कालिदास के अनुसार 'मित्रत्व' एक वही उदात्त स्थिति का द्योतक है। उनके अनुसार मित्र का स्नेह सर्वोपरि होता है—

दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥

(कुमार० ४/२८)

वह प्रिय का प्रिय-मित्र 'कान्त' का संदेश ला रहा हो तो फिर आशंका रह ही कहाँ जायेगी ? क्योंकि प्रियजन के प्रिय मित्र के द्वारा लाया गया संदेश लगभग मिलन के ही समान आनन्ददायक हुआ करता है (**कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किंचिदूनः। —मेघ० ९७**) अब न प्रिय के अनिष्ट की कोई आशंका रह सकती है और न संदेशवाहक के प्रति ही। ऐसे संदेशवाहक के द्वारा लाया गया प्रिय का चिरकांक्षित सन्देश कितना आनन्ददायक होगा इसकी तो बस कल्पना ही की जा सकती है। सच तो यह है कि इस विशिष्ट संकेत के बाद तो **"अव्यापन्नः कुशलमबले ! पृच्छति त्वां वियुक्तः"** (मेघ० ९८) (हे अबले ! तुम्हारा वह वियोगी प्रिय कुशलपूर्वक है और तुम्हारी कुशल पूछता है) यह वाक्य पुनरुक्त सा लगने लगता है।

हम पहले ही कह आये हैं कि यक्ष अपने संकल्पों और अनुभूतियों के आधार पर ही अपनी प्रेयसी की दशा की कल्पना कर रहा है। उसका भी प्रेमी हृदय उसकी व्यथाओं के प्रति किस प्रकार आशंकित हो उठा है इसकी अभिव्यक्ति स्वयं उसके निम्न शब्दों से हो उठती है :

अङ्गेनाङ्गं प्रतनुतनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती**
**संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ (मेघ० ९९)**

(अर्थात् उससे कहना कि तुम से दूर बैठे हुए तुम्हारे सहचर के मिलन-मार्ग में तो विधाता वैरी बनकर बैठा है किन्तु फिर भी वह अपने दुबलेपन, तपन, निरन्तर बहती हुई अश्रुधारा, मिलन की उत्कण्ठा और गर्म-गर्म उसांसों को देखकर मन में सोच लेता है कि तुम भी विरह में उसी के समान दुर्बल हो गयी होगी, वैसे ही विरह से तप रही होगी। आँखों से निरन्तर आँसू झरते होंगे, मिलन के लिए सदा ही व्याकुल रहती होगी। और उसके ही समान दिन रात गर्म-गर्म उसांसें छोड़ती होगी।) इस कथन के विषय में हमें मानना होगा कि न तो यह यक्ष की कोरी कल्पना ही है और न कोरी भावुकता ही। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अत्यधिक स्नेह की स्थिति में कोई भी स्नेही-हृदय इस प्रकार की सम्भावना किये बिना नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त प्रेम के क्षेत्र में मन की यह भी एक विचित्र प्रवृत्ति पायी जाती कि जहाँ एक ओर वह अपने प्रियजन का कुशल वृत्तान्त पाकर आनन्दित होता है वहीं उसे यह जानकर अत्यन्त सन्तोष भी होता है कि उसका प्रियजन भी उसके वियोग में उसी के समान मिलन के लिए आकुल तथा वियोग-विधुर है। इसके विपरीत यदि उसे यह सूचना मिले कि उससे वियुक्त होकर भी उसका प्रियजन तो सुखी एवं आनन्दित है तो उसके लिए यह समाचार प्रसन्नता के बदले पीड़ा-कारक हो उठता है। कैसी जटिल हैं इस मन की प्रवृत्तियाँ भी !

इसके बाद यक्ष ने जो संदेश दिया है उसमें केवल यक्ष की ही मनोदशा एवं भावों की अभिव्यक्ति नहीं वरन् समस्त विरह-व्यथित मानव के हृदयों की प्रतिध्वनि है। यक्ष के प्रेम-कातर हृदय से निकलने वाला यह प्रणय-संदेश वेदना, टीस और अतृप्त अनुराग की अनुभूतियों से सराबोर है। उसके एक-एक शब्द में कालिदास की कल्पना उतनी नहीं जितनी कि विरह की तीव्र अनुभूति है। निःसन्देह यह समस्त सन्देश संस्कृत साहित्य की ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की आलौकिक निधि है, वियोगियों का वेदमन्त्र है, 'सर्मन' है।

**मनोविज्ञान का मूलमन्त्र**

अन्त में, यक्ष-सन्देश का वह भाग तो सुवर्णाक्षरों में अंकनीय है जिसमें कि उसने सूत्र रूप से जीवन के उस परम रहस्य का उद्घाटन कर दिया है जो कि दर्शन और मनोविज्ञान का मूलमन्त्र है। कालिदास मानता है और **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'** के स्वर में स्वर मिलाकर कहता है कि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



हमारे जीवन की समस्त सफलता-असफलता, वा सुख-दुःख का आधार हमारा मन ही है। मनोबल के सहारे मानव बड़े से बड़े संकट का भी सामना कर सकता है और उस पर विजय पा सकता है। **'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमव-सादयेत्'** के द्वारा भी हमारे ऋषियों ने हमारे कानों में मनोविज्ञान के इसी मूलमन्त्र को फूंका था और उसे ही कालिदास ने काव्यमय भाषा में यक्ष के द्वारा यों कहलवाया—

**नन्वात्मानं बहुविगणयन्नात्मनैवावलम्बे**
**तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।**
**कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा**
**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥ (मेघ० १०६)।**

(हे मंगलमयी ! जिस प्रकार मैं स्वयं अपने आपको ढाढस बँधा बँधाकर जीवन धारण कर रहा हूँ ऐसे ही तुम भी अपने मन को दृढ़ करते रहना; उसे कातर न होने देना। मिलन अवश्य होगा क्योंकि जीवन में न कोई सदा के लिए दुःखी हो सकता है और न सुखी ही। भाग्य-चक्र के अरे कभी नीचे होते हैं तो कभी ऊपर भी उठते ही हैं।)

**मनःस्थिति पर परिस्थितियों का प्रभाव**

यों तो मन का क्षेत्र विशाल, अपरिमेय तथा विविधपक्षीय है किन्तु हम देखते हैं कि वह भी जब किसी विशेष भाव वा परिस्थिति से घिर जाता है तो वह अपने आपको अन्य क्षेत्रों से सिकोड़कर उसी पर विशेष रूप से केन्द्रित कर डालता है। हम जानते हैं कि दुःख तो दुःख ही है उसका स्रोत चाहे कोई क्यों न हो, पर साथ ही यह भी देखा जाता है कि मानव मन दुःख की स्थिति में दुःख के उसी रूप को सर्वाधिक कष्टकर एवं अवाञ्छनीय समझता है जिसका कि वह स्वयं उस समय अनुभव कर रहा होता है। यक्ष को भी संसार के सभी दुःखों में पत्नी-वियोग का दुःख ही सबसे असह्य प्रतीत होता है। उसकी वेदना ने उसके हृदय को इतना द्रवित कर दिया है कि वह विश्व में किसी के लिए भी इसकी कल्पना नहीं कर सकता। अतः मेघ के लिए सबसे बड़ी मंगलकामना जोकि वह कर सकता है वह यही है कि' उसका उसकी प्रिया विद्युत् से कभी भी वियोग न हो' **(मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः—मेघ० १११)**। संक्षेप में यह है मेघ-संदेश का मनोवैज्ञानिक पक्ष।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (३)

# मेघदूत : एक प्रतीकात्मक विश्लेषण

**जीवनचक्र का रूप**

शाकुन्तल के अमर सन्देश के समान ही यदि मेघदूत में भी कालिदास के सन्देश को यदि देखना हो तो उसे देखा जा सकता है इन पंक्तियों में :

**कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा**
**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥** (मेघ० १०४)

(—इस संसार में कौन ऐसा है जिसके भाग्य में सदा सुख ही लिखा हो और कौन ऐसा है जिसके भाग्य में दुःख ही बदा हो ? यहाँ सब का ही भाग्य पहिये की नेमि की भाँति सदा नीचे ऊपर होता रहता है ।)

**अलकावासियों का सामान्य जीवन**

विधि के इस सार्वभौम विधान का जितना सुन्दर समन्वय कालिदास ने अपने इसी काव्य में दिखलाया उतना सम्भवतः अन्यत्र न मिल सके । सभी जानते हैं कि आज अपने विरह के दुःख से सन्तप्त रामगिरि के आश्रमों में शान्ति के लिए मारा-मारा फिरने वाला यक्ष भी कभी जीवन में परम सुखी था । अपनी नई नवेली 'कान्ता' के साथ जीवन के मधुर तम क्षणों को बिताया करता था । इस 'सदासुहागन' यक्षपुरी में कला, सम्पत्ति और शृङ्गार का जो विलक्षण समवाय था उसकी तुलना इन्द्रपुरी से भी नहीं की जा सकती । उन गगनचुम्बी (**अभ्रंलिहाग्राः**) सात-सात मंज़िल ऊँचे (**उच्चैर्विमाना**) भवनों में क्या कुछ न था । रंग-बिरंगे चित्रों से ऐसे अलंकृत कि उनके सामने सतरंगी इन्द्र-धनुष भी फीका लगने लगे । संगीत का ऐसा ठाठ कि बादल से गरजते हुए मृदंगों की गमक हर समय सुनाई देती रहे; मणियों से जड़े हुए चमकीले फर्श और उनमें चञ्चल विजलियाँ सी चमकती हुई यक्षाङ्गनाएँ :

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ (मेघ० ६४)

इन्हीं महलों की संगमरमर से पटी हुई छतों, जिन पर कि तारों की परछाईं फूलों सी झिलमिलाती है, पर छबीले यक्ष अपनी छबीली यक्षियों के साथ 'रतिफल' नामक मधु का पान करके मधुर मधुर संगीत का आनन्द लेते हैं ;

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिच्छाया कुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधुरतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
तद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ (मेघ० ६६)

इस कुबेर नगरी के प्रत्येक घर में इतनी सम्पत्ति भरी हुई है कि वह कभी समाप्त होने का नाम भी नहीं ले सकती । इसलिए यहाँ के कामी यक्षजन 'सुरसुन्दरियों' को साथ लेकर आनन्द लूटने के लिए उन बाहरी उद्यानों में जा पहुँचते हैं जहाँ कि किन्नरों के जोड़े अपने सुरीले कण्ठों से यक्षपति कुबेर का यशोगान किया करते हैं :

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ (मेघ० ८)

**यक्ष के भवन की दिव्य झाँकी**

इसी विलास नगरी में धनपति कुबेर के राजप्रासाद के उत्तर की ओर इस यक्ष का भी भवन था जिसके बाहर एक सुन्दर इन्द्रधनुषी तोरण बना हुआ था और उसके पास ही एक छोटा सा मन्दार का वृक्ष लगा था जोकि सुन्दर-सुन्दर फूलों के गुच्छों से सदा लदा रहता था । इसे उसकी कान्ता ने अपने बच्चे की भाँति बड़े प्यार से पोषा था :

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ (मेघ० ७२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उस घर के पास ही एक बावड़ी है, जिसकी सीढ़ियाँ पन्ने की बनी हुई हैं और जिसमें बिल्लौर सी चिकनी नालों वाले सुवर्णकमल खिले रहते हैं। उसकी ऐसी मनोरम शोभा है कि उसमें रहने वाले हंस वर्षाकाल में भी मान-सरोवर में जाना नहीं चाहते :

वापी चास्मिन् मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हेमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः ॥ (मेघ० ७३)

उसके किनारे पर ही एक सुन्दर क्रीड़ापर्वत बना हुआ है' जिसकी इन्द्रनील मणियों से बनी हुई चोटी चारों ओर से घिरे हुए सुनहरें केलों की बाढ़ से ऐसी लगती है जैसे कि नीले बादल में चारों और से बिजली चमक रही हो :

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्या प्रिय इति सखे ! चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरितविद्युतं त्वां तमेव स्मरामि ॥ (मेघ० ७४)

उसी क्रीडाशैल पर कुरबक की बाढ़ से घिरा हुआ 'माधवी मंडप' है जिसके एकओर चञ्चल पत्तों वाला लाल फूलों वाला अशोक है और दूसरी ओर मनो-हर मौलसिरी का वृक्ष लगा हुआ है। यक्षपत्नी कभी अपने प्रियतम के साथ अशोक को प्रफुल्लित करने के लिए उसे अपने वामचरण के स्पर्श से पुलकित करती है तो कभी मौलसिरी की पुष्पश्री की समृद्धि के लिए उसपर अपने मुख से मदिरा की मन्द-मन्द फुहार छोड़ती है :

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥ (मेघ० ७५)

इन दो वृक्षों के बीच में जो सोने से बनी वह छतरी बनी हुई है जिस पर उसकी प्रिया का वह प्यारा मोर आकर प्रतिदिन सायंकाल को बसेरा लेता है जिसे कि वह अपने कंगनों की ताल पर ताली दे देकर नचाया करती है। इस छतरी के सिरे पर बिल्लौर का फलक बना हुआ है और जड़ पर हरे-हरे रंग की मरकत मणियाँ जड़ी हुई हैं :

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि–
मूले बद्धा मणिभिरनतप्रौढवंशप्रकाशैः ।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ (मेघ० ७६)

**वैभव और विलास की नगरी अलका**

अब इसके प्रकाश में सहज ही देखा जा सकता है कि यक्ष किस लोक का प्राणी है ? इस अलका में एक से एक ऐश्वर्य और विलास की सामग्री है। इस सदाबहार नगरी के लिए स्वयं प्रकृति भी तो पक्षपातिनी बन गयी है। यहाँ पर तो विभिन्न ऋतुओं में फूलने वाले फूल सदा ही फूले रहते हैं। इसी-लिए तो यहाँ की नारियाँ सर्वदा हाथों में लीलाकमल, बालों में कुन्द की कलियाँ, मुखों पर लोध्र के फूलों का पराग, जूड़ों पर कुरबक के फूल, कानों में मौलसिरी के फूल तथा माँगों में कदम्ब के फूल धारण किए रहती हैं :

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ (मेघ० ६५)

लगता है विधाता ने इस यक्षपुरी पर सभी कुछ मुक्तहस्त से लुटाया था। इसके बाह्य वैभव का रूप अभी हमने देखा। अब थोड़ा इसके आन्तरिक विलास की ओर झाँक लें। यहाँ की वे यक्षबालाएँ, जिन्हें पाने के लिए देवता लोग भी ललचाते हैं, मन्दाकिनी के किनारे मन्दार वृक्षों की छाया में सोने की रेत पर मणियों को छिपाने और ढूँढने का खेलखेला करती हैं (**मन्दाकिन्या—मेघ० ७**) रात में घर मणियों के दीपकों से जगमगा उठते हैं (**अचिस्तुङ्गान्···प्राप्तरत्न प्रदीपान्—मेघ० ६९**) और चन्द्रकान्त मणियों की झालरें चन्द्र की किरणों का स्पर्श पाकर द्रवित हो उठती हैं (**व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्र-कांताः—मेघ० ६७**)। घर-घर में मोर और मैना पले हुए हैं। घरों को चित्रों, (**आलेख्यानां० ६८**) आलते की सुन्दर-२ आकृतियों (**द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा—मेघ० ७७**) से अलंकृत किया जाता है। नृत्य संगीत आदि तो इन घरों में अनवरत चलता ही रहता है।

नारी-सौन्दर्य की तो मानो यह अलका परसीमा ही है। इन देवदुर्लभ रमणियों के सौन्दर्य का तो इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि जब वे भौंहें तिरछी करके अपने कटाक्ष करती हैं तो वह निशाना कामियों पर ऐसा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अचूक लगता है कि कामदेव को इसके लिए अपने धनुष पर बाण चढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती :

सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै–
स्तस्यारम्भश्चतुरवनितावि भ्रमैरेव सिद्धः ॥ (मेघ० ७१)

**नारी-सौन्दर्य का प्रतिमान**

इन्हीं 'अमरप्रार्थिता' बालाओं में से एक बाला इस 'राजराज' के अनुचर को भी मिली थी जिसे पाकर उसने अपने को सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा था (**वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति—मेघ०९१**) । समझता भी क्यों नहीं ? ऐसी सौन्दर्य-प्रतिमाओं को प्राप्त करने का सौभाग्य इस सृष्टि में सभी को तो नहीं । मिलता जरा सुनिए तो, क्या कहता है यक्ष उसके बारे में :

तन्वी श्यामाशिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकित-हरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥ (मेघ० ७९)

'छरहरी देह, उभरता हुआ यौवन, नुकीली दन्तपंक्ति, बिम्बफल से लाल-लाल होंठ, पतली कमर, चकित हरिणी सी चञ्चल चितवन, गहरी नाभि, गति के अवरोधक भारी नितम्ब, शरीरलता को झुका डालने वाले उन्नत स्तन यह है मेरी पत्नी का रूप जोकि उस अलका की युवतियों में ब्रह्मा की प्रथम कृति के समान है ।'

हाँ, यही है उस बाला का रूप संभार । जिसकी कुछ झाँकी कालिदास ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से हमारे लिए भी कर्णगोचर करादी है अन्यथा हम मर्त्यलोकवासी जनों के लिए इस सौन्दर्य-प्रतिमा के दर्शन कहाँ सम्भव हो सकते ।

**दाम्पत्य विलास**

यह प्रणयीयुगल इस भोगपुरी में आनन्द में मग्न क्षणों के समान दिनों को बिताया करता था । किसी वस्तु का अभाव न था, वहाँ पर अकेला कल्पवृक्ष ही समस्त अभावों की पूर्ति कर डालता था । स्त्रियों की समस्त प्रसाधन-सामग्री इसी से प्राप्त हो जाती थी । यह नवेली भी कल्पवृक्ष से रंग-बिरंगे वस्त्र, कटीली आँखों में बाँकापन बढ़ा देने वाली मदिरा, सुन्दर सुरभितपुष्प -

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पल्लवों के आभरण पैरों, में लगाने के लिए महावर आदि प्रसाधन पाकर छबीली बनी फिरती थी :

**वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं**
**पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।**
**लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या–**
**मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ।।** (मेघ० ७ १०)

और इस वैभव तथा विलास के उद्दीपक वातावरण के बीच दोनों का जीवन रंगरेलियों में ही बीता करता था। कभी चाँदनी रातों में संगमरमर की अटारियों में बैठकर वे 'मधुपान' का आनन्द लेते तो कभी उद्यानों में जाकर 'संगीत-गोष्ठियों' का। कभी यक्ष अपने चञ्चल हाथों से उसका नीवीबन्ध ढीला करने का यत्न करता, और वह लाज की मारी कुंकुम चूर्ण से रत्नदीपों को बुझाने का विफल प्रयास करती (**नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं०—मेघ० ६६**) तो कभी वह 'प्रणयकोप' करके बैठ जाती और यक्ष उसके चरणों में अपना शिर रखकर उसे मनाने लगता (**त्वामालिख्य प्रणयकुपितां०—मेघ० १०२**)। कभी इच्छानुकूल संभोग में ही सारी रात बीत जाती और उन दोनों को पता ही नहीं चलता रात बीतने का (**नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या०—मेघ० ८६**)। कभी वह यक्ष के कंठ में अपनी भुजलता डालकर सो जाती (**त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे। निद्रां गत्वा०—मेघ० १०८**) तो कभी यक्ष भी उसे अपने गाढ़ भुजबन्धन में कस लेता (**निर्दयाश्लेषहेतोः०—मेघ० १०३**) वह कभी संभोगान्त में सुरतश्रम को दूर करने के लिए उसके उरुओं का हस्त-संवाहन करता तो कभी उसके मुख के स्पर्श के लालच में जोर से कहने योग्य बात को भी चुपके कान के पास मुँह ले जाकर कहता। यक्ष यदि उसे अपना दूसरा प्राण समझता था (**तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं०—मेघ० ८०**) तो यक्षिणी का मन भी उसके स्नेह में डूबा रहता था (**जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहं०—मेघ० ६१**)। उन चकवा चकवी के जोड़े को क्या पता था कि इस सृष्टि के विधान में दिन के बाद रात भी आती है (**दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्०– मेघ० ८०**)।

**विधिचक्र का परिवर्तन**

बात यहाँ तक पहुँच गयी कि यक्ष अपनी पत्नी के स्नेह में व रागरंग में इतना डूब गया कि अपने नियत कर्तव्य की भी उपेक्षा करने लगा। जैसाकि सुना जाता है कि वह प्रातःकाल उठने से बचने के लिए रात्रि को ही कुबेर के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पूजापुष्प लाकर रख देता और सवेरे जाकर उन्हें कुबेर को दे आता। यह प्रमाद भला कब तक चल सकता था। विधि का चक्र घूम ही रहा था और अब नेमि की नीचे आने की बारी थी। यक्ष के दुर्भाग्य से या प्रमाद के अनिवार्य दण्ड के प्रभाव से कमलकोश में बन्द भौंरे ने महाराज कुबेर की अंगुली में डंक मार दिया और कुबेर को यह समझते देर न लगी कि ये फूल उषाकाल से पूर्व ही तोड़ लिए जाते हैं। क्यों तोड़ लिए जाते हैं यह भी उन्हें भलीभाँति ज्ञात था क्योंकि बात अति तक पहुँच चुकी थी। अतः उसे इस अपराध का दण्ड देने के लिए कुबेर का राजदण्ड उठा ओर उसे एक वर्ष के लिए अपनी पत्नी से वियुक्त कर रामगिरि के आश्रम में भेज दिया गया, उसकी समस्त यक्षीय शक्तियाँ भी छीन ली गईं ताकि वर्ष से पूर्व किसी भाँति भी अपनी उस कान्ता से न मिल सके, जिसके प्रेम में अन्धा होकर उसने अपने कर्त्तव्य से प्रमाद किया (**स्वाधिकारात्प्रमत्तः—मेघ० १**)। यक्ष ने केवल प्रेम किया था पर उस 'पराधीनवृत्ति' के लिए वह प्यार करना भी अपराध हो गया, विधि का चक्र जो घूम चुका था।

भाग्य की विडम्बना कहिए या विधि का विधान कि वह प्रियजन जोकि सखियों के सामने सुनाकर कह सकने योग्य बात को भी प्रिया के मुख के स्पर्श के लोभ से उसके कान के पास मुँह ले जाकर कहता था, वही वियुक्त हो इतनी दूर जा पड़ा है जहाँ कि आँख और कान भी नहीं पहुँच सकते। और एक दिन उसे आवश्यकता पड़ी है धएँ, प्रकाश, जल और वायु से बने हुए मेघ के द्वारा अपनी प्रिया के पास सन्देश पहुँचाने की :

**शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्**
**कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।**
**सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट-**
**स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥**
**(मेघ० १००)**

जिस विधि ने कभी उनके जीवन को तरंगित किया था, उनके आनन्द के सागर में उत्ताल तरंगें उठाई थीं वही अब उन दोनों का वैरी बनकर उनके मिलन मार्ग को रोके बैठा है (**विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः — मेघ० ९९**) वरन् वह तो इतना निर्दय हो गया है कि अब प्रत्यक्ष मिलन तो क्या उनके चित्रमिलन को भी सहन नहीं कर सकता (**क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः— मेघ० १०२**)। देखिये चक्रनेमि के घूमते ही क्या से क्या हो जाता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**विरह-दशा**

(१) **पत्नीगत :** यक्ष की वह 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' 'चकितहरिणीप्रेक्षणा' 'क्षोणीभारादलसगमना' प्रेयसी अपने प्रियतम से बिछुड़ते ही कुछ की कुछ हो गई। वियोग तो कभी देखा ही न था (**प्रथमविरहे०—मेघ० ९१**) इसलिए चकए से बिछुड़ी चकवी की भाँति अपने में ही खो गयी, न किसी से हँसना और न किसी से बोलना। इस तीव्र विरह ने तो उसे तपाकर ऐसे ही कर दिया जैसे कि पाले से मारी हुई कमलिनी हो :

**तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं**
**दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।**
**गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां**
**जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं बालरूपाम्॥**
**(मेघ० ८०)**

इतना ही नहीं वरन् इस विछोह में रोते-रोते उस 'हरिणाक्षी' की आँखें सूज गईं (**प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियायाः—मेघ० ८१**) और गर्म-गर्म आहों से उसके बिम्बाधरों का रंग फीका पड़ गया (**निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्—मेघ० ८१**), दुर्बल तो इतनी हो गयी जैसेकि चन्द्रमा की एक क्षीण कला हो (**तनुमिव कलांमात्रशेषां हिमांशोः—मेघ० ८६**), न बालों पर तेल लगाती है (**शुद्धस्नानात् परुषमलकम्—मेघ० ८७**) और न उन्हें गूँथती है (**एकवेणीं०—मेघ० ८८**), और न उन पर चुटीला ही बाँधती है (**या शिखादाम हित्वा०—मेघ० ८८**) इसीलिए बाल उलझ-पुलझ से गये हैं (**कठिन विषसां० मेघ०—८८**) और बिखरकर मुख पर आ लटकते हैं (**मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वात्०—मेघ० ८१; परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्०—मेघ० ८७**) जो यक्षिणी कभी कल्पवृक्ष से प्राप्त प्रसाधनों से अपने शरीर को सजाते न अघाती थी, चन्द्रिकाचर्चित रातों में 'रतिफल' नामक मधु का पान करके उन्मादिनी बनी फिरती थी वह आज 'मलिनवसना' (**मेघ० ८३**) है; उसे अलंकरणों से विरक्ति हो गयी है (**सा संन्यस्ताभरणमबला०—मेघ० ९०**), उसे चाँद की चाँदनी से द्वेष हो गया है (**पादानिन्दोरमृतशिशिरान् जालमार्गप्रविष्टान्, पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव०—मेघ० ८९**), न आँखों में अंजन आँजती है और न मधुपान ही करती है :

**रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं**
**प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्॥** **(मेघ० ९२)**

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कभी वह दिन भी थे जबकि धनपति के अनुचर की यह कान्ता बड़ी उत्कण्ठा से यह सोचती होगी कि कब दिन बीते और कब उसका सहचर सेवानिवृत्त होकर उसके पास आवे। वह रात्रि का स्वागत करती थी और उसे मनचाहे विलास में क्षणों के समान बिता देती थी (**नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या—मेघ० ८६**); किन्तु अब रात उसे काट खाने को दौड़ती है। वह एक करवट पर लेटी-लेटी (**संनिषण्णैकपार्श्वा०—मेघ० ८६**) गर्म-गर्म आँसू बहाकर उसे तिल-तिल करके काटती है (**तामेवोष्णैर्विरहमहती-मश्रुभिर्यापयन्तीम्—मेघ० ८६**)। आज तो बस उस आनन्द की याद भर बाकी रह गई है (**मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती—मेघ० ८४**)। अब इस समय उसके लिए जीवन में रोने और तड़पने के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह गया। उसकी दशा ऐसी दयनीय हो चुकी है कि उसे देखकर किसी भी सहृदय की आँखों से दो बूँद आँसू टपक सकते हैं। (**त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोच-यिष्यत्यवश्यम्—मेघ० ९०**)

(२) **पतिगत** : और यक्ष ? यक्ष की तो बात ही न पूछिए। उसने तो सम्भवतः कभी स्वप्न में भी इस बात की आशंका न की होगी कि उसे कभी अपनी 'कान्ता' से 'विप्रयुक्त' होना पड़ेगा। यक्ष को ही क्यों कहा जाये, इस विश्व का कोई प्राणी भी तो सुख के दिनों में अन्यथा कल्पना नहीं करना चाहता। पर न चाहने से विधि का विधान टल तो नहीं सकता। दुःख को कोई चाहता नहीं पर वह आता अवश्य है क्योंकि सुख सदा रह नहीं सकता। और फिर एक के बिना दूसरे की अनुभूति भी तो नहीं।

अस्तु, वह विधि को चाहे वैरी कहे (**विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः—मेघ० ९९**) या 'क्रूर' (**क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते०—मेघ० १०२**) पर जो कुछ हुआ सब हो रहा था सत्य के अटल विधान पर ही। हम देख ही चुके हैं कि यक्ष अपनी 'कान्ता' पर कितना अनुरक्त था। अतः इस 'कान्ताविरह' का गुरुभार आते ही वह तिलमिला उठा। भर्ता के द्वारा दिया हुआ दण्ड भोगना ही था, कुछ कर सकता नहीं था (**अस्तंगमितमहिमा—मेघ० १**), अतः मनःशान्ति की खोज में विक्षिप्त सा रामगिरि के पवित्र आश्रमों में भटकता फिरा। इन आठ महीनों में ही उसकी दशा ऐसी हो गयी कि 'प्रकोष्ठ' में पहना हुआ सुवर्ण कंकण अपने आप खिसककर नीचे गिर गया (**कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः — मेघ० २**)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रेयसी के वियोग ने उसे चेतन और अचेतन के विषय में इतना प्रकृति-कृपण बना डाला है कि वह मेघ से ही अपनी प्रिया के पास संदेश भेजने को उत्कण्ठित हो उठता है (त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह—मेघ० १००)। उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है, विरह की तीव्र ज्वाला से जलता रहता है। आँखों से निरन्तर झर-झरकर आँसू बहते रहते हैं। प्रिया से मिलन की उत्कण्ठा व्याकुल किए रहती है, रात-दिन लम्बी-लम्बी उसाँसें छोड़ा करता है और इसी प्रकार की कल्पनाओं में लीन प्रिया की चिन्ता में डूबा रहता है :

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रु द्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥ (मेघ० ९९)

कभी अपने पूर्व अभ्यास के कारण पाषाण शिला पर गेरू के रंगों से अपनी प्रेयसी का प्रणवकुपित चित्र खींचकर उसके चरणों में सिर रखकर उसे मनाने का उपक्रम करता है :

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्॥ (मेघ० १०२)

तो कभी निरन्तर चिन्तन से स्वप्न में उसे पाकर उसका गाढ़ालिंगन करने के लिए शून्य आकाश की ओर भुजाएँ फैलाता है। अलका में भले ही कोई उसके आनन्दमय जीवन से ईर्ष्या करता हो पर यहाँ तो उसकी कारुणिक दशा पर वनदेवियाँ भी तरुपल्लवों पर मोती से मोटे-मोटे आँसू बहाती हैं :

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति॥ (मेघ० १०३)

या कभी हिमालय की ओर से आने वाली हवाओं का ही इस आशा से आलिंगन करने को दौड़ता है कि कहीं ये प्रिया के अंगों का स्पर्श करके ही आयी हों :

आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥ (मेघ० १०४)

वस्तुतः कितनी दयनीय दशा है बेचारे यक्ष की! रात्रि में शान्ति पाने की या स्वप्न में मिलन हो पड़ने की भावना से दिन में तो सोचता है कब रात हो

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



और जब रात होती है, नींद आती नहीं और प्रिया की स्मृति तीव्रतर हो उठती है तो सोचने लगता है यह लम्बे–लम्बे पहरों वाली रात कैसे बीते, और इसी प्रकार निरवलम्ब होकर हाय-हाय करके ही दिन-रात बिताता है :

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने ! दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ।। (मेघ० १०५)

अब तो दोनों के भाग्य में रोना ही बाकी रह गया है। यक्षिणी वीणा लेकर प्रिय के गीत गाकर जी बहलाने का उपक्रम करती है तो उसके वीणा के तार आँखों से टपकते हुए आँसुओं से तर हो जाते हैं और यक्ष उसके प्रणयकुपित चित्र पर सिर रखने का उपक्रम करता है तो उसकी दृष्टि आँसुओं से अवरुद्ध हो जाती है।

**आस्था**

निश्चित है कि अब तो तब तक यही रोना-धोना, आहें भरना व सिसकना ही चलेगा जब तक विधि के चक्र की नेमि फिर से ऊपर नहीं आ जाती। जब विधि का यह अटल नियम है तो यक्ष के जीवन में भी वे दिन अवश्य फिरेंगे जिनसे कि वह इस समय वंचित हो गया है। वह स्वयं भी जानता है कि चार महीने बाद जब भगवान् विष्णु अपनी शैया त्याग कर उठेंगे तो उसके दुःखों का, शाप का भी अन्त हो जायेगा और फिर वे दोनों ही शरत् की उन चन्द्रिकाचर्चित रातों में अपने मनों की वे समस्त साधें पूरी कर लेंगे जिन्हें कि इन विरह के दिनों में उन्होंने सँजोकर रखा है :

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ।।
(मेघ० १०७)

वे साधें क्या होंगी और पुनर्मिलन होने पर किस प्रकार उन्हें पूरी करेंगे इसकी कुछ कुछ झाँकी हम यक्ष के विरह पूर्व के विवाहित जीवन में देख चुके हैं। पर अब तो वह आनन्द पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुखद होगा। क्योंकि विरह-काल में भोग न हो सकने के कारण स्नेह संचित हो जाता है अतः पुनर्मिलन में वह द्विगुणित आनन्द को देने वाला होता है (अभोगादिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रेमराशीभवन्ति—मेघ० १०६)और साथ ही यह भी तथ्य है कि वियोग के बिना संयोग का सच्चा आनन्द भी नहीं (न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।)

इस तीव्र वियोग ने वस्तुतः विलास में अन्ध यक्ष की आँखें खोल दी हैं। अब उसका मन तपकर कुन्दन हो गया है। उसे संसार की वास्तविकता दिखाई देने लगी है। उसे विश्वास हो गया है कि इस संसार में न कोई सदा सुखी रह सकता है और न सदा दुःखी ही। सुख दुःख तो पहिए के अरों की भाँति बारी-बारी से नीचे-ऊपर होते रहते हैं। यही तो वह विश्वास है जिसके आधार पर यक्ष इस दुःसह विरह में अपने मन को भाँति-भाँति की कल्पनाओं में रमाकर स्वयं ही अपने को धैर्य देकर जीवन धारण कर रहा है और ऐसा ही करने का सत्परामर्श दे रहा है अपनी वियोगिनी सुहागिन के लिए भी। सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है उसका यह अमर संदेश। यथार्थ में उसका यह संदेश केवल उसकी विरहविधुरा पत्नी के लिए ही नहीं अपितु विश्व के लिए है, मानवमात्र के लिए है और यही है मेघदूत का प्राण भी :

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि ! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥
(मेघ० १०६)

विधि के विधान की विश्वात्मकताः—विधि का विधान केवल मानव के लिए ही हो, ऐसी बात भी नहीं। स्वयं प्रकृति भी इसी विधान से संचालित होती है। निर्विन्ध्या की ही दशा देखिए—कभी उसके जीवन में सुख और आनन्द का सागर लहराता था। जब-जब उसके प्रियतम मेघ की उस पर स्नेहवर्षा होती थी, तब-तब वह कितनी इठलाती, मदमादी दृष्टिगोचर होती थी, उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग से उल्लास की उत्ताल तरंगें उठती थीं; उस समय उसके उस मचलते हुए रूप और यौवन को देखकर कभी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इसके जीवन में कभी वह दिन भी आयेगा जबकि यह बेचारी भी इस भाँति दुर्बल एवं क्षीण हो जायेगी। इसका वह उमड़ता हुआ जलौघ एक वेदी की भाँति दिखाई देगा और तटवर्ती वृक्षों से गिरे हुए पीले-पीले पत्ते उसके अपने पीलेपन के प्रतीक बन जायेंगे।

वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ॥ (मेघ० २९)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उस महान् परिवर्तन-चक्र की परिधि में यह सब कुछ तो होना ही था किन्तु आठ महीने बाद जब उसका परदेशी प्रियतम पुनः आयेगा तो विधि के विधान से अथवा विरही यक्ष की कामना से उसकी कृशता पुनः दूर हो जायेगी (**कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः**)। उसकी विगत मादकता, अल्हड़ता लौट पड़ेगी जोकि उसकी करधनी की झंकार, मदमाती चाल और नाभि-प्रदर्शन आदि की रूप में दृश्यमान हो उठेगी :

**वीचिक्षोभस्तनितसुभगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः**
**संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ॥** (मेघ० २८)

हम देखते हैं कि विधि के विधान की इस लपेट से न तो उत्तर का निवासी यक्ष ही बच पाया है और न दक्षिण की निवासिनी निर्विन्ध्या ही। विधि का यह यह महान् चक्र अनवरत घूमता ही रहता है। इसकी लपेट से जड़-चेतन कुछ भी तो नहीं वच पाता है। अन्यथा कहाँ गया आज अवन्ती, विदिशा और दशार्ण का वह वैभव जिसके विषय में यक्ष ने सुना था और जिसका मेघ ने प्रत्यक्षीकरण किया था, कालिदास की आँखों से। बस, यही कहना पडेगा कि सब इसी महाबली विधि चक्र के नीचे पिसकर रह गया, कोई भी उसे वचा न सका।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (४)

# मेघदूत में प्रयुक्त मेघ के पर्यायों एवं सम्बोधनों का शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण[1]

प्रस्तुत लेख में शब्दपारखी कवि कालिदास के द्वारा उनकी प्रारम्भिक कृति मेघदूत में प्रयुक्त मेघ के पर्यायों एवं संबोधनों का तत्तत् सन्दर्भों की पृष्ठभूमि में अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यहाँ पर यह विश्लेषण दो स्तरों पर किया गया है—एक ध्वन्यात्मक स्तर पर तथा दूसरा अर्थात्मक स्तर पर।

**मेघ का व्यक्तित्व**

कहना न होगा कि मेघदूत के नायक और नायिका के समान ही मेघ भी इस काव्य का एक ऐसा प्रमुख पात्र है, जिसके व्यक्तित्व के दो रूप हमारे सामने आते हैं, उनमें से एक है 'प्राकृतिक' तथा दूसरा है 'मानवीकृत'। अपने प्राकृतिक रूप में यह मात्र **'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः;** (५) है तथा अपने इसी रूप में दूर करता है वह चराचर जगत् के सन्ताप को (**संतप्तानां त्वमसि शरणम्—मेघ० ८**); वर्षा का सन्देशवाहक बनकर अपनी ओर आकृष्ट करता है बगुलों की पंक्तियों को (**सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः—मेघ० ९**); इसी के श्रवणसुभग गर्जन को सुनकर धरती उर्वरा हो उठती है और हंस उत्कठित हो उठते हैं मानसरोवर की ओर जाने के लिए (**कर्तुं यच्च प्रभवति·····श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः—मेघ० ११**)। मेघ का यही रूप है

१. प्रस्तुत लेख के सभी उद्धरण एवं कोष्ठकों में श्लोकसंख्याएँ साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'मेघदूत' पर आधारित है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



जिसका कि देश का जन-जन प्रीतिस्निग्ध नयनों से पान करता है, हो भी क्यों नहीं, इसी के अधीन तो होता है इस देवमातृक देश का कृषिफल (**त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति ·····लोचनैः पीयमानः—मेघ० १६**) इसी के द्वारा किया गया 'तोयोत्सर्ग' ग्रीष्मजनित दवाग्नि का प्रशमन करने में समर्थ होता है (**त्वामासार-प्रशमितवनोपप्लवं० मेघ० १७; तं चेद् वायौ सरति ··अर्हस्यैनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैः—मेघ० ५३**), और इसी से इस देश की वनस्पति को नया जीवन और नया यौवन प्राप्त होता है—कदम्बों पर हरित एवं कपिश वर्ण के फूल खिल उठते हैं (**नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशम् केशरैरर्धरूढम्० २१ त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः—२५ सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधू-नाम्० ६५**) नदियों के तटों पर कन्दली (मुँइकेली) की कोमल-कोमल कोपलें फूटने लगती हैं, और धरती मिट्टी की सोंधी-सोंधी महक से महक उठती है (**आवि-र्भूता प्रथममुकुला कन्दलीश्चानुकच्छम्**) यही वह मेघ है जो प्यासे चातकों को जलदान कर उनकी प्यास को बुझाता है (**निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चात-केभ्यः**) और अपने गम्भीर गर्जन से नचाता है मयूरों को, और गुँजाता है पर्वत कन्दराओं को। इसी की गोदी में खेलती है कनककामिनी सी चंचला चपला भी (**सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया० ३७, चिरविलसनात् खिन्न-विद्युत्कलत्र० ३८ :, मा भूदेवं क्षणमपि न ते विद्युता विप्रयोगः १११**)।

किन्तु कालिदास ने अपनी इस अमर कृति में 'प्राकृतिक' रस से अधिक सबल रूप में उभारा है मेघ के 'मानवीकृत' रूप को। चेतन और अचेतन के भेद के प्रति प्रकृतिकृपण कामार्त यक्ष ने (**कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु०—मेघ० ५**) इसमें आरोप कर डाला है एक अत्यन्त कुलीन मानव का (**जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्— ६**) और एक मानव के जीवन के विविध पक्षों के समान ही उसके जीवन के विभिन्न रूप हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से विशेष उल्लेखनीय हैं :— मित्रका (१२, १७), कामुक का (२४, ४०, ४१), प्रेमी का (२८, २९), रसिक का (२७), पतिका (३८), भक्त का (३३, ३४, ५५), परोपकारी का (१७, ५३), सहृदय का (९०), तथा सन्देश-वाहक का (९५, ९६)। मेघ के इन विभिन्न मानवीकृत रूपों के वितरण को देखने से पता चलता है कि पूर्वमेघ में उसके प्रियत्व, कामित्व से सम्बद्ध रूपों का प्राधान्य है तो उत्तरमेघ में उसके भक्ति, सहृदयता, परोपकारिता आदि गुणों से सम्बद्ध रूपों का। उसके इस मानवीकृत रूप में ही यक्ष उसके साथ भातृत्व, मित्रत्व आदि के पारिवारिक स्नेह सम्बन्धों की तथा अपनी पत्नी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



के साथ उसके भाभी (**द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्—मेघ० १०**) तथा सखी (७५, ८५) आदि के निकट सम्बन्धों की स्थापना कर डालता है।

किन्तु यक्ष की अस्थिर एवं आकुल मनःस्थिति के कारण मेघ के दोनों ही रूप इस काव्यकृति में इस प्रकार परस्पर मिश्रित हो गये हैं कि उन्हें पृथक्-पृथक् देख पाना कठिन हो जाता है। वस्तुतः मेघ के स्वरूप का यह द्वैधीकरण स्वयं यक्ष की मनःस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। एक ओर तो 'दयिता-जीवितालम्बनार्थी' यक्ष मेघ के द्वारा अपना कुशलवृत्त भेजने की आकुलता में (**जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्—मेघ० ४**) उस पर सचेतन का आरोपण कर डालता है और उसके प्राकृतिक सौन्दर्य एवं महत्त्व के प्रभाव से अपने आप को मुक्त नहीं कर पाता है, जिससे कि उसके स्वरूप में द्वैतता (duality) आ गयी है। मेघदूत काव्य की इस पृष्ठभूमि को सम्मुख रखकर उसके प्रकाश में ही हम इसमें प्रयुक्त मेघ के संकेतक शब्दों का सम्यक् रूप से संदर्भीय विश्लेषण कर सकते हैं।

विश्लेषण की सुविधा के लिए हम भी विश्लेषणीय शब्दों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) **गुणधर्मों के संकेतक शब्द,** जिनके अन्तर्गत मुख्यतः जातिवाचक पदों का समावेश किया गया है।

(२) **सम्बोधनपरक शब्द,** जिनमें जातिवाचकः, गुणवाचक पदों का तथा सर्वनाम पदों का समावेश किया गया गया है।

**शब्द-चयन महत्त्वः**—विश्लेषणीय शब्दों के प्रकृत प्रसंग पर जाने से पूर्व यहाँ पर संक्षेप से संकेत कर देना भी असंगत न होगा कि काव्यभाषा में शब्दों के चयन का विशेष महत्त्व होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के सभी सम्प्रदायों, रस, ध्वनि, रीति वक्रोक्ति, औचित्य आदि के आचार्यों ने शब्दार्थ के चयन पर विशेष बल दिया है। आचार्य कुंतक ने तो बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—'अन्य बहुत से पर्यायवाची' शब्दों के रहते हुए भी कहने के लिए अभिप्रेत अर्थ का वाचक एक ही शब्द होता है (व० जी० १/९), आचार्य वामन का 'अवक्षेपण' (**पदाधानोद्धरणमवेक्षणम् १·३·१५**) भी काव्यभाषा की पदसंघटना में उपयुक्त पदों के रखने तथा अनुपयुक्त पदों को हटाने की प्रक्रिया के रूप में इसी चयनप्रक्रिया का संकेत करता है। इतना ही नहीं, उन्होंने तो एक पूरा अध्याय (प्रथम अधिकरण, तृतीय अध्याय) ही 'शब्दपाक' अर्थात्

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उपयुक्त शब्दचयन पर लिखा है। 'शब्दपाक' की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं :

यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥

शब्दों की चयन प्रक्रिया के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन का भी कहना है कि जब कोई महाकवि काव्य सर्जन की प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है तो शब्दों के तथा संरचना के अनेक विकल्प उसके समाने आते हैं और वह उनमें से प्रसंग प्राप्त अर्थ की अभिव्यंजना में समर्थ उपयुक्ततम शब्द का चयन किया करता है :

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ (ध्वन्या० १ ८)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने तो अपनी सम्पूर्ण कृति में उपयुक्त शब्दों के चयन एवं अनुपयुक्त के परिहार का ही विश्लेषण किया है।

काव्यभाषा में चयन की आवश्यकता पर इसलिए विशेष बल दिया गया है कि किसी भी भाषा में पर्यायवाची कहे जाने वाले कोई भी दो शब्द एक ही भावछटा के अभिव्यंजक नहीं हुआ करते हैं, उनका अपना पृथक्-पृथक् ध्वन्यात्मक तथा अर्थात्मक प्रभाव हुआ करता है, जिनके कारण उनकी भाव छटा में अन्तर आ जाया करता है। इसलिए प्रतिभावान् कवि सदा ही कथ्य के संकेतक अनेक पदों में से उसका प्रयोग करता है जो कि संदर्भगत भाव को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ बिम्बित कर सकने को समर्थ हो।

हमारे प्राचीन आचार्यों के समान ही शैली-विज्ञान की पद्धति के आधार पर साहित्यालोचन में प्रवृत्त आधुनिक समालोचक भी चयन को विशेष महत्त्व देता है। वह मानता है कि कवि अपने कथ्य (Content) को व्यंजक (Significant) बनाने के लिए शब्दों के स्वनिमिक (Phonemic) रूपिमिक (morphemic) कोषीय (lexical) चयनों पर विशेष ध्यान देता है। इन सब में से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है 'शब्दचयन' का, क्योंकि काव्यानुभूति से सम्बद्ध प्रभाव, चाहे वह ध्वनिगत हो या अर्थगत, अन्ततोगत्वा शब्दरूपों पर ही आधारित होता है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध उक्ति 'सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम ही काव्य है' (Poetry is the best order of best words) भी लगभग इसी ओर संकेत करती है।

**स्वनिमिक चयन :** हमारे आचार्यों ने शब्दगुणों तथा रीतियों के विवेचन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



में शब्दों के घटकों (ध्वनितत्त्वों) में पाये जाने वाले उनके विविध धर्मों का पर्याप्त विवेचन किया है। स्वरतंत्रियों के कम्पन को अधिकता एवं न्यूनता, मुखविवर की संवृतता-विवृतता, प्राणवायु की अधिकता-न्यूनता, मांसपेशियों के तनाव एवं शिथिलता आदि के आधार पर श्रोता पर पड़ने वाले विविध प्रकार के कोमल, परुष, मोहक तथा भयावह आदि विरोधी अथवा सहयोगी प्रभावों का संकेत किया गया है। सैद्धान्तिक रूप में स्वीकृत इन ध्वन्यात्मक प्रभावों को आज का पाश्चात्य आलोचक भी प्रायोगिक आधारों पर स्वीकृत कर चुका है (दे०, फ्रांसीसी ध्वनियों पर ग्रोमाँ, जर्मन ध्वनियों पर अलवर्ट वेलेक का 'थ्योरी ऑव् लिटरेचर' अंग्रेजी की ध्वनियों पर एस० उल्मन का 'लैंग्वेज एण्ड स्टाइल' तथा जी० एन० लीच का 'अ लिंग्विस्टिक गाइड टु इंगलिश पोइट्री' लेख। वैलेक (१९३१) का कथन है कि कुछ स्वरों का सूक्ष्म, चंचल, पारदर्शी एवं दीप्तिमान पदार्थों के साथ तथा अन्यों का पृथुल, मन्द, शिथिल एवं दीप्तिमान पदार्थों के साथ सहजात साहचर्य पाया जाता है। इसी प्रकार लीच का कथन है कि नादतत्त्व की विद्यमानता के कारण घोष व्यंजन कोमलता के भाव की अभिव्यंजना करते हैं तथा इसके अभाव में अघोष कठोरता के भाव की, तरल एवं नासिकाध्वनियों की अपेक्षा महाप्राण एवं संघर्षी ध्वनियाँ कठोर होती हैं। स्पर्श संघर्षी तथा अघोष ध्वनियाँ सबसे अधिक कठोरता के प्रभाव को उत्पन्न करती हैं (१८६६ : ९८–९९)।

शब्दचयन में उनके ध्वन्यात्मक प्रभाव की बात केवल साहित्याचार्यों के द्वारा परिकल्पित एवं सैद्धान्तिक ही हो ऐसी भी बात नहीं है। किसी कवि को व्यावहारिक स्तर पर इस प्रभाव की अनुभूति स्वयं कैसे होती है—इसके प्रमाण के रूप में हमारे युग के एक सौन्दर्यवादी कवि की स्वीकृति को उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा। कविवर श्री सुमित्रानन्दन पंत अपनी काव्यकृति 'पल्लव' की भूमिका में बतलाते हैं कि एक ही भाव के संकेतक भिन्न-भिन्न पर्यायों के बीच उन्हें किस प्रकार की भिन्न-भिन्न भावात्मक अनुभूति होती है। वे लिखते हैं :—"हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पनः, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर-गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती हवा के पलने में हौले-हौले झूमती हुई, हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का 'हिल्लोल', 'कल्लोल', से ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है (पृ० ३०) इसी प्रकार 'भ्रू' से क्रोध

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है (पृ० २९–३०)।

उन्होंने अपनी अनुभूति को स्पष्ट करने के लिए अपने के लिए अपने काव्य में प्रयुक्त और भी अनेक शब्दों के चयन एवं प्रयोग के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनमें से एक और शब्द का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है, वे लिखते हैं—'अंग्रेजी के 'एअर' में एक प्रकार को ट्रांसपेरेन्सी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; 'अनिल' में एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो : 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है। 'प्रभंजन' 'विंड' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' को दीवारों से घिर सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।' (वही पृ० ३०)।

शब्दों के चयन में संदर्भ का भी विशेष महत्त्व होता है। कोषीय दृष्टि से समानार्थक किसी पदार्थ के बोधक एकाधिक पर्यायवाची शब्दों में ध्वन्यात्मक अथवा संरचनात्मक समानता के रहते हुए भी उनमें अर्थगत सूक्ष्मताओं को प्रतिबिम्बित करने का जो सामर्थ्य होता है उसकी स्पष्ट प्रतीति सन्दर्भ विशेष में ही प्रतिफलित होती है। उदाहरणार्थ, 'कुमारसंभव' के प्रसिद्ध पद्य–**'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'** में कालिदास के समक्ष भगवान् शंकर का संकेत कराने वाले दो शब्द थे 'पिनाकी' तथा 'कपाली' जो कि संरचनात्मक दृष्टि से समान होने के कारण छन्दोयोजना में भी पूरी संगति रखते थे। कवि को इन दोनों में से चयन करना था। सामान्य अर्थबोध के लिये तो कोई भी उपयुक्त हो सकता था किन्तु **'शोचनीयतां गतम्'** के संदर्भ को देखते हुए 'पिनाकी' उस भाव का प्रतिबिम्बिन नहीं कर सकता था जिसकी कि कवि करना चाहता था। इसलिए कवि को इन दोनों में चयन करना पड़ा। अपने इस चयन में शब्दपारखी कवि को कितनी सफलता मिली तथा इस चयन के कारण उसके काव्य में क्या चमत्कार आ गया है यह सहृदय पाठक ही बता सकता है। मेघदूत में भी स्थान-स्थान पर कवि ने अपनी इसी शब्द पारखी सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है।

आधुनिक भाषा विज्ञान भी भाषिक विश्लेषणों में स्थिति सन्दर्भ (Context

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



of situation) को पर्याप्त महत्त्व देने लगा है, क्योंकि स्थितिसन्दर्भ से ही किसी शब्द का वास्तविक अर्थबोध तथा पूर्ण बिम्बग्रहण सम्भव हुआ करता है। इसी पृष्ठभूमि में किसी पद के प्रयोगगत औचित्य तथा उसमें अभिव्यक्त काव्य-सौन्दर्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। अतः प्रस्तुत लेख में इसी पृष्ठभूमि पर मेघदूत में प्रयुक्त मेघ से सम्बद्ध शब्दों पर विचार किया जायेगा।

**गुणधर्मों के संकेतक पदों का विश्लेषण :** मेघदूत में मेघ के लिये प्रयुक्त सभी पद उसके विभिन्न धर्मों के तथा गुणों के संकेतक है। इनमें से कुछ को सामान्य दृष्टि से जातिवाचक पद कहा जा सकता है, क्योंकि ये किसी भी मेघ की जातिगत विशेषताओं के बोधक हैं तथा अन्य ऐसे हैं जिनका प्रयोग मात्र सम्बोधन के रूप में किया गया है।

आवृत्तियों के आधार पर जातिवाचक इन नामों का उल्लेख सम्पूर्ण कृति में इस प्रकार हुआ है :–मेघ (३), जलद (३), घन (६) जीभूत (१), जलधर (१) अम्बुवाह (१)। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट भी किया जायेगा, कि किसी शब्द की अधिक आवृत्ति का कारण उसके प्रयोग के प्रति कवि की अपनी कोई विशेष अभिरुचि न होकर उसके प्रयोग के द्वारा सन्दर्भगत बिम्ब को अधिकाधिक प्रतीतियोग्य बनाना है।

इनके सन्दर्भगत भावसौन्दर्य का विश्लेषण करने से पूर्व इनके ध्वन्यात्मक सौन्दर्य के सम्बन्ध में सामान्य दृष्टि से इतना बतला देना आवश्यक है कि मेघ के उमड़ते-घुमड़ते एवं गरजते लरजते रूप को उभारने के लिए उसके उन पर्यायों का प्रयोग किया हैं जिनके घटक तत्त्व है महाप्राण व्यंजन तथा दीर्घ स्वर ध्वनियाँ, यथा घन, मेघ, आदि तथा इसके विपरीत उसके सौम्य, संतापहारक एवं फुहारवर्षी रस को बिम्बित करने के लिए चुना है लघुअक्षरी, घोष एवं तरल ध्वनियों को, यथा, जलद, पयोद, अम्बुवाह आदि। इनकी सार्थकता इनके निम्नस्थ विश्लेषणों के द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है।

**मेघ :** इस शब्द का प्रयोग इस कृति के प्रारम्भिक पाँच श्लोकों में तीन बार किया गया है और इसके बाद फिर कहीं इसका प्रयोग नहीं हुआ है। इनमें से प्रथम का सन्दर्भ है–**आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्** (२) दूसरे का है–**मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः** (३) और तीसरे का है–**धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः** (५) मेघ शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में महर्षि यास्क का कथन है–**मेघः कस्मात् ? मेहतीति** अर्थात् मेघ वह है जिसमें मेहन अथवा बरसने की सामर्थ्य हो। प्रकरण को देखने से स्पष्ट है कि राम-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



गिरि की चोटी पर दिखाई देने वाला मेघ मानसूनी मेघ है, अतः उसके 'मेहन' के विषय में किसी प्रकार की आशंका नहीं हो सकती है। दूसरे का सम्बन्ध है **'अन्यथावृत्ति चेतः'** से 'अर्थात् जल से भरित उमड़ते-घुमड़ते हुए काले काले घटाटोप मेघों को देखकर ही तो सुखी जनों का मन 'अन्यथावृत्ति' हो सकता है, किसी सामान्य जलहीन बादल को देखकर नहीं। इसके बाद का तीसरा प्रसंग है मेघ के घटक तत्त्वों का। वस्तुतः इन चारों तत्त्वों से समवेत बादल ही तो सही अर्थों में 'मेघ' कहलाने का अधिकारी होता है। इसमें से 'सलिल' तत्त्व के रिक्त होते ही इसकी मेहन की शक्ति समाप्त हो जाती है और इस स्थिति में उसे 'मेघ' भी नहीं कहा जा सकता है। ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी इसमें एकार की दीर्घता एवं विवृतता तथा घकार की महाप्राणता ने इसके उमड़ते-घुमड़ते रूप को अभिव्यञ्जित करने में विशेष योगदान किया है।

**घन :** इसका प्रयोग सम्पूर्ण कृति में केवल एक बार किया गया है। प्रसंग हैं विन्ध्य प्रदेश में बरस लेने के बाद (क्षान्तवृष्टि :) रेवा (नर्मदा) से पुनः जल भर लेने का। यहाँ पर 'घन' का प्रयोग सम्बोधन के रूप में किया गया है जो कि इनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'संहननात् घनः' के अनुसार एक ओर तो 'अन्तः सारं' (भीतर से ठोस) के साथ पूरी संगति रखता है और दूसरी ओर अगली पंक्ति में उल्लिखित 'पूर्णता' के भाव को साकार करने की सामर्थ्य रखता है। इसके अतिरिक्त मेघ के पर्यायवाची शब्दों में से कोई भी ऐसा नहीं जो कि उसके ठोस होने का संकेत दे सके और 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघु पूर्णता गौरवाय' के भाव को प्रतिबिम्बित कर सके, क्योंकि 'जलधर (जिसमें कि केवल धारण का भाव है) को छोड़कर अन्य सभी शब्दों–मेघ, जलद, तोयद, नीरद, पयोद, वारिद आदि में केवल 'रिक्त' होने की अभिव्यञ्जना पायी जाती है, 'पूर्णता' की नहीं। ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी घकार की महाप्राणता तथा नकार की गूँज उसकी पृथुता तथा भारीपन को प्रतिध्वनित करती है।

**जीमूत :** सन्दर्भ है बादल के द्वारा अपनी विरहिणी कान्ता के पास अपना कुशल पत्र भेजने का निर्णय करने का **(जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिं १-४)**। यक्ष ने आषाढ़ के प्रथम दिन पर्वत की चोटी पर जिसे देखा था वह तो था 'मेघ' जिसके स्वरूप का निरूपण ऊपर किया जा चुका है। यह मेघ अपने मादक एवं उद्दीपक रूप से किसी भी भावुक व्यक्ति के चित में विकार तो उत्पन्न कर सकता है किन्तु कण्ठाश्लेष प्रणयिजन से दूर पड़े हुए किसी वियोगी जन के दुःख में कोई हाथ नहीं बटा सकता। वियोगी यक्ष

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



का दयिताजीवितालम्बनका काम उस मेघ से नहीं चल सकता। वह तो उसके तथा उसकी विरहिणी प्रिया के रहे सहे धैर्य को भी तोड़ देगा। ऐसे व्यक्ति के हाथ कुशल वृत्तान्त नहीं भेजा जा सकता। इसलिए यक्ष के इस कार्य के लिए चुना है 'जीमूत' को, क्योंकि उसका धर्म ही है जीवन देना (जीवनं मुंचतीति जीमूतः)। यही कारण है कि यक्ष ने 'मेघ' को यहीं नमस्कार कर दिया है तथा इसके बाद सम्पूर्ण कृति में कहीं भी हमें उसके दर्शन नहीं होते।

ध्वन्यात्मक विश्लेषण की दृष्टि से भी देखा जा सकता है कि इसमें आकाश से धरती की ओर मोचन की गति परिलक्षित होती है। इसका कारण है इसकी अक्षर योजना का ध्वनिक्रम। अर्थात् इसके प्रथम अक्षर का केन्द्रक (Nucleus) है 'ई' जो कि हमारी ध्वनिप्रक्रिया का उच्चतम स्वर है, द्वितीय अक्षर का केन्द्रक 'ऊ' भी उच्च स्वर ही है और अन्तिम अक्षर का केन्द्रक है 'अ', जो कि निम्न स्वर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसकी अक्षर संरचना का रूप उच्चतम विन्दु से निम्न विन्दु की ओर अवतरित होता है। इसके अतिरिक्त 'अ' और 'म' दोनों ही घोष ध्वनियाँ होने के कारण इसके शान्तिदायक प्रभाव की भी अभिव्यञ्जना करते हैं। प्रथम दोनों स्वरों की दीर्घता इसके द्वारा दिये जाने वाले दो प्राणियों के दीर्घ जीवन की ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती है।

**पयोद :** इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण कृति में केवल एक बार संबोधन के रूप में किया गया है –**संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः, सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य** (७)। यहाँ पर इस शब्द के चयन के लिए कवि के समक्ष छन्दोयोजना का अनुरोध भी हो सकता है, किन्तु साथ ही इसकी संदर्भगत विश्लेषण करने से इसके प्रयोग की सार्थकता भी अभिव्यञ्जित हुए बिना नहीं रहती। कारण कि यह है 'पयोद' अर्थात् पय देने वाला (**पयः ददातीति**) और प्रसंग है संतप्तों के संताप को दूर करने का। कहना न होगा कि 'पय' में 'ताप' को दूर करने का सहजात धर्म होने के कारण इसका प्रयोग यहाँ पर पूरी तरह से व्यञ्जक हो उठा है। साथ ही अन्तःस्थ यकार तथा घोष दकार की कोमलता तथा ओकार की दीर्घता मिलकर इसके शान्तिदायक प्रभाव में और भी अभिवृद्धि करते हैं।

**जलद :** इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण कृति में तीन बार हुआ है (१३, ९४, १११) और तीनों ही बार इसे सम्बोधन बनाया गया है। इस प्रयोग की पृष्ठभूमि को समझने के लिए यक्ष की मनःस्थिति को समझना आवश्यक है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इस अप्रत्याशित, दीर्घ एवं गुरु वियोग ने यक्ष के भावुक हृदय को इतना विशाल बना दिया है और वह संकीर्ण स्वार्थ भावना से इतना ऊपर उठ गया है कि अब वह किसी भी जड़-चेतन के सन्ताप को नहीं देख सकता। विश्व कल्याण की भावना उसे आप्लावित कर चुकी है। वह चाहता है कि उसके सन्ताप को दूर करने वाला तथा उसकी प्रिया के पास उसका कुशलवृत्त ले जाने वाला मेघ अमरकंटक से कैलास तक उसके मार्ग में जाने वाले जड़-चेतन सभी का दुःख दूर करता जाय। इस देश में ग्रीष्म के संताप से संतप्त प्राणियों तथा वनस्पति को जीवन देने तथा कृषि के लिए धरती को उर्वरा करने का कार्य तो 'जलद' (**जलं ददातीति**) ही कर सकता है। अतः उसके लिए एकाधिक बार इस शब्द का प्रयोग करना आवश्यक हो गया था।

सन्दर्भीय विश्लेषण की दृष्टि से इसका प्रथम प्रयोग किया गया है मार्ग-प्रदर्शन के प्रसंग में '**मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपम्, सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।**' अपने जलदत्व का रूप तो वह इससे पहले के पद्य में दिखा ही चुका है (**स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम्**) और इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है इसी पद्य के उत्तर भाग में 'क्षीण-क्षीण' पद के द्वारा (**क्षीणःक्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य**)। इस मार्ग में कहाँ-कहाँ जलदान करना है यह आगे चलकर समझा ही दिया गया है। इसके बाद इसका दूसरी बार प्रयोग किया गया है उत्तरमेघ में और प्रसंग है प्रिया को सन्देश देने के उपयुक्त अवसर का '**तस्मिन् काले जलद यदि सा लब्धनिद्रा-सुखा स्यात्—मेघ० ९४**) और उसके इस जलदत्व का भाष्य किया है इससे ही अगले पद्य में जिसमें कि अपने जलकणों से शीतल वायु के झकोरों से उसे जगाने की बात कही गयी है '**तामुन्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन** (९५) यहाँ पर प्रथम पद्य में यक्षपत्नी के निद्रागत सुरतजनित खेद की ध्वनि व्यंजित होती है। उसका उपचार करने के लिए जलकणों से संयुक्त वायु की आवश्यकता है और यह सम्भव हो सकता है 'जलद' से ही। तीसरी बार इसका प्रयोग किया गया है मेघदूत के अन्तिम पद्य में '**इष्टान् देशान् विचर जलद ! प्रावृषा संभृतश्रीः।**' इससे भी यक्ष के उसी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है जिसके अनुसार वह इस पृथ्वीलोक की सम्पूर्ण चराचर सृष्टि को सुखी देखना चाहता है। उसकी पत्नी को सन्देश देने का कार्य तो चुका है किन्तु वह इतना स्वार्थी नहीं कि अपना काम पूरा होने के उपरान्त यह भूल ही जाय कि मेघ का मुख्य जीवनलक्ष्य तो है वर्षाकाल में इस देश के कोने-कोने तक जल पहुँ-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



चाना, तभी तो उसका 'जलद' नाम सार्थक होगा। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'जलद' पद में 'मेघ' के समान मूसलाधार प्रलयंकारी वर्षा का भाव नहीं अपितु सामान्य वर्षा का भाव व्यंजित होता है। इसमें पायी जाने वाली तीनों ही घोष ध्वनियाँ तथा तीनों ही लघु अक्षर भी उसके इसके सौम्य एवं मंगलकारी रूप को ध्वनित करते हैं।

**जलधर :** यक्षदूत मेघ उसकी कल्पना के पंखों पर सवार होकर उज्जयिनी के मार्ग में पड़ने वाली निर्विन्ध्या का रसपान करने के उपरान्त महाकाल की नगरी में जा पहुँचा है। वहाँ पहुँचने पर यक्ष का उससे अनुरोध है कि वह महाकाल के मन्दिर में होने वाली सन्ध्याकालीन आरती में सम्मिलित होकर पूजा के नगाड़ों के साथ अपने गर्जन की मधुर ध्वनि को जोड़कर भगवान् की आराधना में भाग ले (**अप्यन्यस्मिन् जलधर ! महाकालमासाद्य काले०** ३४)। किन्तु यहाँ उसे मात्र मन्द-मन्द गर्जन करना है वर्षा नहीं। जलभरित मेघ ही गर्जन किया करता है, जल से हीन अथवा बरसता हुआ नहीं। कहा भी जाता है 'जो गरजता है वह बरसता नहीं; अतः उसे यहाँ जलधर अर्थात् जल को धारण करने वाला कहना ही सबसे अधिक उपयुक्त सम्बोधन हो सकता था। इसमें जहाँ एक ओर घोष एवं तरल ध्वनियों से युक्त 'जल' की शीतलता है वहीं महाप्राण एवं लुण्ठित ध्वनियों से युक्त 'धर' की मधुर गर्जन और सघन घटा की छटा भी।

**अम्बुवाह :** इस शब्द का प्रयोग मेघ के पर्याय के रूप में उत्तर मेघ में किया गया है और प्रसंग है संदेश कहने से पूर्व यक्षपत्नी को उसके द्वारा अपना व्यक्तिगत परिचय देने का '**भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे ! विद्धि मामम्बुवाहम्०**, (९६)। इस पंक्ति में कवि ने 'भर्तुर्मित्र' तथा 'अविधवे' में जो अद्भुत व्यंजना की है उस पर प्रसंगसंगत न होने से यहाँ पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता, पर 'अम्बुवाह' का प्रयोग भी शब्दचयन की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर मेघ को एक सन्देशवाहक के रूप में अपना परिचय देना है, अतः उसके संकेतक पदों में से वही सर्वाधिक प्रसंगानुकूल हो सकता है जोकि वाहक की निष्पत्ति का संकेतक हो। अर्थात् केवल √ 'वह्' धातु से निष्पन्न शब्द ही इस भाव का व्यंजक हो सकता है, वह चाहे 'अम्बुवाह' हो या 'वारिवाह' √ 'दा' अथवा √ 'धृ' धातु से निष्पन्न 'जलद, पयोद' या 'जलधर' जैसे पद नहीं।

**सम्बोधनपरक शब्द :** मेघदूत में सम्बोधनपरक पदों का प्रयोग दो रूपों

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



में पाया जाता है, एक उसके गुणधर्मों के निर्देशक शब्दों के रूप में तथा दूसरे उसके व्यक्तित्व तथा स्निग्ध सम्बन्धों के निर्देशक शब्दों के रूप में। प्रथम प्रकार के सम्बोधनपदों पर ऊपर विचार किया जा चुका है, अब हम यहाँ पर केवल द्वितीय प्रकार के सम्बोधनों पर विचार करेंगे।

पारिवारिक सम्बन्धों अथवा स्निग्ध सम्बन्धों के वाचक पदों का सम्बन्ध मानव के भावनात्मक धरातल पर स्थापित सम्बन्धों के साथ हुआ करता है। अतः इनमें मानसिक संवेगों को प्रतिफलित करने वाले कोमल भावों, यथा स्नेह, अनुकम्पा, भावात्मक नैकट्य, कृतज्ञता आदि की अभिव्यंजना हुआ करती है। मेघदूत के कथानक के भिन्न-भिन्न संदर्भों में मेघ को सम्बोधित करने के लिए चुने गये शब्दों का विश्लेषण भी इस दृष्टि से बड़ा रोचक है। इसमें आवृत्ति क्रम से जिन सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है वे हैं :—सखे (४), सौम्य (४), सुभग (९), कामचारिन् (९) भ्रातः (९), साधो (९) आष्युमन् (३)। इनका सन्दर्भीय निरूपण इस प्रकार है :

**सखे :** कालिदास ने सख्य सम्बन्ध को अन्य सभी सम्बन्धों से अधिक महत्त्व दिया है। उसकी आस्था है कि व्यक्ति अपनी प्रेयसी के स्नेह के विषय में अस्थिर हो सकता है किन्तु मित्र स्नेह के विषय में नहीं। (**दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने**। कुमार० ४/२८)। इसलिए हम देखते हैं कि इस सम्बोधन की आवृत्ति इस कृति में चार बार हुई है, जोकि इस प्रकार है :

**१. उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे ! मत्प्रियार्थं यियासोः (२२)**
**२. प्रस्थानं ते कथमपि सखे ! लम्बमानस्य भावि (४९)**
**३. ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे ! धर्मलब्धस्य न स्यात् (६९)**
**४. मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे ! चेतसा कातरेण (७४)**

अपनी व्युत्पत्ति 'सह खं याति इति सखा' के अनुसार मानव के सम्बन्धों में से उसके निकटतम तथा अनन्तकाल तक स्थायी सम्बन्ध का बोधक पद इसके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता था। मेघ के साथ यक्ष ने अपने इस अटूट सम्बन्ध की स्थापना केवल अपने ही सन्दर्भ में नहीं अपितु अपनी पत्नी के सन्दर्भ में भी कर डाली है। कम से कम दो स्थानों पर उसने अपनी पत्नी को उसकी सखी कहा है—**१. एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी २. शंके रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां 'सखीं' ते (८५)**। इसके प्रकाश में स्पष्ट देखा जा सकता है कि कालिदास सख्यसम्बन्ध को कितना पावन समझते हैं।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**सौम्य** : इस शब्द का प्रयोग भी सखे के समान ही चार बार किया गया है। इससे भी यह प्रतीत होता है कि कालिदास को इस प्रयोग में विशेष अभिरुचि थी। इस प्रयोग के सन्दर्भ हैं :

१. कृत्वा तासा नभिगममपां सौम्य ! सारस्वतीनाम्,
अन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः (४९)

२. उत्सङ्गे वा मलिन वसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणाम् (८३)

३. श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनाम्
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किंचिदूनः (९७)

४. कच्चित् सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे (११०)

इस शब्द की निष्पत्ति 'सोम' से होने के कारण इसका सामान्य अर्थ है, सज्जन, आह्लादक किन्तु सम्बोधन के रूप में इसका प्रयोग श्रीमान्, महानुभाव आदि आदरार्थक पदों के रूप में किया जाता है (देखिए, कोष मो० वि०, आप्टे, प्रविष्टि 'सौम्य')। ऊपर के चारों ही प्रयोगों में यक्ष मेघ के उदात्तभाव को जागृत करने का प्रयत्न कर रहा है। प्रथम में तीर्थस्थान के प्रति श्रद्धाभाव:, द्वितीय तृतीय में एकान्त में एक स्त्री से सन्देश कथन का प्रसंग है अतः उसकी चारित्रिक उदात्तता को उद्बोधित करना सर्वथा संगत ही प्रतीत होता है। चतुर्थ प्रसंग में भी इस महान् कार्य को सम्पन्न करने की कृतज्ञता के रूप में उसे इस प्रकार के आदरणीय सम्बोधन से सम्बोधित करना भी प्रसंगानुकूल ही है। सौम्य पद का ध्वनि संयोजन भी इसके द्वारा अभिव्यक्त भाव के अनुरूप ही है, क्योंकि इसकी सभी ध्वनियाँ ऐसी है जिनकी गणना माधुर्य भाव की अभिव्यंजक ध्वनियों में होती है।

**कामचारिन्** : कालिदास के शब्दचयन का कौशल कि यक्ष एक प्रसंग में उसी मेघ को 'सौम्य' पद से सम्बोधित करता है तथा दूसरे में 'कामचारिन्' से (**तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलाम् ! न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।**) इस प्रकार कवि ने उसे मानवचरित्र के दो विपरीत छोरों पर लाकर खड़ा कर डाला है। प्रसंग है प्रियतम की गोदी में बैठी हुई कामिनी की खिसकती हुई साड़ी के समान कैलास के अंक में बसी हुई अलका से निकलती हुई गंगा को देखकर उसे पहचानने का। वैसे तो कामचारिन् का अर्थ स्वच्छन्द विहरण करने वाला भी होता है, किन्तु यहाँ पर यह प्रयोग कामुक के अर्थ में किया गया है क्योंकि उपयुक्त प्रकार के दृश्य का अवलोकन किसी 'कामचारी' के द्वारा ही सम्भव हो सकता है किसी 'सौम्य' के द्वारा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



नहीं। अतः जब कामिनी का रूप दिखाने वाली अलका का प्रसंग आया तो सम्बोधन हुआ 'कामचारिन्', किन्तु जब विरहविधुरा भ्रातृजाया का प्रसंग आया तो सम्बोधन हुआ 'सौम्य'। कालिदास का सहृदय पाठक इस अन्तर को सहज सी देख सकता है।

**सुभग :** यद्यपि मेघदूत में मेघ के सुभगत्व की बात तीन प्रसंगों में (९, २९, ४०) आई है पर सम्बोधन के रूप में इसका प्रयोग केवल एक स्थान पर किया गया है—**सौन्दर्यं ते सुभग ! विरहावस्थया व्यंजयन्ती** (२९) मेघ के व्यक्तित्व में सहजात सुभगत्व है इसकी पुष्टि उन दो प्रसंगों से भी होती है जिनमें कि उसे 'नयनसुभग' (**सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः**) तथा 'प्रकृतिसुभग' (**छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्**) कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास का मेघ केवल 'सुभग' ही नहीं अपितु 'प्रकृति-सुभग' तथा 'नयनसुभग' भी है। ऐसे सुभग प्रियजन को पाकर कौन प्रेयसी होगी जोकि अपने को सौभाग्यवती न समझेगी। इसके अतिरिक्त यदि आषाढ़ के प्रथम मेघ के सुभगत्व की पुष्टि के लिए और अधिक साक्ष्य की आवश्यकता हो तो पूछ लीजिए अपने हाथ से अपने अलकों को एक ओर करके उसकी ओर ताकने वाली पथिकवनिताओं से, भ्रूविलासानभिज्ञ ग्रामवधुओं से, या चंचल चितवन वाली पौराङ्गनाओं से। यहाँ इतना और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सम्बोधन के प्रयोग के पीछे कवि के समक्ष किसी प्रकार का छन्दसम्बन्धी बन्धन नहीं है। वह इसके स्थान पर 'सौभाग्यं ते जलद०' भी कह सकता था, किन्तु इस स्थिति में फिर सौभाग्य वाली कोई बात नहीं होती। साथ ही 'सौभाग्य' तथा 'सुभग' के साथ-साथ प्रयोग में ध्वन्यात्मक अनुरणन के साथ उसके द्वारा सौन्दर्यभाव को अभिव्यंजित करने की जो अद्भुत शक्ति आ गयी है वह किसी अन्य शब्द के प्रयोग के द्वारा नहीं आ सकती थी। तीनों ही अक्षरों में जो नादत्व तथा लघ्वक्षरता है वह भी इस अभि-व्यंजना में अतिरिक्त रूप से सहायक हो रही है।

**आयुष्मन् :** इस शब्द का प्रयोग मेघदूत में केवल एक बार हुआ है। प्रसंग है सन्देशकथन की प्रारम्भिका। (**तामायुष्मन् मम च वचनादात्मनश्चोप-कर्तुम्० ९८**)। यहाँ पर प्रकरण से स्पष्ट है कि मेघ इस विरही दम्पती के जीवन का संबल बन चुका है। यक्षपत्नी के 'जीवितालम्बन' के लिए यक्ष की 'अव्या-पन्नता' का कुशलवृत्त देना है। दोनों ओर प्रश्न है जीवन का, और इसकी रक्षा का एक मात्र भार है मेघ पर। अतः ऐसी स्थिति में यक्ष के द्वारा मेघ

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



के लिए आयुष्मत्ता की कामना करना कितना सार्थक एवं उसके मनोभाव का अभिव्यंजक है बतलाने की आवश्यकता नहीं। इसमें प्रयुक्त विवृत दीर्घ स्वर आकार की स्थिति जीवन की दीर्घता एवं विस्तृतता की स्वयं अभिव्यंजना कर रही है।

**साधो :** इसका प्रयोग भी सम्पूर्ण कृति में केवल एक बार हुआ है। प्रसंग है अलकापुरी पहुँचकर यक्षपत्नी को यक्ष का सन्देश देने के लिए उसके घर का पता लगाने का (**एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षयेथाः—७७**)। मेघ यक्ष की कार्यसिद्धि के लिए सुदीर्घ कठिन यात्रा के बाद वहाँ पहुँच रहा है, अतः "**साध्नोति परकार्यमिति साधुः**" के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार उसका साधुत्व तो स्वयं ही सिद्ध है। इसके लिए अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

**भ्रात :** इस अनौपचारिक एवं परिवारिक नैकट्य के व्यञ्जक सम्बोधन का प्रयोग भी सम्पूर्ण मेघदूत में केवल एक ही बार हुआ है। प्रसंग है यक्षपत्नी के विरहावस्थाजनित रूप का निरूपण (**वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति, प्रत्यक्षं ते निखिलमचिरात् भ्रातरुक्तं मया यत्—९१**), इस सम्बोधन के सन्दर्भ के स्पष्टीकरण के लिए हमें बहुत पीछे जाना पड़ेगा। यक्ष अपने परिचय के प्रारम्भ में ही अपनी पत्नी को उसकी भ्रातृजाया बताकर उसके साथ अपने भ्रातृत्व का निकट सम्बन्ध स्थापित कर चुका है (**तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीमव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्—९**)। मेघ सभी प्रकार से यक्ष का 'बन्धु' बन चुका है। संस्कृत की सूक्ति के अनुसार भी जो व्यक्ति विपत्ति (व्यसन) में साथ दे वही सच्चा बन्धु है, भाई है। यही भ्रातृत्व का स्नेहबन्धन है जो कि मेघ को अपने भाई तथा भाभी की जीवन-रक्षा के लिए यथाशीघ्र अलका जाने के लिए प्रेरित कर रहा है।

सन्दर्भ की दृष्टि से इन सम्बोधनों का सम्पूर्ण रूप से विवेचन करने पर एक अन्य बात जो हमारे सामने आती है वह यह है कि हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं मेघ के प्राकृतिक रूप का अवबोधन कराने वाले सम्बोधनों का ह्रास तथा मानवीकृत रूप के अभिव्यञ्जक सम्बोधनों की अभिवृद्धि होती जाती है। उत्तरमेघ में मेघ के प्राकृतिक रूप के विशेषक पदों में से केवल दो का अर्थात् 'जलद' एवं 'अम्बुवाह' का प्रयोग किया गया है, वह भी किसी विशेष भाव की अभिव्यक्ति के लिए। इसका कारण स्पष्ट है, अमरकण्टक से लेकर अलकापुरी तक के भू प्रदेश को तो मेघ का केवल प्राकृतिक रूप ही अभिप्रेत

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



था। उसके मानवीकृत रूप से उसे कोई सरोकार नहीं था। उसकी तो आवश्यकता थी केवल सन्देश कथन के लिए, अतः उसके इस रूप का उद्घाटन किया है कवि ने उत्तरमेघ में, विशेषकर यक्षपत्नी के प्रसंग में। किन्तु यह सब कुछ हुआ हैं कवि की सुनियोजित शब्दयोजना के अन्तर्गत ही।

इसके अतिरिक्त सम्बोधन से सम्बद्ध शब्दों का एक और वर्ग भी है और वह है सार्वनामिक सम्बोधनों का। कहने की आवश्यकता नहीं कि सार्वनामिक सम्बोधन प्रयोक्ताओं की सामाजिक स्थितियों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अवबोधक हुआ करते हैं। इस विषय पर पाश्चात्य जगत् में कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन भी प्रस्तुत किये गये हैं (देखिए स्टाइल इन लैंग्वेज (१९६०) में प्रकाशित ब्राउन तथा गिलमैन का लेख "द प्रोनाउन ऑव पावर एण्ड सेलिडेरिटी", सम्पादक सेब्याक, सेलोलिंग्विस्टिक्स (१९६६) में प्रकाशित फ्राइडरिख का लेख–"द स्ट्रक्चरल इम्पिलकेशन ऑव रशन प्रोनामिनल यूसेज' सम्पादक डब्लू ब्राइट)। संस्कृत में भी 'त्वम्' तथा 'भवान्' का प्रयोग वक्ता तथा श्रोता के बीच की सामाजिक स्थिति तथा भावात्मक स्थिति का अवबोधक हुआ करता है। क्योंकि सामान्यतः 'त्वं' का प्रयोग समकक्षीय तथा कनिष्ठ व्यक्ति के लिए तथा 'भवान्' का महनीय तथा श्रद्धेय व्यक्ति के लिए किया जाता है।

मेघदूत में यक्ष के द्वारा मेघ के लिए इन दोनों ही सार्वनामिक सम्बोधनों का प्रयोग किया गया है। तीन-तीन बार पृथक्-पृथक् सन्दर्भों में तथा दो बार एक ही सन्दर्भ में (देखिए, त्वं (७, ९, १७), भवान् (२२, २७, ४३) तथा दोनों (११, १२)। यहाँ पर यह विचारणीय है कि एक ही परिवेश में एक ही व्यक्ति द्वारा क्यों कर इन दो भिन्न स्तरीय सम्बोधनों का प्रयोग किया गया है, विशेषकर एक ही पद्य में :

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवंध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आ कैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥ (११)

इस द्विविध प्रयोग की पृष्ठभूमि में मात्र सामाजिक स्थिति का योग नहीं हो सकता। क्योंकि वक्ता तथा श्रोता की स्थिति में कोई अन्तर नहीं। अतः इस विपथन (deviation) का कारण अन्यत्र ढूँढना होगा। पीछे हमने देखा है कि यक्ष की दृष्टि में मेघ का व्यक्तित्व द्विधात्मक है और इस द्वैधता

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



(duality) के पीछे कार्यशील है उसका मानसिक असंतुलन। अतः कहना होगा कि कवि के द्वारा प्रस्तुत यह विपथन यक्ष की मानसिक स्थिति का तथा उसमें प्रतिफलित होने वाले भावात्मक संवेगों का परिचायक है।

अन्त में साहित्यालोचन के क्षेत्र में किये जा रहे इस प्रकार के विश्लेषण के प्रति जो आपत्ति उठाई जा सकती है उसका भी संकेत कर डालना अनुचित न होगा। इस प्रकार के विश्लेषण के प्रति सामान्यतः जो शंका उठाई जाती है वह यह कि सम्भव है कि कवि के मन में उन शब्दों के चयन के समय वह भाव न रहा हो जो कि विश्लेषक के द्वारा उन पर आरोपित किया जाता है। इस सम्बन्ध में अभी हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि अन्य कवियों के सम्बन्ध में यह आशंका भले ही स्वाभाविक हो किन्तु कालिदास जैसे शब्द-पारखी के सम्बन्ध में यह कहना उसकी काव्यप्रतिभा का अपमान करना होगा कि उसमें इन शब्दों के व्यञ्जक अर्थों तथा ध्वन्यात्मक प्रभावों पर विचार किये बिना ही सामान्य रूप से इनका प्रयोग कर दिया। क्योंकि उनकी अन्य कृतियों में प्रयुक्त शब्दों के विश्लेषण से भी यही सिद्ध होता है कि वे भावाभिव्यञ्जकता को सम्मुख रखकर ही शब्दों का चयन करते हैं। कालिदास के मन में इन शब्दों के प्रयोग के समय मूलतः ये भाव रहे होंगे कि नहीं इसे जानने के लिए यद्यपि इस समय हमारे पास उनके सन्दर्भों के विश्लेषणों के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है किन्तु अपने शब्दचयन के समय कवि के मन में भी इस प्रकार का भाव होता है यह हम 'पल्लव' की भूमिका से उद्धृत अपने युग के सौंदर्यवादी कवि सुमित्रानन्दन पंत के उद्धरणों में देख चुके हैं। एक सहृदय कवि के द्वारा स्वयं प्रदत्त इस प्रमाणपत्र को देखने के उपरान्त सम्भवतः इस प्रकार की आशंका के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाना चाहिए।

**निष्कर्ष :** उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कवि ने कथ्य के सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर ही मेघ के बोधक तथा सम्बोधन-परक ऐसे शब्दों का चयन किया है जो कि ध्वन्यात्मक तथा अर्थात्मक दोनों ही दृष्टियों से अभिप्रेत बिम्ब की सृष्टि करने तथा उसका प्रत्यक्षीकरण कराने में समर्थ हो। 'घन' जहाँ उमड़न-घुमड़न तथा गर्जन-तर्जन के बिम्ब को उभारता है, 'मेघ' वहाँ मुख्य रूप से धारासार वर्षा के बिम्ब का अवतरण कराता है। 'जलद' यदि फुहारवर्षी मेघ का चित्रांकन करता है तो 'जलधर' केवल गगनविहारी जलभरित श्यामल घटा का। इन सबसे भिन्न चित्र उभरता है 'जीमूत' का जो अपने ध्वन्यात्मक तथा श्लिष्ट अर्थात्मक रूप में सुख, शान्ति,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



शीतलता आशा, विश्वास आदि अनेकानेक मधुर भावों का प्रतिविम्बन करता है और यही बात है सम्बोधनपरकशब्दचयन की भी।

संस्कृत मे अभी शैलीपरक अध्ययनों का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। आशा की जा सकती है कि संस्कृत के विद्वान् भी हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के विद्वानों के समान इस दिशा में प्रवृत्त होंगे तथा संस्कृत के मूर्धन्य कवियों की काव्यकृतियों कें शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने में समर्थ होंगे।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# रघुवंश

(क इह रघुकारे न रमते ?)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (१)

# रघुवंश : एक शास्त्रीय विश्लेषण

## साहित्यिक जगत् में रघुवंश का स्थान

साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से रघुवंश संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है। इस मध्यमणि के बिना संस्कृत-काव्यमाला का क्या सौन्दर्य तथा क्या मूल्य होता—कहा नहीं जा सकता। सच तो यह है कि ऐसे विस्तृत एवं व्यापक पटल वाला महाकाव्य कालिदास के उपरान्त इस देश में लिखा ही नहीं जा सका। विद्वानों का तो यहाँ तक अनुमान है कि भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण रघुवंश को ही सम्मुख रखकर किया गया है। इस अनुमान में चाहे सच्चाई हो या न हो, किन्तु इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि रघुवंश महाकाव्य पिछले दो हजार वर्षों से प्रकाशस्तम्भ की भाँति भारतीय काव्य साहित्य का मार्गप्रदर्शन करता रहा है।

यह ठीक है कि विदेशों में कालिदास की यशःपताका को फहराने में उनकी अमर नाट्यकृति 'शाकुन्तल' तथा अभूतपूर्व गीतिकाव्य 'मेघदूत' का ही प्रमुख योगदान रहा है, किन्तु भारतीय विद्वानों ने पिछले डेढ़-दो हजार वर्षों से उनके इस महाकाव्य को ही उनकी श्रेष्ठतम कृति घोषित किया है। उन्होंने **'क इह रघुकारे न रमते'** जैसी सूक्तियों के द्वारा उन्मुक्त रूप से इस बात का सडिण्डिमघोष उद्‌घोष किया है कि यह इनकी श्रेष्ठतम तथा प्रौढतम कृति है। रघुवंश को उनकी प्रौढ़तम काव्यकृति मानने का भारतीय आचार्यों एवं काव्य-रसिकों का आग्रह निराधार भी नहीं। इसकी उद्‌भावना एवं रचना में कालिदास ने जिस मौलिक एवं बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है वह अन्यत्र कहीं भी इतने बड़े पैमाने पर सम्भव नहीं। 'हलायुध' ने कालिदास की काव्य-रचना

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को जो विश्व-दर्पण की संज्ञा दी है।[1] वह उनके इस विशाल पटल वाले महाकाव्य के सन्दर्भ में सर्वथा सुसंगत प्रतीत होती है। महाकाव्य परम्परा में सभी दृष्टियों से रघुवंश का स्थान रामायण एवं महाभारत के तुरन्त बाद में आता है। वस्तु-विवेचन की ऐसी विविधता एवं बहुरूपता और कहीं मिल भी नहीं सकती।

**रघुवंश का उद्देश्य**

आचार्य मम्मट ने साहित्य को **'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे'** कहा है पर वह कान्ता यदि कहीं विषकन्या की भाँति प्रियवादिनी और मादक रूपसी निकल पड़े तो समझिए कि सारा समाज ही विषाक्त हो जायेगा। 'कवित्तरस' अनौखा होता है। इसकी माधुरी को एक बार चख लेने पर फिर तो इसमें गहरी डुबकियाँ लगा कर ही चैन आया करता है। तभी तो रसिकवर बिहारी ने कहा था –

**तंत्रीनाद कवित्तरस सरस राग रतिरंग।**
**अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥**

कवि के ऊपर ही यह सब कुछ निर्भर होता है। वह चाहे इसे विष की गागर बना दे चाहे अमृतघट। वह अपने समाज को विष-वारुणी पिलाकर नष्ट भी कर सकता है और अमृतरस पिलाकर अमर भी। क्योंकि साहित्यकार की कलात्मक रागिनी पर रीझा हुआ समाज उसके स्वर पर ऐसे ही नाचा करता है जैसे कि सँपेरे की बीन पर मन्त्रमुग्ध साँप। अतः काव्य-जगत् में कला का आकर्षक महत्त्व होते हुए भी वह उसका लक्ष्य नहीं माना जा सकता। कला यदि जीवन के लिए कुछ नहीं दे सकती तो वह उच्चकोटि की कला नहीं। वह सीमित देश के सीमित समाज को सीमित काल तक तो प्रभावित कर सकती है पर अनन्त देश–काल तक वह जीवित नहीं रह सकती। संसार में जिस किसी कलाकार की कला ने देश-काल की सीमाओं को पार किया है उसमें अवश्य ही कुछ महान् उद्देश्य एवं जीवन के कुछ शाश्वत तथ्य रहे हैं। अन्यथा क्षणिक सौन्दर्य की बरसाती नदियाँ शरद् की एक ही कड़ी धूप से सूख जाती हैं, महान् से महान् विषधर भी एक न एक दिन किसी शंकर के गले से नीचे उतर कर अपना अस्तित्व खो बैठता है। पर कालिदास की कविता ने प्रकाश-स्तम्भ की भाँति दो हजार वर्षों तक समय के थपेड़े सहे हैं और वह समाज को दीप्त करती रही है। निःसन्देह इसमें कुछ ऐसे तत्त्व होंगे

१. महाकविं कालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम्।
यज्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



जिन्होंने कि इसे गौरव के साथ जीवित रखा है। अन्यथा यह कभी की काल-कवलित हो गयी होती।

'रघुवंश' कालिदास के प्रौढ़ जीवन की प्रौढ़ रचना है। इस समय तक महाकवि ने जीवन और जगत् को बहुत कुछ देख और समझ लिया था और उसके बारे में उसने अपनी धारणाएँ बना ली थी। उसके हृदय में उन सबको अभिव्यक्ति देने की एक तड़पन थी। उसके भीतर का महान् कलाकार, चिन्तक, आदर्शदर्शी एवं राष्ट्रप्रेमी व्यक्तित्व बाहर प्रस्फुटित होना चाह रहा था। इन सबके लिए उसने रघुवंश के रूप में एक ऐसे विशाल फलक की योजना की जिसमें कि उसके आदर्शों के अनुरूप भारत का एवं भारतीयता का सम्पूर्ण चित्र समा सके ; भारतीय जीवन और आदर्शों की एक अभूतपूर्व झाँकी प्रस्तुत की जा सके। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए कवि को कहाँ-कहाँ क्या कुछ करना पड़ा—यह हम उसके वस्तु-विधान के प्रकरण में देखेंगे। अपनी इस कथावस्तु के परिवेश में इस क्रान्तदर्शी कवि ने यथास्थान और यथायोग, समष्टि और व्यष्टि के बीच जीवन की सम्पूर्णता का जो अंकन किया है वह आज भी भारतीय जीवन के लिए मानदण्ड बना हुआ है। प्रेम और कर्तव्य, अनुराग और विराग, भोग और योग, स्नेह और प्रतीकार, हिंसा और दया, संग्रह और त्याग का जो अनुपम एवं सर्वाङ्गीण रूप इसमें प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

**रघुवंश का प्रेरणा स्रोत**

'रघुवंश' का प्रेरणा-स्रोत आदिकवि का आदिकाव्य है यह तो निश्चित ही है। बहुत सम्भव है अपने काव्य के इस प्रकार के नामकरण की प्रेरणा भी वहीं से मिली हो, क्योंकि रामायण में 'रघुवंश' शब्द का प्रयोग अनेक विभिन्न सन्दर्भों में हुआ है।[1] कालिदास ने भारतीय आदर्शों के मानदण्ड स्थिर करने वाले इस आदिकाव्य का अवगाहन बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ किया था, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, पर लगता है कि कालिदास को इस ग्रन्थ का अवगाहन करते-करते यह बात बड़ी विचित्र लगी कि जिस महापुरुष के कारण राम को 'राघव' कहा गया तथा उनके वंश का 'रघुवंश' के नाम से व्यपदेश हुआ उस मूल महापुरुष का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं यद्यपि इस वंश के अन्य महा-पुरुषों—सगर-अंशुमान-दिलीप-भगीरथ-इक्ष्वाकु आदि का संक्षिप्त उल्लेख किया

१. (i) रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान् मुनिः (१/३/३९)
(ii) अधाप्य सीतां रघुवंशजामिमाम् ।
(iii) अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



गया है। इस विषय में आदि कवि की इस उपेक्षा ने महाकवि के मन को इस महापुरुष के तथा इसके वंश के विषय में जानने के लिए उत्सुक कर डाला और संलग्न हो गया वह इसके विषय में अधिकाधिक जानने में। विभिन्न स्रोतों से उसे जो कुछ विशृंखलित सामग्री हाथ लगी उसके तथा अपने **तनुवाग्विभव** के सहारे ही वह प्रौढ़ कवि चल पड़ा **रघूणामन्वयं** के बारे में कुछ कहने के लिए। महर्षि वाल्मीकि की **सर्वविषया** मति भी जिस **'सूर्यप्रभव वंश'** के महामानवों का पूरा चित्रण न कर पायी थी उनका **अल्पविषया मति** के द्वारा वर्णन करना यद्यपि **'उडुप'** से **समुद्रसंतरण** का सा दुःसाहस था[1] परन्तु इस वंश की खोज व छान-बीन में कालिदास को जो सामग्री हाथ लगी थी उसने उसके मन को इतना मुग्ध कर लिया था कि उसे प्रकाश में लाने के लोभ का संवरण नहीं कर सका (**तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः**)। इस कवि को **'कवियश'** की कामना तो पता नहीं, थी या न थी पर ऐसे आदर्श नायकों को पाकर संसार के सामने उनके रूप को काव्यमय भाषा में रखने की कामना को यह सर्वतोमुखीप्रतिभावान् महाकवि (यद्यपि वह अपने लिए 'मन्द' शब्द का प्रयोग करता है) नहीं रोक सका। अपनी समस्त विनीतता एवं शालीनता के साथ अपने पूर्ववर्ती मार्गदर्शकों के प्रति अधिकाधिक सम्मान प्रकट करता हुआ[2] तथा अपने कार्य के लिए मिल सकने वाले सम्भाव्य **'उपहास'** एवं 'आलोचना' के लिए तत्पर होकर[3] वह विश्वस्त किन्तु निरभिमान भाव से भारतीय काव्य के रंगमंच पर अवतरित होता है। रघुवंश की इस भूमिका में ही हम देखते हैं कि कालिदास अपने महान् व्यक्तित्व के साथ हमारे समक्ष उपास्थित होता है। उसकी स्पष्टता ईमानदारी एवं विनम्रता की ही हमारे हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ जाती है कि हम इस रचना की महत्ता के बारे में विश्वस्त से हो जाते हैं।

**'पूर्वसूरिभिः'** के बहुवचनात्मक प्रयोग से कालिदास का संकेत वाल्मीकि के अतिरिक्त और कितने व्यक्तियों से हो सकता है यह यद्यपि निश्चित रूप से

---

१. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनाऽस्मि सागरम्॥ (रघु० १/२)

२. मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ (रघु० १/३)

३. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (रघु० १/४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दिलीप-रघु-अज के सम्बन्ध में कुछ तथ्यपरक आधार काव्यात्मक भी हो सकते हैं और अनुश्रुतिपरक भी। कवि द्वारा वर्णित प्राकृतिक एवं भौगोलिक रूपों की प्रामाणिकता देखकर विश्वास करना पड़ता है कि उसके इन वर्णनों में भी तथ्य का अंश अवश्य होना चाहिए, फिर वे तथ्य पौराणिक ही क्यों न हों। कालिदास जैसा तथ्यवादी कवि अपनी प्रतिभा के बल पर सामान्य घटना को असामान्य रूप तो दे सकता है पर सर्वथा निराधार चित्रण नहीं कर सकता, उसकी अन्य रचनाओं का अनुशीलन करने से भी यही विश्वास दृढ़ होता है। उनके सभी काव्य-नाटकों की रूपरेखा वेद, पुराण, इतिहास या अनुश्रुति पर आधारित है। कवि अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर उसकी प्राणप्रतिष्ठाभर करता है।

चाहे जिस स्रोत से भी पहुँची पर इतना तो स्पष्ट है ही कि महाकवि के कानों में उन महामानवों की गुणगाथा पहुँच चुकी थी जोकि "जन्म से मृत्यु-पर्यन्त शुद्ध एवं पवित्र रहते थे, जो किसी काम को शुरू करने के बाद उसे पूरा करके ही दम लेते थे, जिनका साम्राज्य हिमवान् से लेकर भारत के समुद्री छोरों तक फैला हुआ था, जो शास्त्रों में विहित विधि से यज्ञाग्नि की आराधना करते थे, माँगने वालों को मनचाहा दान देते थे, अपराध के अनुरूप ही दण्ड विधान करते थे, उचित अवसर देखकर काम करते थे, त्याग के लिए ही धन एकत्रित करते थे, जो कहते थे कर दिखाते थे, केवल यश की स्थापना के लिए विजय यात्रायें करते थे, संतति के लिए ही विवाह करते थे। जो बचपन में विद्याभ्यास करते थे, यौवन में सांसारिक सुखों का भोग करते थे, वृद्धावस्था में ऋषि-मुनियों की तरह जीवन बिताकर अन्त में योग-मार्ग से शरीर का त्याग करते थे।"[1]

इन महामानवों के चरित्रों के विषय में इतना सब कुछ जान लेने के बाद स्वभावतः आर्य आदर्शों के गायक इस महाकवि की अन्तरात्मा सारे संसार को

---

१. सोहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघु० १/५—८)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उनकी अमर गाथाएँ सुनाने के लिए चंचल हो उठती है (१/९)। उसे इन चरित्रों में समस्त आर्य जाति के आदर्श प्रतिविम्बित दिखाई देते हैं। इसलिए तो कहा जाता है कि कालिदास की यह महाकृति, रघु के वंश का आदर्श चरित्र नहीं अपितु समस्त आर्य जाति के आदर्शतम रूप को प्रस्तुत करती है। ऐसा करने में उसे कितनी सफलता मिल सकी है इसका निर्णय कवि ने काव्य और जीवन के उन पारखियों पर छोड़ दिया है जो कि 'सत्' और 'असत्' में भेद करने की सामर्थ्य रखते हैं।[1] और उन काव्य-पारखियों की वाणी से ही हमें भी पता लगता है कि कालिदास की कला का यह खरा सोना ज्यों-ज्यों समय और आलोचना की आग में तपता गया है त्यों-त्यों कुन्दन वनता चला गया है। इस महाकाव्य में महाकवि ने आदि से अन्त तक जिस मौलिक चित्रण, कल्पना एवं अभिव्यक्ति का परिचय दिया है वह समस्त संस्कृत 'साहित्य तो क्या विश्व' साहित्य में वेजोड़ है। इतने विशाल कथानक को सुसम्बद्धता के साथ विना किसी प्रकार की पुनरावृत्ति के प्रस्तुत करना कालिदास जैसे प्रौढ़ एवं सुलझे हुए कवि का ही काम था। 'रघुवंश' वस्तुतः भारत का राष्ट्रीय महाकाव्य है।

**कालिदास की मौलिक उद्भावना का प्रतीक**

'रघुवंश' कालिदास की मौलिक उद्भावना का एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कवि ने इस महाकाव्य की रूपरेखा के लिए सामग्री किन-किन स्रोतों से प्राप्त की पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रघुवंशियों की यह कथा इस रूप तथा इस क्रम में इससे पूर्व किसी कवि द्वारा निवद्ध नहीं हो सकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास को रघुवंश लिखने की प्रेरणा वाल्मीकि-रामायण से मिली थी और **'अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः'** के द्वारा कवि ने वड़ी ईमानदारी के साथ यह भी स्वीकार किया है कि इस कथानक के विभिन्न अंशो पर यत्र-तत्र छुट-पुट रूप से अन्य कवियों द्वारा भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका था पर जिस सुसम्वद्ध रूप में कालिदास ने इसे प्रस्तुत किया है, अपनी मौलिक प्रतिभा से इसे जो अमरता प्रदान की है वह समस्त विश्व को उसकी अपनी निजी देन है। किस महाकाव्य के द्वारा कालिदास ने इस उद्देश्य की सिद्धि की तथा भारतभूमि को क्या कुछ दिया इस पर हम अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ इतना टाँक लेना ही पर्याप्त होगा कि यह ग्रन्थ केवल रघु

---

१—त सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



के वंश का ही आदर्श चरित नहीं, अपितु समस्त आर्य जाति के आदर्शों का प्रतीक है। कालिदास ने बड़ी बुद्धिमत्ता से रघु के वंश को कथानायक के पद पर प्रतिष्ठापित करके भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के आदर्शों के विविध पक्षों को दिखाने का सुन्दर अवसर निकाल लिया है।

**वस्तु-विन्यास**

कालिदास ने इस महाकाव्य के वस्तु-विन्यास में जिस कौशल एवं कलात्मकता का परिचय दिया है वह स्वयं उसकी महानता का द्योतक है। स्पष्ट है कि उसने जब 'रघुवंश' की रचना का विचार किया तो उसके सामने सूर्यवंशी राजाओं की एक दीर्घ नामावली थी और इससे सम्बन्धित एक विशाल ऐतिहासिक सामग्री भी। ५०० सर्गों एवं २४ हजार श्लोकों में निबद्ध वाल्मीकि-रामायण को भी इसी के कलेवर में समाना था। इतने बड़े कथानक को संभालना कोई आसान काम नहीं था। राजाओं और उनके कार्यकलापों की गणना में पाठक कहाँ तक रुचि ले पाता। बस दो, चार, छह में जाकर उकता जाता। पर यहाँ तो २७ नरेशों के बारे में बतलाना था। भला कोरे ऐतिहासिक वर्णन में पाठकों का मन कब तक और कैसे लगता। पर धन्य है उस रससिद्ध कवीश्वर को जिसने इतने विशाल कथानक को इस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया कि अन्त तक न पाठक की अभिरुचि का व्याघात होता है और न कथाप्रवाह में ही कोई अवरोध उत्पन्न होने पाता है।

वस्तुसंगठन की दृष्टि से कालिदास के सामने वाल्मीकि की अपेक्षा बहुत बड़ा काम था। वाल्मीकि के काव्य का केवल एक नायक था और उसी को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर ही समस्त रामायण के कथानक का विकास होता है पर कालिदास को यह सुविधा प्राप्त न थी। उसे दर्जन से अधिक नायकों को एक सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करना था पर वह इसे पुराणों की वंशावली भी नहीं बनाना चाहता था। उसकी विशाल कल्पना रघुवंश के दो-चार प्रतापी नरेशों का गुणगान करके ही सन्तुष्ट भी नहीं होना चाहती है। वह बहुत बड़ी कामना लेकर इस क्षेत्र में उतरता है। उसकी कल्पना में जातीय जीवन का एक ऐसा बहुमुखी आदर्शोन्मुख चित्र है जिससे कि वह इस विशाल पटल पर चित्रित कर डालना चाहता है। उसकी अन्तरात्मा भारतीय संस्कृति से लबालब भरे हुए एक सरोवर की अपेक्षा अनेक धाराओं में प्रवाहित होने वाली स्रोतस्विनी को देखकर अधिक उल्लसित एवं तरंगित होना चाहती है। वह

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



आदर्शों का अधिष्ठान व्यष्टि विशेष में नहीं अपितु समष्टि में देखना और दिखाना चाहता है। कालिदास की यही आकांक्षा है जोकि उसे इतने बड़े राजवंश को अपना कथानायक बनाने के लिए प्रेरित करती दिखाई देती है।

इसीलिए हम देखते हैं कि वह 'रघुवंश' का कथानक इसके प्रथम नरेश वैवस्वत मनु से प्रारम्भ करता है और उसे दिलीप तक ले जाता है। ऐसा लगता है कि यह विमलधारा अबाध गति से सैकडों वर्षों तक बहती रही और यहाँ आकर रुकती सी जान पड़ने लगी। अतः कवि ने 'अन्वय' की चिन्ता को ही काव्य का मुख्य विषय बनाया और अन्त तक इस सूत्र को थामे रखा। इस 'अन्वय' की चिन्ता और उसके निराकरण में ही रघुवंश के कथानक का ताना बुनता जाता है। ऐसा लगता है कि कवि ने सूर्यवंशियों के जिन महान् अनुकरणीय गुणों को श्रवणगोचर किया हुआ था, जिन्होंने उसे काव्य-रचना के लिए प्रेरित किया था, वे इतने अधिक एवं विविध-रूप थे कि उन सबका समावेश एकत्र सम्भव ही नहीं हो सकता था। अतः कवि ने पूर्वश्रुत कथानकों की सीमारेखाओं में ही अपनी प्रतिभा के बल पर अपने आदर्शों के अनुरूप कुछ मौलिक चित्र उभारे और उनमें रंग भरना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार दिलीप से लेकर अतिथि तक की सात पीढ़ियों मे सभी प्रमुख गुणों का चित्रण कर डाला। एक से एक अनोखा और एक से एक आकर्षक। पर नहीं, कवि को इतने से ही तृप्ति नहीं हुई। वह दिखाना चाहता है, दिखाना ही नहीं, वरन् मन में यह भाव स्थिर कर देना चाहता है कि इस राजवंश में इन आदर्श मानवीय गुणों की यह भागीरथी निरन्तर बहती रही। इसीलिए वह संक्षेप से ही सही इसके आगे २० और नरेशों का उल्लेख करता जाता है तथा अन्त में अग्निवर्ण के नाश के बाद भी भावी के गर्भ में इन महान् आदर्शों की कामना को सँजोकर रख देता है।

कवि आदर्शोन्मुख अवश्य रहा है पर साथ ही वास्तविकता से मुँह मोड़ने का प्रयास उसने नहीं किया है। वह इस उज्ज्वल वंश में लगे हुए काले धब्बे को छिपाना नहीं चाहता, वरन् एक यथार्थवादी की भाँति उसे उघाड़कर दिखा देता है। वह गन्दगी पर पर्दा डालने की अपेक्षा उसे उघाड़कर दिखा देना तथा उस मार्ग पर कदम बढ़ाने वालों को सावधान कर देना अधिक उपयुक्त समझता है। इसीलिए तो उसने अग्निवर्ण के विलास का ऐसा नग्न-चित्र उपस्थित कर दिया है तथा उसका ऐसा कारुणिक अन्त दिखाया है। कालिदास के इस आदर्श को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण ही कुछ

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



आलोचक अग्निवर्ण की विलासिता के नग्न-चित्रण एवं रघुवंश काव्य के इस दुःखान्त रूप के लिए कालिदास को दोषी ठहराते हैं। वस्तुतः कालिदास ने रघुवंश की वस्तु-योजना में व्यष्टि और समष्टि, आदर्श और यथार्थ का जो सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है वह अद्भुत है।

**रघुवंश का नायकत्व**

कालिदास के इस महाकाव्य का असली नायक कौन है, इस बात को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण ही कई आलोचकों ने कालिदास की इस अनुपम कृति पर तरह-तरह के आक्षेप किए हैं। किसी को इसमें कथानक की एकसूत्रता का अभाव दिखाई देता है तो किसी को इसमें असम्बद्धता ही दिखाई देती है। कोई रामकथा के आधार पर इसमें महाकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य की रचना का आरोप लगाता है तो कोई इसके कथापात्रों—कुश, ध्रुवसन्धि वा अग्निवर्ण की मृत्यु के कारण इसे भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा के विरुद्ध दुःखान्त होने के लिए दोषी ठहराता है। ऐसे ही और भी अनेक आक्षेप इसकी वस्तु-योजना तथा रूप-विधान के बारे में किये जाते हैं जोकि प्रायः एक ही भ्रमात्मक मूल से उत्पन्न हैं।

वस्तुतः लोगों ने दिलीप–रघु–अज आदि को ही रघुवंश का नेता मान लेने की भूल की है। इसीलिए कोई इसे ऐसी बिखरी हुई सामग्री के रूप में देखता है जिसे कि कालिदास ने जबर्दस्ती एक सूत्र में पिरोने का यत्न किया है और इसके लिए उसे एक को मारकर उसके उत्तराधिकारी के लिए स्थान बनाना पड़ा है तो कोई कुश–अग्निवर्ण आदि को भी इसका नेता मान कर इसी आधार पर काव्य में नायक की मृत्यु को भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा के विरुद्ध कहकर उसकी आलोचना करता है। कालिदास को भी इस काव्य की रचना के समय शायद लोगों में इस प्रकार की भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न हो जाने की आशंका रही हो। इसीलिए तो उसने काव्य रचना की बात सामने आते ही पहले ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया—**'रघूणामन्वयं वक्ष्ये'** अर्थात् मैं दिलीप-रघु आदि किसी नरेश के विषय में नहीं अपितु उनके 'अन्वय' के विषय में ही कुछ कहूँगा। पर फिर भी लोग रघु आदि नरेश तथा उनके वंश के बीच किसी प्रकार के अभेद की स्थापना न करलें इसके लिए अगली ही पंक्ति में विशेष रूप से कह दिया—**'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः'**। जरा ध्यान दीजिए कवि की वाणी पर तथा उसके 'सत्' और 'असत्' के लक्ष्य पर। 'सत्' और 'असत्' की सम्यक् 'व्यक्ति'

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



न होने के कारण ही तो भ्रम और आशंका का जन्म होता है। फिर कवि तो मंगलाचरण के तुरन्त बाद से ही यह कहता आ रहा है कि वह अपनी 'अल्प-विषया मति' से 'सूर्य-वंश' का गुणगान करना चाहता है नकि किसी व्यक्ति-विशेष का। ये व्यक्ति तो उस 'वंश वा अन्वय' के जीवन के विविध पक्षों के स्थानीय हैं। उनका अपना व्यष्टिगत महत्त्व भी है पर वह पूरी तरह निखरता है समष्टिगत रूप में ही।

इसीलिए कालिदास 'रघुवंश' की नींव ही वंश-विच्छेद की आशंका पर रखकर आगे बढ़ता है।[1] और जब यह अवरोध हटता है तो कवि दिलीप से यही कहलवाता है कि मुझे वंश को आगे बढ़ाने वाले यशस्वी पुत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए—**वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे,** इस प्रकार जब 'वंश' नायक बन गया तो व्यक्ति तो बीच-बीच में आते रहेंगे और छूटते रहेंगे, इससे नायक की गति विच्छिन्न नहीं होगी। वह निरन्तर आगे बढ़ता रहेगा। इस प्रकार के नायक को आगे बढ़ाने के लिए जिस चीज की सबसे प्रमुख आवश्यकता होती है वह है 'विवाह'। अतः कवि इस परम्परा को बनाए रखने के लिए विभिन्न रूपों में विवाहदीक्षा एवं दाम्पत्य की योजना करता रहा है। अन्त तक जहाँ कहीं भी इसके दुर्बल होने या टूटने का प्रश्न आया है कवि ने सँभाल लिया है। अपनी प्रिया के बिना जीवित रहने की कोई आकांक्षा न रहने पर भी अज इसलिए आठ वर्ष तक प्राण धारण करता रहा कि उसका बाल पुत्र अभी वंश के भार को ठीक प्रकार से सँभाल नहीं सकता था।[2] ऐसे ही राम के द्वारा निर्वासित की गयी सीता केवल इसलिए आत्महत्या नहीं करती कि उसके गर्भ में रघुवंश का तेज निहित है और उसे उसकी रक्षा करनी है।[3] सुदर्शन का ६ वर्ष की अवस्था में ही राज्याभिषेक हो गया और यही स्थिति है अग्निवर्ण के प्रसंग में भी। ठीक है कि अग्निवर्ण वंश के आदर्श **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** को भुलाकर विलासिता में लीन हो गया। अतः राज-यक्ष्मा का शिकार बनकर अकालमृत्यु का ग्रास हो गया। पर इससे क्या उसे अपने कुत्सित कर्मों का फल मिला, जोकि महाकवि के अनुसार मिलना ही चाहिए था, पर इससे 'रघुवंश' तो समाप्त नहीं हुआ, वह तो अब भी जीवित

---

१. रघु० १/३३–३५; ६५–७०.

२. रघु० ८/९२.

३. किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्ष्यणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तराय॥ (रघु० १४/५६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



है। प्रजा अब भी किसी दिलीप-रघु वा राम के जन्म की लालसा लगाए बैठी। वंश परम्परा अब भी निरवच्छिन्न रूप से चल रही है। कुश, ध्रुवसन्धि–अग्नि-वर्ण अपनी-अपनी मौत मर जाते हैं इससे क्या हुआ, इनके अस्तित्व के मिटने के साथ 'रघुवंश' का अस्तित्व तो नहीं मिट गया। वह तो अब भी निरन्तर आगे बढ़ रहा है। नेता के जीवन के एक पक्ष के बीत जाने पर नेता समाप्त तो नहीं हो जाता, वह तो उसके जीवन का घात-प्रतिघात मात्र होता है। कालिदास के नायक 'रघुवंश' का अन्त तक सशक्त बने रहने का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि एक स्त्री राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त हो जाती है परन्तु उस वंश का प्रताप कि किसी बाहरी शासक को आक्रमण तो क्या उसकी ओर दुर्भावना से देखने का भी साहस नहीं होता।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर भी हमारे सामने 'रघुवंश' की सुसम्बद्धता स्पष्ट हो जाती है। प्रबन्ध काव्य के वस्तु भाग का आधिकारिक एवं प्रासंगिक रूपों में विभाजन किया जाता है। संसार के सभी महाकाव्यों में इनकी सत्ता पायी जाती है। केवल मात्र आधिकारिक कथा पर महाकाव्य का प्रबन्ध नहीं हो सकता। उसे पुष्ट करने के लिए बीच–बीच में प्रासंगिक कथाओं की आवश्यकता होती है। उन्हीं से उसकी पुष्टि होती है। उन दोनों के बीच अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होता है। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडेसी आदि सभी में यह रूप पाया जाता है। कलाकार का महत्त्व इस बात पर निहित होता है कि उसने इनकी योजना किस प्रकार की तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध को किस प्रकार निभाया।

अपने इस महाकाव्य में कालिदास ने भी 'रघुवंश' वा 'सूर्यवंश' को अधिकारिक वस्तु के स्थान पर प्रतिष्ठापित करके विभिन्न नरेशों की कथाओं को प्रासंगिक रूप में प्रस्तुत किया है। रघुवंश की ये प्रासंगिक कथाएँ आधिकारिक कथावस्तु के साथ आदि से अन्त तक बड़ी सुसम्बद्धता के साथ गुँथी हुई हैं। कलाकार ने यह वस्तुग्रथन इतने कौशल के साथ किया है कि एक के बिना दूसरा सम्भव ही नहीं। उनके बीच ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि वे एक दूसरे की आधारभूमि या पूरक बन जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे कि एक ही पात्र भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में हमारे सामने आ रहा है। वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। रघुवंश का प्रधान नायक 'रघुवंश' ही विविध रूपों में हमारे सामने उपस्थित होता है। वह कभी गोसेवा में रत होकर गौ की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को उद्यत दिखाई देता है तो कभी अपने

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust.



पराक्रम से देवराज को भी ललकारता हुआ। कभी विशालवाहिनी के साथ अपनी दिग्विजय का डंका बजाता हुआ दिखाई देता है तो कभी मृगया और विनोद में रत। कभी सत्य की रक्षा के लिए प्राण त्यागता है तो कभी मर्यादा का पालन करने के लिए पतिव्रता पत्नी को। कभी भोगी, कभी वियोगी और कभी योगी के रूप में दिखाई देता है और कभी अतिभोग के कारण रोगी भी। जीवन एक अविरल रूप में बहता रहा है। भिन्न-भिन्न स्थितियों में उसके भिन्न-भिन्न रूप उभरे और निखरे हैं। व्यक्ति की अपेक्षा 'वंश' को आधिकारिक वस्तु के पद पर प्रतिष्ठापित करने से कालिदास को एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ है कि उसे इन विभिन्न नरेशों की कथाओं को प्रासंगिक वस्तु के रूप में उपस्थित करके मानव के स्वरूप को भिन्न--भिन्न रूपों एवं अवस्थाओं में चित्रित करने का अवसर मिल गया है। एक ही परम्परा में अनेक बहुमुखी चरित्रों को उपस्थित किया जा सका है तथा कथाप्रवाह को अविच्छिन्न तथा सुसम्बद्ध रखा जा सका है।

**वस्तु-संयोजन पर कुछ आक्षेप और उनका निराकरण**

कालिदास के कुछ आलोचकों को शिकायत है कि 'रघुवंश' के दसवे सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग का कथानक बहुत शिथिल है। वस्तु संकलन की दृष्टि से भी और कलात्मकता की दृष्टि से भी। अथवा कुछ लोग कालिदास के 'रघुवंश' के नायक के रहस्य को न समझने के कारण महाकाव्य के इस भाग के लिए कह डालते हैं कि यह तो कवि ने महाकाव्य के अन्तर्गत एक और महाकाव्य की रचना कर डाली है। ऐसे असमीक्ष्यकारी आलोचकों से हमारा केवल इतना ही नम्र निवेदन है कि कि वे रघुवंश के इस भाग को सूर्यवंश के नायकत्व तथा वाल्मीकि रामायण के कथा के परिवेश में रखकर पढ़ें, शायद उन्हें इसमें दृढ़बन्धत्व एवं कलात्मकता के दर्शन हो जाएँ।

साथ में इतना और भी कि कालिदास को न तो वाल्मीकि द्वारा कथित रामकथा को दुहराना था और न इसके द्वारा किसी प्रकार महर्षि के गौरव को कम करना। उन्हें तो केवल सूर्यवंश के उन प्रतापी महामानवों के पावन कृत्यों को एक सम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करना था जिन पर कि रामायण में भलीभाँति प्रकाश नहीं पड़ सका था। इसलिए उनके लिए रामकथा का उतना ही महत्त्व था जितने से कि रघुवंश की कथा की सुसम्बद्धता बनी रहे तथा उसके नायक 'रघुवंश' के जीवन के उस पक्ष पर विशेष प्रकाश पड़ सके जिस पर कि अन्यत्र प्रकाश नहीं पड़ सका है। इसलिए महाकवि ने ५०० सर्गों तथा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



२४००० श्लोकों के महाकाव्य से तत्वों का बड़ी कुशलता से चयन किया है तथा उसे बड़ी मौलिकता एवं मार्मिकता के साथ प्रस्तुत कर दिया है केवल ६ सर्गों में। इसमें भी कालिदास ने अनेक रूपों में जिस मौलिकता का परिचय दिया है वह केवल कालिदास का रसज्ञ पाठक ही बतला सकता है। रामायण में सीताहरण के बाद से लेकर राम के लंका पहुँचने तक का मार्ग विवरण विस्तार के साथ दिया गया है पर कुशल कलाकार ने रघुवंश में उसे वहाँ न देकर पुष्पक द्वारा राम और सीता की वापसी के अवसर पर राम के मुख से अतीत की स्मृति के रूप में सीता से कहलवा दिया है (सर्ग १३)। इस परिवर्तन से कथानक में कितनी चुस्ती, संक्षिप्तता तथा मार्मिकता आ गयी है यह कोई पारखी ही पहचान सकता है। सीता–राम के इन सुखद क्षणों में अतीत के दुःखद क्षणों की स्मृति किस तरह रस का संचार करती है यह तो केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' नाटक के प्रथम अंक में उद्भावित की है। यहाँ भी सीता–परित्याग (१४ सर्ग) के महाविस्फोट से पूर्व भवभूति के चित्रपट की भाँति राम और सीता के विगत प्रेममय दाम्पत्य जीवन की मधुरतम झाँकी प्रस्तुत की गयी है। असम्भव नहीं कि नाटककार भवभूति को चित्रपट की मौलिक कल्पना की प्रत्यक्ष प्रेरणा यहीं से मिली हो। क्योंकि अनेक अंशों में उभयत्र स्थिति, कल्पना एवं अभिव्यक्ति में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है। जो भी हो इस परिवर्तन में कालिदास के मौलिक चित्रण एवं अभिव्यञ्जना की छाप अवश्य है।

ऐसे ही १४वें १५वें सर्ग की सीता-परित्याग की कथा का चित्रण कालिदास ने जिस मार्मिक एवं सबल रूप में किया है वह समस्त संस्कृत-साहित्य तो क्या शायद विश्व साहित्य में अतुलनीय है ऐसा मैं मानता हूँ। चौदहवें सर्ग की सीता में जिस तेजस्विता एवं उदात्तता का अवतरण कालिदास ने कर दिखाया है[1] वह विश्व के नारी समाज के लिए महान् प्रेरणा एवं गौरव की वस्तु है। आज तक किसी साहित्य में किसी नारी के मुख से ऐसी ओजस्विनी वाग्धारा प्रवाहित हुई हो ऐसा स्मृति पथ में नहीं आता। कम से कम ऐसा आक्रोश

---

१- वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लौकवादश्रवणाद्दहातीः श्रुतस्य किं यत्सदृशं कुलस्य॥
सा हं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

(रघु, ४५६०६१/१)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



व ऐसा जन्मान्तराकांक्षी पति-प्रेम तो संसार में एकत्र हो ही नहीं सकता। ऐसी ही ओजस्विता एवं तेजस्विता के दर्शन होते हैं पतिव्रत का प्रमाण देते समय (सर्ग १५/८१)। इसकी तुलना में आदिकवि का वर्णन बहुत पीछे छूट जाता है। इसके आगे का कथानक भी कवि की अपनी मौलिक देन है।

साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि वाल्मीकि के राम कथा-नायक हैं और उनकी कथा वहाँ आधिकारिक है पर यहाँ रघुवंश के परिवेश में उनकी कथा प्रासंगिक है। यहाँ प्रधान महत्त्व राम का नहीं 'रघुवंश' का है, वे उसके एक अंग मात्र हैं, यद्यपि प्रमुख अंग हैं। राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, आदर्श हैं, पर जिस आदर्श वंश में उन्होंने जन्म लिया अथवा जिस महार्घ मुक्ताहार के वे मध्यमणि हैं उसका परिचय कराने का श्रेय कविकुलगुरु को ही है। इस वस्तु संयोजन में रामकथा को आनुपातिक रूप में जितना स्थान मिलना अपेक्षित था कालिदास ने उसे उतना ही दिया है। इस पर भी यदि आलोचक कालिदास को रघुवंश की वस्तु-संयोजना के लिए दोषी ठहराते रहें तो यही कहना पड़ेगा कि दुराग्रही एवं दोषदर्शी दृष्टि का दुनिया में न कभी इलाज हुआ और न हो सकेगा।

किसी भी दृष्टि से देखिए इसमें असम्बद्धता वा शिथिलता नाम की कोई चीज ही नहीं, यों इतने बड़े कथानक में सर्वत्र एक सी चुस्ती, मार्मिकता वा दृढ़ता रह भी नहीं सकती। यह तो कालिदास का ही कौशल था जोकि इतने विशाल कथानक को महाकाव्य परिपाटी में एक सूत्र में पिरोकर रख गया।[1] कोई अन्य कवि होता तो यह रघुवंश एक काव्य न होकर या तो पौराणिक वंशावलियों का परिशिष्ट होता या इतिहास की रसहीन शृंखला।

**वस्तु-विकास की अवस्थाएँ**

कालिदास ने एक महाकाव्य के कथानक की भाँति इसके कथानक को प्रारम्भ से अन्त तक वस्तु विकास की सभी अवस्थाओं से गुजारा है। कवि ने इसका प्रारम्भ ही 'रघुवंश' अथवा 'सूर्यवंश' के प्रवर्तक वैवस्वतमनु से किया है। वंश गतिमान् हो गया और अविरलगति से प्रवाहित हो ही रहा था कि अवरोध उत्पन्न हो गया दिलीप पर आकर। वंश की गति रुक गयी, पर इस वंश के सुख दुःख के शरण्य गुरु वशिष्ठ की कृपा से अवरोध दूर हो गया। फिर वंश उसी गति से आगे बढ़ चला जैसे सरिता का प्रवाह अवरुद्ध होने के बाद

---

१. अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (रघु० १/४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



फिर अवरोध के हट जाने से तीव्रतर वेग से वह निकलता है। रघु के रूप में कथा का ऐसा विकास हुआ कि उसमें अप्रतिम तेज (इन्द्र-रघु युद्ध), अभूतपूर्व दिग्विजिगीषा तथा अलौकिक त्याग व अतिथि-सत्कार (सर्वस्वदक्षिणयाग तथा कौत्स की दक्षिणा) एकत्र प्रतिफलित हो उठा। इन सभी से वंश का ऐसा गौरव बढ़ा कि अब उसका संकेतबोध वैवस्वत, सूर्य वा ककुत्स्थ की अपेक्षा 'रघु' से होने लगा।

वस्तु-विकास का एक रूप रघु में पूर्ण हुआ तो दूसरा **'सर्वावयवानवद्य'** अद्वितीय प्रणयी अज तथा आखेटी दशरथ में। अभी तक वस्तु का चतुरस्र विकास चल रहा है। श्रद्धा, भक्ति, दयालुता, स्नेह, सौन्दर्य, ओज, विनय, संचय, त्याग, आसक्ति, निर्लेप, भोग, योग, दान, अनुग्रह आदि सभी आदर्श मानवीय रूपों का विकास हो चुका है। विकास की चरमसीमा आ चुकी है, इससे अधिक विकास मानव में सम्भवतः सम्भव नहीं, अतः 'राम के अभिधान में स्वयं हरि' विष्णु भगवान् को वंशसूत्र को सम्भालना पड़ा। भगवान् ने अपने जन्म परिग्रह से वंश को पावन किया यह गौरव की बात थी, पर फिर भी रघु का यश और प्रताप तिरोहित न हो सका। 'रघुवंश' 'रामवंश' न बन सका। यही है वाल्मीकि और कालिदास के दृष्टिकोण का अन्तर। कालिदास मानता है कि मानव का अन्तिम लक्ष्य देवत्व है और उसमें उसकी पूर्णता भी होती है, पर उसके गौरव का आधार हो सकता है उसका अलौकिक मानवत्व ही।

वंश-विकास पूर्णता को पहुँच गया। ठीक है, पर महाकाव्य के वस्तुविधान के विधान के अन्तर्गत अब चरम विकास के बाद नियति के प्रदर्शन की अपेक्षा थी, अतः उसमें ह्रास का प्रारम्भ हुआ। रघुकुल का केन्द्रीभूत शक्तिपुञ्ज आठ भागों में विभक्त हो गया। पर कवि ने कथानायक के रूप में कुश के रूप में उसे बटोर लिया है और इस प्रकार कथानक को आगे बढ़ाने के लिये मार्ग बना लिया है। उतार बराबर गतिशील दिखाई दे रहा है। नीतिनिपुण अतिथि तक यह बराबर इसी रूप में चल रहा है। पर यहाँ से इसमें फिर नया रूप आने लगता है जोकि अन्त की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देने लगता है और परम लम्पट अग्निवर्ण में जाकर पुनः विनाश वा गत्यवरोध के चिन्ह स्पष्ट होने लगते हैं। पर कुशल कलाकार ने गर्भवती रानी को अभिषिक्त करा करके कथा-नायक के लिए मार्ग खोल दिया है। इस प्रकार कवि ने बड़े कौशल से एक ओर कथानायक को भावी के गर्भ में बचा करके शास्त्रीय दृष्टि से काव्य को

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दुःखान्त होने से बचा भी लिया है और दूसरी ओर वस्तु का अन्त करके भाव-दृष्टि से इस दुःखान्तता को व्यक्त भी कर दिया है।

**वस्तु-विन्यास में चिन्त्य स्थल**

वस्तुतः इतने विशाल पटल के काव्य को आद्योपान्त सुसम्बद्ध रूप में निभाना सरल कार्य नहीं था। फिर भी कालिदास ने जिस कौशल से सम्पूर्ण रघुवंश की योजना की उसका कुछ रूप हम देख ही चुके हैं। इसमें जो कुछ किया गया है वह केवल किसी अलौकिक प्रतिभाशाली कवि से ही सम्भव हो सकता था, इसीलिए सामान्य पाठक को इसकी वस्तु-योजना में कोई त्रुटि नहीं दिखाई दे सकती। पर कालिदास का गहन रूप से अवगाहन करने वाले मनीषियों को इसमें यत्र-तत्र कुछ ऐसे स्थल मिल जाते हैं जो कि वस्तु-विन्यास की दृष्टि से चिन्त्य कहे जा सकते हैं।[1] इनमें से कुछ स्थल प्रस्तुत हैं—

'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में कालिदास ने दिलीप-सिंह सम्वाद की बड़ी नाटकीय योजना की है किन्तु कवि ने इस अद्भुत कौतूहलपूर्ण नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व ही—**'अन्येद्युरात्मानुचरस्यभावं जिज्ञासमानामुनिहोमधेनुः' × × × गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश (२/२६)'** कहकर आगे आने वाले विस्मय का व्याघात कर दिया है। पहले ही पाठक को इस अद्भुत नाटक की निस्सारता का आभास हो जाता है। इसीलिए बाद में **'तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि (२/६२)'** जैसी उक्ति का पाठक के लिए कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। राजा की परीक्षा की बात पहले ही न कहकर उसे यदि अन्त तक छिपाए रखा गया होता तो पाठक भी इस समय इतना ही विस्मित होता जितना कि स्वयं दिलीप। इसके लिए तो इतनी ही भूमिका पर्याप्त होती कि 'एक दिन मुनिहोमधेनुः गङ्गाप्रपात के शीकरों से हरित हिमवान् के गह्वर में गयी'। क्यों गयी ?-यह रहस्य यदि अन्त तक रहस्य ही बना रहता तो ठीक होता। नाटकीयता का पूरा आनन्द आ जाता।

ऐसे ही 'रघुवंश' के छठे सर्ग में भी स्वयंवर में आये हुए राजाओं की शृङ्गार चेष्टाओं का वर्णन करने के लिए पहले से ही—

**तां प्रत्यभिव्यक्त मनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।**
**प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गार चेष्टा विविधा बभूवुः॥ ६/१२**

—के द्वारा जो भूमिका बाँध दी है उससे उनकी आकस्मिकता का सौन्दर्य घट गया है। आकस्मिकता से होने वाले क्रिया-व्यापार का प्रारम्भ भी आकस्मिकता

१. द्रष्टव्य—कालिदास और उनका रघुवंश—रामप्रसाद सारस्वत, पृ० ९४–९३

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



से किया जाता तो अधिक स्वाभाविक होता।

ऐसे ही सप्तम सर्ग में भी अजदर्शनोत्सुक रमणियों के व्यापार की अस्त-व्यस्तता को यदि एकदम ही प्रारम्भ कर दिया गया होता तो वह अधिक स्वाभाविक लगता। पर पहले से ही—**बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्य-कार्याणि विचेष्टितानि** (७/५) कहकर कवि ने हमें उस भागदौड़ के दृश्य के लिए पहले से ही तैयार कर दिया है।

इसी प्रकार 'रघुवंश' के दसवें सर्ग की भगवान् विष्णु की उक्ति कि 'मैं दशरथ के घर में जन्म लेकर अपने बाणों से रावण का शिरश्छेद करूँगा' (१०/४४) के बाद तो आगे आने वाली सभी घटनाओं का कौतूहल ही समाप्त हो जाता है। यहाँ पर कालिदास शायद अवतार परम्परा से प्रभावित हो गये हैं।

किसी चमत्कार की प्रभावकारिता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि वह अन्त तक रहस्य ही बना रहे। यदि इससे पूर्व ही वह झलक पड़े तो अन्त तक उसमें पर्याप्त ह्रास हो जाता है। राम जैसा सुकुमार बालक भगवान् शंकर के प्रचण्ड चाप का भंजन कर सकता है यह जनकपुर की जनता के लिए अकल्पनीय था। राजा जनक तो स्वयं ही विश्वामित्र जी से अपनी आशंका व्यक्त करते हुए कहते हैं—हे भगवन्! जो कार्य बड़े-बड़े मतवाले हाथियों के लिये भी दुष्कर है उसे हाथी के बच्चे से करवाना तो खिलवाड़ ही होगा। इसलिए मेरा मन नहीं चाहता कि राम को इस कार्य के लिए कहा जाये (११/३९)। राम के अलौकिक कृत्य के चमत्कार के प्रदर्शन का प्रारम्भ ठीक ही हुआ था। पर कालिदास ने यहाँ पर ही विश्वामित्र के द्वारा राम की अलौकिक शक्ति का बखान करवाकर (११/४१) उस चमत्कार को समाप्त-प्राय कर दिया है। साथ ही जब विश्वामित्र के आप्त-वचनों से ही जनक ने उस काकपक्षधारी में धनुष को उठा सकने की शक्ति का विश्वास कर लिया (११/४२) तो फिर राम के द्वारा धनुष उठाने पर कम से कम उनके लिए तो **'विस्मयस्तिमितेनेत्रैर्वीक्षितः'** जैसी उक्तियों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। विस्मय और चमत्कार रहा भी कहाँ? पाठक तो पहले से ही इसके लिए तैयार हो चुका है।

ऐसे ही वस्तु-विन्यास की दृष्टि से दिलीप से लेकर कुश तक तो गुण-व्यापार का सुन्दर समन्वय चला है। पर अतिथि पर आते ही व्यापार समाप्त-प्राय हो जाता है। फलतः गुण-व्यापारविच्छेद से कथा में शिथिलता आ जाती

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



है। पाठक केवल गुणवर्णन से ऊबने लगता है और क्रिया-व्यापार का अभाव खटकने लगता है।

इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं जहाँकि वर्णन या प्रसंग में पूर्ण संगति नहीं बैठने पाती। 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में कम्बोजों को जीतने के उपरान्त जब रघु पहाड़ी राज्यों को जीतने के लिए हिमवान् की ओर प्रस्थान करता है तो कालिदास लिखता है :

**ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः** (४/७१)

अर्थात् कम्बोज विजय के बाद रघु हिमवान् को जीतने के लिए अपनी घुड़-सवार सेना को लेकर आगे बढ़ा। बात बिल्कुल संगत भी लगती है, क्योंकि एक तो पहाड़ पर गजसेना तथा रथसेना जा नहीं सकती, दूसरे अभी-अभी उसे कम्बोजों से भेंट में बहुत बढ़िया किस्म के घोड़े प्राप्त हुए हैं (४/७०)। काबुली घोड़ों से हिमालय पर चढ़ाई करना प्रसंग तथा वर्णन की दृष्टि से सर्वथा उचित है। पर आगे चलकर जब हम हिमालय में उसके हाथियों का वर्णन पढ़ते हैं (४/७४—७५,८१) तो प्रकरण में कुछ असंगति सी लगती है। लगता है कवि सेना और शौर्य के वर्णन के प्रवाह में स्थान और वर्णन की संगति की ओर से असावधान हो गया है।

ऐसे ही इसी प्रकरण में हिमवान् पर रघु के शौर्य और पराक्रम का वर्णन करते हुए वह कहता है—

**तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः।**
**पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम्॥** (४/८०)

'किन्नर प्रदेश पर अपनी अनश्वर यशोराशि को स्थापित करके वह हिमवान् के इसी भाग से लौट आया। एक बार रावण के द्वारा जीत लिये जाने पर अब उसे जीतने को न जाकर मानो उसने कैलास को लज्जित सा कर दिया।'

यहाँ पर रघु से पूर्व ही हिमवान् को रावण के द्वारा भुजाओं पर उठाये जाने के संकेत में कालदोष स्पष्ट है। स्पष्ट है कि रावण राम का समकालीन था। अधिक से अधिक दशरथ का समकालीन हो सकता है। पर रघु से पूर्व तो उसे किसी प्रकार भी नहीं रखा जा सकता। अतः यहाँ पर रघु से भी पूर्व रावण के पराक्रम का उल्लेख कालक्रम की दृष्टि से चिन्त्य कहा जा सकता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (२)

# रघुवंश का कलापक्ष

## वस्तु-विन्यास की कलात्मक योजना

हमने देखा कि कालिदास ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ वस्तु का संयोजन किया। किन्तु किसी कथानक का चयन ही काव्य की सफलता एवं महानता के लिए पर्याप्त नहीं होता। उसकी वास्तविक सफलता तो उसके कलात्मक विन्यास में होती है और इसी से हो पाती है उसकी प्राण-प्रतिष्ठा भी। किसी महान् कलाकृति की सामग्री उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि उसका यथानुपात तथा यथास्थान विन्यास होता है। चित्रकार की तूलिका के छोटे-छोटे विन्दुओं से ही चित्र प्राणवान् हो उठता है।

किसी महाकाव्य की सफलता के लिए उसमें रस-भाव-रूप-व्यापार-वातावरण एवं चरित्र-चित्रण का सम्यक् एवं सुन्दर निरूपण आवश्यक माना गया है। हम प्रस्तुत महाकाव्य में रघुवंश के परिवेश को देखने का यत्न करेंगे कि महाकवि ने इन सबका निरूपण कब, कहाँ तथा किस रूप में किया है। उनसे काव्य के सौन्दर्य में क्या अभिवृद्धि हुई है तथा उसकी प्राण-प्रतिष्ठा में क्या योग मिला है।

## भाव निरूपण

वस्तु-संकलन में हम देख चुके हैं कि कवि ने 'रघुवंश' के २७ नरेशों की एक विविध गुण-गण-मण्डित परम्परा को अपने काव्य के लिए चुना है। इनके जीवन एवं कृत्यों को एक रुचिकर काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं था पर महाकवि का रचना कौशल ! कि उन्नीस सर्गों के इस महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग एक नया भाव, नया आधार लेकर उपस्थित होता है। न कहीं पुनरावृत्ति है और न कहीं एकरूपता। उनके विभाजन में अपने

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कौशल का ऐसा अद्भुत परिचय दिया है कि एक के बाद एक नया भाव आता गया है और प्रत्येक का अपना रूप और अपना महत्त्व है। चित्रपट की भाँति कथानक विविध भावों के साथ आगे बढ़ता जाता है और पाठक की रुचि का कहीं भी व्याघात नहीं होने पाता।

काव्य के प्रारम्भ में कवि **'सोहमाजन्मशुद्धानाम्····· रघूणामन्वयं वक्ष्ये'** (१/५–९) के द्वारा हमारे मन में उन आदर्श मानवों के बारे में जानने की एक प्रबल उत्सुकता जगा देता है और इसी उत्सुकता के साथ हमारा परिचय कराता है सर्वप्रथम 'क्षत्रियत्व के साक्षात् अवतार' राजा दिलीप से जिसके रूप और गुणों के बारे में सुनकर (१/१२–३०) हमारी जिज्ञासा बढ़ चलती है और फिर कवि इसी समय हमारे निरन्तर बढ़ते हुए औत्सुक्य को नया मोड़ देने के लिए उसे सन्तानाभाव से चिन्तित दिखाकर सपत्नीक वशिष्ठाश्रम की ओर प्रस्थान करवा डालता है। इस यात्रा में हमारा मन ग्राम्य-जीवन की मधुरता में खो जाता है। औत्सुक्य और विषाद जाता रहता है और एक अजीब सरलता का भाव हृदय पर छा जाता है। विशेषकर 'नवनीत की भेंट लेकर आये हुए बूढ़े ग्वालों से राजा और रानी का वहाँ के लतावृक्षों के बारे में पूछने' का भाव तो एकदम हृदय में प्रतिबिम्बित सा हो जाता है। इसी के साथ हम वशिष्ठ की तपोभूमि के शान्त एवं पवित्र वातावरण में जा पहुँचते हैं, जिसके बारे में सुनकर मन एक अजीब शान्ति का अनुभव करता है।

प्रथम सर्ग में तपोवन की जिस शान्ति की झलक मात्र मिली थी उसका जीवन्त रूप द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में ही उभर उठा, रानी के द्वारा गन्ध-माल्य आदि से नन्दिनी का पूजन हुआ, बछड़े को दूध पिलाया गया और फिर यशस्वी शासक दिलीप उसे लेकर छाया की भाँति उसका अनुसरण करते हुए वन-वन विचरने लगे (२/१–१६)। सायंकाल का दृश्य भी ऐसा हृदयस्पर्शी था (१७–२१)। पर महाकवि ने अनुपात का पूरा-पूरा ध्यान रखा। इससे पूर्व ही कि शान्ति का यह लबालब भरा कटोरा छलकने न लगे वह एकदम अप्रत्याशित रूप में कौतूहल वा विस्मय को रंगमंच पर उतार लाया है। दिलीप की भाँति हमें भी नन्दिनी का आर्तस्वर एकदम विस्मित कर डालता है। फिर तो वहाँ जो अद्भुत नाटक हुआ वह स्वयं में एक सफल नाटक का विषय है (२/२७–६६)। यहाँ भी कवि ने अनुपात का पूरा ध्यान रखा है। हमारा कौतूहलाविष्ट मन अभी पूरी तरह उस भाव से मुक्त नहीं हो पाया था कि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कवि हमें भोग-विलास से रहित दाम्पत्य के उस गोपनीय एवं मधुर भाव में विभोर कर डालता है जिसका अन्त वात्सल्य के अनिर्वचनीय आनन्द में होता है (३/२५–२६)। वात्सल्य का मधुरभाव अभी मन से पूरी तरह उतर नहीं पाया था कि देवराज इन्द्र को चुनौती देने वाला रघु का अप्रतिमशौर्य दमक उठा। हम फिर चमत्कृत होकर देव-मानव के उत्साह भरे घात-प्रतिघात को देखने में लीन हो गये। तीसरे सर्ग की समाप्ति के साथ-साथ ही निर्वेद का भाव छा गया है। महाराज दिलीप अपने तेजस्वी पुत्र रघु को वंश का भार सौंपकर सपत्नीक तपोवन को प्रस्थान कर गये हैं (३/७०)।

चौथा सर्ग आया नहीं कि फिर नये सिरे से उत्साह का दौर प्रारम्भ हो गया। विजय का डंका बजा और आसेतु-हिमालय रघु की विजय-वैजयन्ती फहराती चली गयी। विजय का नशा अभी उतरा नहीं था कि कवि ने हमें एकदम एक नये भाव जगत् में ला खड़ा किया, त्याग और आतिथ्य के अद्भुत रूप से चमत्कृत कर डाला और सर्ग का अन्त करते-करते वह हमें प्रभात-वर्णन के माधुर्य का रसास्वादन कराकर फिर छठे में स्वयम्वर तथा सप्तम सर्ग में विवाह के कौतुक मण्डपों के दर्शन कराकर आनन्द-विभोर कर डालता है। पिछले दो सर्गों में प्रमुख रूप से उल्लास का ही बोलबाला रहा अतः अब कवि ने उसे नया मोड़ देना चाहा। इसके लिए पहले तो प्रवृत्ति और निवृत्ति-परक दो भावों को काव्य में उपस्थित करके पाठकों को आने वाले कारुण्य के लिए तैयार किया और फिर बड़े प्रभावशाली रूप में उसे काव्यक्षेत्र में उतार दिया। प्रणयी अज के साथ हमारा हृदय भी भावाभिभूत होकर गद्गद हो उठा तथा इस रोने-धोने के वातावरण से आगे बढ़ना कठिन प्रतीत होने लगा, पर कवि ने अगले सर्ग में बड़े कौशल से दशरथ का बहुमुखी कार्यकलाप हमारे सामने उपस्थित कर दिया। मन करुणा से निकलकर फिर एक बार कुतूहली बन गया।

वह चित्र भी गया तथा सामने आया राम का बहुमुखी चित्र। भाव पर भाव बदलते चले गये—एक, दो, तीन सर्गों तक। रुचि में कुछ शिथिलता आने लगी तो एकदम लाकर रख दी तेरहवें सर्ग की भावों-भरी पिटारी। एक के बाद एक देखते जाइए। सीता-परित्याग में फिर मन विषाद से भर गया जोकि पन्द्रहवें सर्ग में अद्भुत में जाकर समाप्त हुआ। कुश भी एक नया स्वप्न लेकर हमारे सामने उपस्थित हुआ। इसके बाद जो विशेष उल्लेखनीय भावतत्त्व हैं वह हैं अतिथि की राजनीतिक चालें तथा अग्निवर्ण की विलास-क्रीडा।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने आदि से अन्त तक भाव-प्रदर्शन का ऐसा सामञ्जस्य रखा है कि पाठक उन्हीं के वैचित्र्य में खोया रहता है और निरन्तर नवीनता का अनुभव करता जाता है। प्रत्येक दूसरे से प्रबल एवं नवीन रूप में उपस्थित होता गया है। न कहीं विरोध है और न असंगति ही। प्रत्येक प्रमुख पात्र का क्रियाकलाप एक नूतन भाव का प्रतीक है। दिलीप यदि हमें अपनी दयालुता एवं धार्मिकता के भाव से अभिभूत करता है तो रघु अपने शौर्य, दानशीलता एवं अतिथिसत्कार के भाव से। अज का प्रणयीत्व, दशरथ की ओजस्विता, और मृगया-विनोद, राम की कार्यनिष्ठा, कुश का दान व मनोरंजन, सुदर्शन की लघुता एवं गुरुता, अतिथि की नीति-निपुणता और अग्निवर्ण की विलासिता सभी किसी न किसी मूल भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर महाकवि ने इन सबकी योजना इस ढंग से की है कि ये चित्रपट की भाँति हमारे सम्मुख आ आकर हमारे हृदय को रसात्मक भाव-भूमि पर ले जाकर खड़ा कर डालते हैं। न किसी की पुनरावृत्ति है और न किसी का अपूर्ण वा अस्पष्ट चित्रण। सभी स्वच्छ, पूर्ण एवं सबल हैं।

**वातावरण की सृष्टि**

काव्य जगत् में किसी भाव की प्रतिष्ठा तभी सम्भव होती है जबकि उसे उचित अवसर पर उचित वातावरण के साथ उपस्थापित किया गया हो। कोई भाव स्वयं में कितना ही महनीय होने पर भी काव्यात्मक अनुभूति का विषय अथवा प्रभावक तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसे अनुकूल वातावरण न मिले। अतः कलाकुशल कवि को भावसृष्टि के साथ तदनुकूल वातावरण के सृजन के लिए भी सचेष्ट रहना पड़ता है, तभी कोई भाव हृदय पर स्थायी प्रभाव डाल सकता है। अतः उसे भिन्न-भिन्न भावों के प्रदर्शन के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के वातावरण की सृष्टि करनी होती है। 'रघुकार' को इस विषय मे भी पूर्ण सचेष्ट पाया गया है। उसने सम्पूर्ण काव्य को माघ, भारवि और श्रीहर्ष की भाँति एक सीमित वातावरण में ही बन्द नहीं रखा है। उसके भावों के साथ-साथ उसका वातावरण भी भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा भारतभूमि के प्रत्येक कोने में जा पहुँचता है।

रघुवंश में कालिदास ने यदि जीवन के सरल एवं मधुर भाव की व्यञ्जना करनी चाही तो हमें ले गये हैं नगरों के छल-कपट से भरे वातावरण से दूर ग्रामों एवं ग्रामीणों के बीच और जब शान्त भाव का अवसर आया तो वे हमें तपोवन के वातावरण में ले जाना भी नहीं भूले हैं। वे इस विषय में बड़े सतर्क

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



रहे हैं। नन्दिनी पर सिंह के आक्रमण को भयावह बनाने में हिमवान् की भयंकर कन्दराओं एवं सघन वनराजि का कितना योग है तथा इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उपस्थित राजाओं के चित्तों में चाञ्चल्य का भाव उभारने में स्वयंवर-मण्डप की साजसज्जा तथा दीपशिखा सी इन्दुमती का कितना योगदान हो सकता है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। रघुवंश की रघुदिग्विजय केवल कागजी लिखा-पढ़ी नहीं। अपने पाठक के सम्मुख किसी नरेश को उपस्थित करने से पूर्व कालिदास उसे उस वातावरण में लेजाकर खड़ा कर देता है, तब प्रत्यक्षवत् उसका चित्र उसके हृदय में उतार देता है। देश-देश की सैर किये बिना हमारे मन पर न रघु की दिग्विजय का चित्र उभर सकता है और न वन-वन भटके बिना दशरथ के आखेट का दृश्य। इसी प्रकार राजसी वैभव की अमिट छाप अतिथि के दरबार के पहुँचे बिना तथा राजसी विलास के दर्शन अग्निवर्ण के रंगमहलों, विलासभवनों एवं क्रीडा-काननों की छाया में पहुँचे बिना नहीं हो सकते।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के वातावरणों का सम्बन्ध एकाधिक नरेश के साथ रहा होगा। दिलीप–रघु–अज–दशरथ के राज में भी राजसी वातावरण का वह रूप रहा ही होगा जोकि अतिथि में पाया जाता है, ऐसे ही मधुर दाम्पत्य एवं विलास का सम्बन्ध भी अज तथा अग्निवर्ण के अतिरिक्त अन्य नरेशों से भी रहा ही होगा, किन्तु कवि विशेष वातावरण की योजना विशेष व्यक्ति के साथ विशेष स्थलों में ही करता है। व्यर्थ में उसकी अन्यत्र पुनरावृत्ति नहीं करता। जहाँ जिस पात्र के सहारे जिस विशेष भाव की उद्भावना की आवश्यकता होती है वहीं, केवल वहीं उसके अनुकूल वातावरण की सृष्टि करता है जिससे कि भाव विशेष के प्रभाव की गहनता बढ़ जाए और पाठक के हृदय पर उसकी अमिट छाप पड़ सके।

**व्यापार व्यवस्था**

'रघुवंश' जैसे राजवंश वर्णनमूलक महाकाव्य में बराबर काव्य-सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य को बनाए रखना कोई सरल कार्य नहीं था। कवि को एक ही राजवंश की अनेक पीढ़ियों के अनेक शासकों का इतिवृत्त प्रस्तुत करना था। उस राजवंश की अपनी कुछ विशेष खूबियाँ थीं। रघुवंश की भूमिका में ही कालिदास ने उनका परिगणन कर दिया था। उस वंश के प्रत्येक शासक में उनकी सत्ता थी, उन्हीं गुणों की नियत स्थिति ने ही तो कालिदास

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को उस वंश का गुणगान करने के लिए प्रेरित किया था।[1] इसके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था, धार्मिक कृत्य, गार्हस्थ्य, व्यक्तित्व, आहार-विहार भी तो सबका प्रायः समान ही रहा होगा। ऐसी स्थिति में यदि कवि उन सभी नरेशों की सभी वंशगत विशेषताओं एवं क्रियाकलापों का वर्णन करता जाता तो एक ऐतिहासिक लेखा-जोखा (Cronicle) बन जाता या एक काव्यात्मक कथासंग्रह।

पर, कालिदास ने विषय की इस कठिनाई को पहले ही समझ लिया था। अतः इस वंश के नरेशों की सामान्य विशेषताओं को भूमिका के रूप में पहले ही प्रस्तुत कर दिया (१/५-८)। और कुछ शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित रहा सहा रूप था उसे प्रस्तुत कर दिया इसके तुरन्त बाद ही दिलीप की राज्य-व्यवस्था एवं प्रजापालन के प्रसंग में (१/१२-३०)। इस वर्णन को पढ़ लेने बाद हमारे मानस पर समस्त 'रघुवंश' के शासकों का शासकीय रूप स्थायी तौर पर अंकित हो जाता है। बिना कहे ही हम प्रत्येक शासक के विषय में उन सभी की सत्ता मान लेते हैं। कवि ने काव्य के प्रारम्भ में ही इनकी परिगणना करके इनकी पुनरावृत्ति की समस्या को बड़े सुन्दर एवं प्रभावकारी ढंग से यहीं सुलझा लिया है। पाठक के मन पर 'रघुवंश' की गौरव गरिमा की धाक ऐसी बैठ जाती है कि वह अन्त तक भी कम नहीं होने पाती। इसी का प्रभाव कहिए कि अग्निवर्ण जैसा विलासी और निकम्मा शासक भी निर्विघ्न राजसत्ता का भोग करता है और उसके बाद उसकी गर्भवती रानी भी इतने बड़े साम्राज्य की बागडोर सँभाल सकती है।

पर इतने से ही समस्या का समाधान नहीं हो सकता था। एक समस्या का समाधान हुआ तो दूसरी सामने खड़ी हो गयी। इस भूमिका से पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं रही। ठीक है, पर इससे महाकाव्य का निबन्धन कैसे होगा? जब सभी एक जैसे हैं, सभी में एक ही प्रकार की विशेषताएँ है तो फिर कथावस्तु आगे कैसे बढ़ेगी? कालिदास ने भी इस कठिनाई को समझा कि न तो उन्हीं गुणों का बार-बार बखान करने से महाकाव्य की रचना होगी और न उनका एकत्र बखान कर देने से। अतः उसने बड़े कौशल के साथ इस प्रकार कार्य का विभाजन किया कि न तो भारतीय आदर्श जीवन का कोई अंश छूटने पाए और न किसी की अनावश्यक पुनरावृत्ति ही हो। प्रत्येक नरेश के जीवन एवं क्रियाकलाप को किसी विशेष आदर्श रूप के साथ सम्बद्ध कर

१ तद्गुणैः कर्णमागत्य वापलाय प्रनोदितः॥ रघु०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दिया। सामान्यतया उसमें जीवन के सभी सामान्य रूपों के रहते हुए भी उसमें एक दो ऐसे रूपों का निबन्धन कर दिया जोकि उसमें अपेक्षाकृत अधिक प्रमुख रूप में प्रकट होते हैं। अतः 'रघुवंश' का प्रत्येक पात्र जीवन और आदर्श के किसी न किसी रूप का प्रतिनिधित्व करता है। और कुशल कलाकार ने व्यापारविभाजन का कार्य इस तरतीब से किया है कि एक के बाद दूसरा एक स्वाभाविक विकासक्रम सा दीखने लगता है। प्रत्येक नया आने वाला व्यापार इतने सशक्त एवं बिम्बग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उतनी देर के लिए पाठक के लिए पिछले कथानक पर पर्दा सा पड़ जाता है और वह आत्मविस्मृत सा होकर उसी में रम जाता है। इस प्रकार व्यापारवैचित्र्य की योजना करके महाकवि ने सम्पूर्ण महाकाव्य को इतना सुसम्बद्ध एवं सरस बना दिया है कि यह सब कुछ एक कथानायक की जीवनी सा लगने लगता है; वस्तुतः है भी ऐसी ही बात। कवि ने जान-बूझकर ऐसा किया है जिससे कि 'रघुवंश' का कथानायकत्व भली-भाँति स्पष्ट हो जाये और ये विभिन्न क्रिया-व्यापार उस नायक के दीर्घ जीवन के क्रिया-व्यापारों का तथा जीवन के उतार-चढ़ाव एवं आदर्शों का भली-भाँति निरूपण कर सकें।

'रघुवंश' के व्यापार-विभाजन की कुछ झाँकी तो देखिए—महाप्रतापी दिलीप सन्तान की चिन्ता एवं गोभक्ति से प्रेरित होकर नन्दिनी के पीछे वन-वन फिरता है तो उसका बेटा रघु शौर्य का प्रतीक बनकर कभी संग्राम के लिए देवेन्द्र को ललकारता है तो कभी देश-देश में अपनी विजय-दुन्दुभी बजाता फिरता है और कभी सम्पत्ति और संसार से निःस्पृह होकर अलौकिक दान और वैराग्य का परिचय देता है। उसका बेटा अज यदि अपने अलौकिक सौन्दर्य से रूपसी इन्दुमती को मोहित कर बड़े-बड़े नरेशों का मानमर्दन करता है और अपनी प्रेमिका के लिए प्राण देकर विश्व के लिए प्रणय का अमर संदेश देता है तो उसका बेटा दशरथ अहेरी बनकर अपने धनुष की टंकार से केहरियों के कानों के पर्दों को फाड़ता हुआ जंगल आखेट करता फिरता है।

राम की पीढ़ी में आकर कवि को फिर इस समस्या को सुलझाना पड़ा। एक ओर इस आदर्श पुरुष में भारतीय जीवन की पूर्णता दिखानी थी और दूसरी ओर जो कुछ पीछे कहा जा चुका है उसकी पुनरावृत्ति को बचाना था। महाकवि ने बड़े कौशल से राम के जीवन की अनेक विशिष्ट घटनाओं की ओर संकेत करके उनके शौर्य, सौन्दर्य, शक्ति, साहस, श्रद्धा, भक्ति, त्याग,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अनुराग आदि सभी क्रिया-व्यापारोंको दिखा भी दिया है और साथ ही क्रिया-व्यापारों की पुनरावृत्ति का आभास भी नहीं होने दिया है। साथ ही विश्व-वन्दनीय श्रीराम के चरित्र में काँट-छाँट करने अथवा उसमें परिवर्तन करने के लिए कवि को विशेष अवसर भी नहीं था। काव्य की सुसम्बद्धता बनाए रखने के लिए जो कुछ अत्यन्त आवश्यक था उसे करने में वह चूका भी नहीं है। रघुवंश का तेरहवां सर्ग इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

राम के बाद कवि के सामने फिर व्यापार के चुनाव की पूरी छूट थी अतः उसने इससे लाभ उठाया। कुश के जीवन में प्रमुख रूप से जल-विहार की रंगरेलियाँ छायी हुई हैं तो अतिथि राजनीति की जटिल पहेलियों को सुलझाने में व्यस्त दिखाई देता है। इसके बाद हम देखते हैं कि महाकाव्य का कलेवर बढ़ता जा रहा है। कवि जो कुछ कहना चाहता था प्रायः कह चुका है। अब तो एक अन्तिम सन्देश देना ही बाकी है अतः जीवन की छुट-पुट १९ झाकियाँ दिखाता हुआ कवि हमें सुदर्शन पर ले जाता है। यहाँ आकर रघुवंश के प्रताप एवं भारतीय राजभक्ति का अद्भुत रूप दिखाई देता है। बालक सुदर्शन विशाल साम्राज्य का अधिनायक बनता है और सूर्यवंश के प्रताप एवं परम्पराओं को यथावत् आगे बढ़ाता है। इस प्रसंग में कार्य व्यापार का मुख्य केन्द्र सुदर्शन का प्रताप वा राज्य व्यवस्था न होकर उसके राज्याभिषेक का वैभवपूर्ण चित्रण है। राजदरबार का सौन्दर्य ही मन पर चकाचौंध पैदा कर डालता है। और अन्त में आता है उसका परम विलासी पुत्र अग्निवर्ण। यहाँ के कार्य-व्यापार का मुख्य केन्द्र है—संगीत, नृत्य, पानभूमि, क्रीडा-सरोवर, और प्रमदवन। विलास और रंगरेलियों का ऐसा व्यापार इससे पूर्व कहीं देखने को नहीं मिला। इसमें भी तेज और शौर्य था, उसकी भी राज्य-व्यवस्था मनुप्रणीत मार्ग से ही होती होगी, पर कवि ने उसके इसी विनाशक कार्य-व्यापार को अपने काव्य का प्रमुख विषय बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कालिदास ने ऐसा व्यवस्थित कार्य-विभाजन किया कि सम्पूर्ण महाकाव्य में न कहीं रुचि का व्याघात होता है और न ही पिष्टपेषण ही। कार्य-व्यापार की भागीरथी विभिन्न तीर्थस्थलों में होकर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। प्रत्येक स्थान का अपना सौन्दर्य है और अपना महत्त्व है। कवि तपोवन से प्रारम्भ करके प्रमदवन में ले जाकर उसकी पूर्णाहुति कर डालता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**रस निरूपण**

रस ही काव्य की आत्मा है इस पर लगभग उत्तरवर्ती युग के सभी भारतीय आचार्य एकमत हैं। उसकी परिभाषा चाहे उन्होंने जिन शब्दों में भी की हो, कालिदास का तो पुण्यस्मरण रससिद्ध कवीश्वर के ही रूप में किया जाता है। वस्तुतः काव्य में भाव, वातावरण, रूप आदि का निरूपण भी रस को ही दृष्टि में रखकर किया जाता है। और उनका महत्त्व भी रसपरक होने में ही होता है। रस से हीन काव्य की स्थिति आत्मा वा प्राणों से हीन शरीर की सी होती है। अतः काव्य-शास्त्र की दृष्टि में काव्य का मूल्यांकन प्रमुखतया रस को ही दृष्टि में रखकर किया जाता है। किन्तु किसी महाकाव्य में रस-व्यवस्था को सम्यक् रूप से निभा लेना सरल नहीं, अर्थात् इसमें कवि को न केवल रस-सिद्धि का ध्यान रखना होता है अपितु उनकी व्यवस्था में उनके पारस्परिक आनुकूल्य एवं विरोध का भी ध्यान रखना पड़ता है। यह एक ऐसा कार्य है जिसके लिए कवि को कार्य-व्यापार पर भी ध्यान रखना पड़ता है।

अन्य भारतीय महाकवियों के समान ही रघुवंश की गाथा के साथ-साथ कालिदास का भी मुख्य उद्देश्य रस-निरूपण ही हो सकता है। इसके विना तो यह सब कुछ ऐतिहासिक लेखा-जोखा मात्र रह जाता। इस रस की सम्यक् सिद्धि के लिए पहले कवि को कथावस्तु में भाव, व्यापार आदि का एक योजना के अनुसार विभाजन करना पड़ा, फिर उसके लिए उचित वातावरण एवं रूप-सज्जा की योजना करनी पड़ी तब कहीं रस की सिद्धि तथा उसका व्यवस्थित रूप बन सका।

इस योजना में कालिदास ने कितनी सूझ-बूझ तथा कितनी कला-कुशलता का परिचय दिया है यह तो कोई साहित्य-मर्मज्ञ ही बता सकता है। मोटे तौर पर यही समझ लीजिए कि उसने इस महाकाव्य में सभी रसों के लिए अवकाश रखते हुए भी उनके अनुपात का बराबर ध्यान रखा है। कालिदास को आम धारणा के अनुसार शृङ्गार का कवि समझा जाता है और शायद वह है भी कविता-कामिनी का विलास, किन्तु रघुवंश में उसने इसे भी इतना संयत एवं सीमित रखा है कि न कहीं इसकी अतिशयता है और न कहीं अमर्यादित रूप ही। काव्य के अन्त में जो इसकी अतिशयता पायी भी जाती है वह शृङ्गार-निरूपण के उद्देश्य से नहीं, किसी और ही उद्देश्य से की गयी प्रतीत होती है।

अस्तु; कहने का अभिप्राय यह है कि रघुवंश में कवि ने शृङ्गार, करुण,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत आदि की योजना की है किन्तु इनमें से किसी के भी वातावरण में वह अपने पाठक को इतनी देर तक नहीं रहने देता कि वह उस आस्वाद से उकताने लगे अथवा उससे उसके मन में कोई वितृष्णा उत्पन्न होने लगे। और न ऐसा ही करता है कि एक विशेष रस के वातावरण में डूबे हुए पाठक को तुरन्त ही उससे एकदम विरोधी वातावरण में लाकर खड़ा कर दे और इस प्रकार उसके सारे स्वाद को बेस्वादा कर दे। यदि कहीं ऐसी स्थिति आती भी हो तो कवि बड़े कौशल से उन दो विरोधी रसों के बीच एक ऐसे रस की योजना कर डालता है जिससे कि दोनों के आस्वादन में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

कालिदास के प्रमुख रस शृङ्गार और करुण के विषय में हमने पृथक् रूप से विस्तार के साथ विवेचन किया है, जिज्ञासु पाठक वहीं उनके विविध रूपों को देख सकते हैं। यहाँ तो हम केवल उनके रस-विभाजन की वैज्ञानिकता का संकेत भर करेंगे। कवि ने दिलीप के जीवन में करुण—शृङ्गार एवं शान्त की त्रिवेणी दिखाई है पर साथ ही बीच-बीच में अद्भुत एवं वीर को लाकर इनमें मनोरम संतुलन ला दिया है। तपोवन के शान्त वातावरण के बीच सन्तान की चिन्ता से चिन्तित नृप-दम्पती का रूप हम प्रथम सर्ग तथा द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में देख ही चुके थे।[1] अब इसे अधिक लम्बा करने में रुचि-व्याघात एवं रसभंग का भय था। अतः कवि ने तृतीय सर्ग के मधुर शृङ्गार एवं उसके सहयोगी वात्सल्य को लाने से पूर्व उनका सामञ्जस्य बनाए रखने के लिए द्वितीय सर्ग के मध्य में ही एकदम अद्भुत की योजना कर दी। अचानक सिंह का प्रादुर्भाव, दिलीप की गतिहीनता, सिंह की मानुषीवाक् और फिर एकदम ही उसका तिरोधान यह सब कुछ हमें थोड़ी देर के लिए विस्मय में डाल देता है। हमारे सामने से शान्त और करुणा का वातावरण हट जाता है। सिंह–दिलीप-संवाद में दिलीप का एक नया ही रूप हमारे मानस पर उभर आता है जोकि उसके उस रूप से सर्वथा भिन्न है जोकि 'पिण्डविच्छेद की क्रिया' की चिन्ता से सूखा एवं मुरझाया हुआ था। नन्दिनी की प्रसन्नता के बाद तो हम पहले से ही तृतीय अंक के निगूढ

---

१ किन्तु वध्वां तवैतस्यांमदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥

× × ×

तयाहीनं विधातर्मा कर्थं पश्यन्न दूयसे। सिक्तं त्वमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम्॥

(रघु० १/६६—७०॥)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



शृङ्गार एवं ललित-वात्सल्य के लिए तैयार रहते हैं। इसके बाद कवि को दिलीप के जीवन में पुनः शान्त का निरूपण करना था, अतः कवि ने बीच में ही रघु–इन्द्र के युद्ध की योजना करके इस विरोध का परिहार कर दिया। अब देखिए, यदि कालिदास एक-एक नरेश के जीवन को सम्पूर्ण रूप से अलग-अलग लेता और वस्तु-विन्यास में आगे-पीछे का कार्य-विभाजन तथा क्रम-विन्यास की व्यवस्था अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर न करता तो क्या कथानक इस परस्पर संश्लिष्ट किन्तु रसानुकूल रूप में स्थिर रह पाता ?

चूंकि रघु को कवि ने शौर्य के प्रतीक के रूप में उपस्थित करना चाहा है, जैसे दिलीप साक्षात् क्षात्रधर्म का अवतार है वैसे ही रघु भी साक्षात् वीर-धर्म का अवतार है, अतः उसके प्रथम शौर्य एवं द्वितीय शौर्य के चमत्कार के बीच कवि ने थोड़ा सा समय विश्राम एवं परिवर्तन के लिए निकाल लिया है। दो सर्गों तक लगातार वीररस का आस्वादन कठिन हो जाता तथा उन दो घटनाओं में रघु के शौर्य का जो उभयविध रूप उभरा है वह भी स्पष्टतया व्यक्त न हो पाता, एक दूसरे में घुल-मिल सा जाता। अतः यह रसान्तर सामने आया है। और इस युद्ध वीर के शान्त होने के बाद ही उसकी दान-वीरता का दूसरा रूप हमारे सम्मुख आता है। कोई विरोध नहीं, असामञ्जस्य नहीं। हम उसकी युद्धवीरता को देखकर जितने चमत्कृत हुए थे उससे अधिक चकित हो जाते हैं उनके सर्वस्वदक्षिणयाग एवं कौत्स की दक्षिणा के रूप को देखकर। यहाँ भी कवि ने बीच में ही उसकी विजययात्रा की तैयारी के साथ ही उसके कोष में सुवर्णमुद्राओं की वर्षा करवाकर इसके बीचमें अद्भुत का रसा-स्वादन कराने का यत्न किया है।

इसके बाद आता है 'रघुवंश' की कथा के एक अन्य प्रमुख पात्र अज का स्थान। इसके जीवन का एक छोर शृङ्गार है तो दूसरा छोर करुण। किन्तु इन दोनों का एक साथ चित्रण रसास्वाद की दृष्टि से अनुकूल नहीं; अतः कवि ने इन दोनों के बीच, अज तथा अन्य राजाओं के बीच होने वाले युद्ध की योजना करके वीर का निरूपण कर डाला और फिर आगे आने वाले करुण के तीव्र आघात को सहने के लिए ही मानो इससे ठीक पूर्व निर्वेद अथवा शान्त की योजना कर डाली (८/१४–२९) और फिर इसके पुत्र दशरथ को रंगमंच पर लाने से पूर्व वसिष्ठ के सन्देश के रूप में उसी निर्वेद की छाया में पाठक को लाकर रख दिया। ऐसा लगता है कि प्रेमी अज की वियोग-व्यथा अथवा करुणाक्रन्दन से कवि भी द्रवित हो उठा है। अज जैसे धीर-वीर

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



व्यक्ति को भी विचलित कर देने वाली करुणा वास्तव में करुणा है। कवि स्वयं मानता है कि इस तपन में लोहा भी पिघल उठा है।[1] वह इसकी तीव्रता को भली-भाँति महसूस कर रहा है और जानता है कि करुणा के इस भयंकर प्रहार की तीव्रता को कुछ कम कर सकने की शक्ति यदि किसी में है तो वह केवल शान्त में है। इसीलिए वह इस आघात को सह्य बनाने की दृष्टि से विशेष रूप से इससे पूर्व तथा पश्चात् इस निर्वेद की सृष्टि करता है। अन्यथा क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के समान आनन्द में लीन इस अनन्य प्रेमी-युग्म में से सहसा एक का ऐसा अप्रत्याशित विनाश देखकर अवश्य ही किसी वाल्मीकि का हृदय विधाता को ही श्राप देने के लिए उमड़ पड़ता। शायद स्वयं कालिदास भी इस भाव को नहीं दबा पाये हैं और उसे प्रकारान्तर से अज-विलाप में व्यक्त भी कर दिया है।[2] पर उसके प्रभाव को इस दोनों ओर के निर्वेद ने कम कर दिया है। ठीक ही हुआ आगे दशरथ के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। महाकवि को दशरथ के वीर-भाव को सामने लाने तथा इसके द्वारा काफी देर से करुणा और निर्वेद में डूबे हुए पाठक को फिर से जीवन के प्रति अनुरागी बनाने में योग मिल गया।

राम क्योंकि इस मुक्तामाल के मध्य मणि है अतः उनमें शृङ्गार, वीर और करुण का विभिन्न रूपों में चित्रण हुआ है। किन्तु उनकी व्यवस्था में कवि ने यहाँ भी शास्त्रीय वा वैज्ञानिक विधान ही अपनाया है। प्रारम्भ में ताड़कादि-वध एवं धनुर्भङ्ग में जिस शौर्य का प्रदर्शन हुआ था, उसे परशुराम के भयानक से अन्तर्हित कर दिया। पुनः न घर में और न वन में ही राम को शृङ्गार का कोई अवसर दिया। कवि उनके युद्धवीर के रूप को विकसित करने में लग जाता है और लंकायुद्ध में उसे पूर्णता को प्राप्त करा देता है। किन्तु शृङ्गार के बिना राम की पूर्णता कैसी ? अतः उसकी योजना होती है लंका से लौटते समय विमान-यात्रा के प्रसंग में। कितना कौशल दिखलाया है यहाँ इस महान् कलाकार ने ? किस नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है विगत जीवन की घटनाओं को उत्तरकाल में ? इसका दिखाना आवश्यक था। इसके बिना जीवन की पूर्णता न हो पाती; किन्तु इसे बीच में दिखाने का अभिप्राय होता रस का व्याघात। राम के प्रति वीरता के भाव की स्थापना उनकी

---

१. विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहायधीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥ (रघु० ८/४३),

२. रघु० ८/४४—४७.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कौमारावस्था से ही की जा चुकी है; अब उसे निरन्तर आगे बढ़ाकर रस की पूर्णता को ले जाना था। बीच में शृङ्गार के आ जाने से रस का व्याघात हो जाता। पर वाह रे कुशल कलाकार! तूने दोनों रसों का चित्रण भी कर दिया और रस का व्याघात भी नहीं होने दिया। इसके आगे तो सीता वनवास के साथ फिर करुणा आ ही जानी थी अतः वीर और करुणा के बीच में शृङ्गार को रख देने से रस-विरोध भी टल गया। एक साथ ही तीन लक्ष्यों की सिद्धि हुई।

सीता की करुणगाथा के बाद फिर कुश की जलक्रीडा का प्रसंग आना था अतः कवि ने अपने पाठकों को इस जल-विहार का पूरा आनन्द देने के लिए इस बीच में सीता के पाताल प्रवेश, तथा कुश के स्वप्न के द्वारा अद्भुत की तीव्र झलक दिखाकर करुणा की काली छाया को इस कौंध से दूर करने का सफल प्रयास किया है। सीता को असहाय एवं दीनदशा में छोड़कर हम भावनात्मक दृष्टि से उसके पुत्र कुश के विनोद में सम्मिलित नहीं हो सकते थे। यदि कोई कवि ऐसा करता तो वह अपने पाठक की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करता। पर मानव-हृदय के पारखी कवि से ऐसी आशा कैसे की जा सकती थी। अतः कुश की शृङ्गार-सरसी में गोते लगवाने से पूर्व उसने अपने पाठक को पहले ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तैयार कर लिया।

इसके आगे की कहानी में राजनीति एवं शासन-व्यवस्था की बातों एवं युद्ध आदि का ही अधिक वर्णन है। साथ ही अनेक नरेशों के चरित्र पर भी न्यूनाधिक प्रकाश डालने का कार्य हुआ है जिससे कि किसी विशेष रस का न विकास होने पाया है और न पुष्टि ही। 'रघुवंश' के पिछले सोलह सर्गों में विविध रसों का आस्वाद लेने वाला रसिक पाठक अब इन राजनीतिक दाँव-पेचों तथा राजकीय जुलूसों में रस नहीं ले पा रहा है। वह इन दो सर्गों में ही ऊबने लगता है। जरा सोचिए, कि जब पाठक को विशिष्ट रसहीन दो सर्ग ही (यद्यपि इनमें भी काव्य-सौष्ठव की कमी नहीं) भारी पड़ने लगे तो क्या वह केवल वंशावलियों एवं तथ्यों पर आधारित इतने बड़े महाकाव्य को पढ़ पाता? यह तो कालिदास का रस-विधान कौशल ही है कि पाठक इतने बड़े महाकाव्य को बार-बार पढ़कर भी कभी अघाता नहीं, नित नवीन आनन्द की ही अनुभूति करता है।

अस्तु, इन दो सर्गों से उकताए हुए पाठकों को फिर से तरोताजा करने के लिए कालिदास उन्हें फिर अग्निवर्ण की रसीली महफिलों में ले जाता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उसे शृङ्गार का खुला रूप दिखाया है ताकि उसे फिर आगे कुछ भी देखने की लालसा न रह जाये। साथ ही यह भी बता देना चाहता है कि यह शृङ्गार नहीं विनाश का द्वार है। अधकचरे लोग जिसे शृङ्गार कहकर अपने पाठकों की भावनाओं से खिलवाड़ करके उन्हें विनाशमार्ग की अनुगामिनी बना देते हैं, उन्हें सचेत करने के लिए ही मानों कवि ने इतने नग्न रूप में यहाँ शृङ्गार का चित्रण किया है और साथ ही दिखा दिया है उसका अत्यन्त कारुणिक अन्त भी। शृङ्गार की भी एक सीमा है मर्यादा है, उसके अन्तर्गत ही वह मानव और समाज के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। अन्यथा वह स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और अपने आश्रय का भी नाश कर डालेगा। शृङ्गार दिलीप में भी था, अज में भी, दशरथ में भी, राम में भी और कुश में भी। पर वह सीमित और मर्यादित था, कवि ने उसका वर्णन भी उसी रूप में किया। अतः वह सदा ही देश, जाति और वंश का कल्याण करने वाला सिद्ध हुआ। यह है संक्षेप में कालिदास का रस-निरूपण का सिद्धान्त व स्वरूप। वह रससिद्ध कवीश्वर है अतः जहाँ जिस रस को उपस्थित करता है वहाँ उसका सम्यक् परिपाक भी कर डालता है।

**रूप-योजना अथवा छन्द-विधान**

'रघुवंश' की रूप योजना के विषय में हम यहाँ पर मुख्यतया कालिदास के छन्दो-विधान पर ही प्रकाश डालेंगे। छन्द भारतीय काव्य-रचना का एक बहुत प्राचीन अङ्ग है। उसका हमारे मनोभावों के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परिष्कृत काव्य-जगत् में ही नहीं, परिष्कृत सभ्यता और संस्कृति से दूर रहने वाली वन्य जातियों में भी इसकी सत्ता पाई जाती है। उनके गीतों की लय भी भावानुसारी होती है। जिस प्रकार रस—भाव आदि की व्यञ्जना में विभिन्न प्रकार के वर्णों का स्थान है वैसे ही काव्यात्मभूत रस की व्यञ्जना में भिन्न-भिन्न छन्दों का स्थान होता है। वस्तुतः संगीत का भावव्यञ्जना में बहुत बड़ा योग होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रणेताओं ने विभिन्न प्रकार के रसों की सिद्धि के लिए जैसे विशेष प्रकार की शब्दयोजना का विधान किया है वैसे ही भिन्न-भिन्न रसों की सफल अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार के छन्दों की योजना का भी विधान किया है। यह विधान केवल शास्त्रीय नहीं वरन सामान्य अनुभव पर आधारित है। विशेष विशेष मनोवेगों के योग में हमारी मनःस्थिति में विशेष प्रकार का अन्तर आ जाता है। जब हम उसे व्यक्त करना चाहते हैं तो उसका रूप हमारी वाणी पर भी उतर आता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वह कभी रुक-रुक कर निकली है तो कभी तरल प्रवाह के साथ। कभी मन्द-मन्द गति होती है तो कभी उछलती-कूदती सी। उसके द्वारा ही हमारे मन के हर्ष, विषाद, शान्ति, उद्वेग आदि का पता चल जाता है। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुवृत्ततिलक' मे लिखा —

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥

अर्थात् कवि को चाहिए कि वर्ण्य विषय तथा रस के अनुरूप ही छन्दों की योजना करे। क्षेमेन्द्र ने अपने इसी ग्रन्थ में इस विधान का विस्तार के साथ निरूपण किया है। उस सबको यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। बस यही समझ लीजिए कि जैसे महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करते समय 'रघुवंश' आचार्यों के लिए आदर्श रूप रहा होगा वैसे ही छन्दोयोजना के विषय में भी लगता है कि कालिदास क्षेमेन्द्र के सम्मुख अवश्य ही रहा होगा।

क्षेमेन्द्र ने महाकाव्य में समुचित छन्दोयोजना को मणिकाञ्चन-संयोग कह कर निर्देशित किया है। वह कहता है:

सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थाननिवेशिनाम्।
रत्नानामपि वृत्तानां भवत्वभ्यधिकारुचिः॥

भारतीय काव्यशास्त्र में दोषों के अन्तर्गत 'हृतवृत्तत्व' नाम काव्यदोष का परिगणन किया गया है। इसकी व्याख्या में बताया गया है कि यह दोष वहाँ हो जाता है जहाँ कि कवि रस के स्वभाव के प्रतिकूल छन्द की योजना करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ कवि की सफलता का मूल्यांकन उसके द्वारा की गयी वस्तु-विभाजन के अन्य अङ्गों पर निर्भर होता है वहाँ वह उसके छन्द-विधान पर भी निर्भर होता है।

दूसरी बात यह है कि महाकाव्य का आकार इतना विस्तृत होता है कि उसमें आद्योपान्त एक ही छन्द की योजना सम्भव भी नहीं हो सकती। उसके अन्तर्गत विभिन्न भावों की स्थिति के अतिरिक्त यह भी तो सम्भव नहीं कि हम अधिक देर तक एक ही प्रकार की संगीत-माधुरी का आस्वादन कर सकें। थोड़ी देर के बाद हमारा मन उसकी एकरसता से उकता जाता है और हमारे कान उससे भिन्न स्वरविन्यास को सुनने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। मानव स्वभाव जो ऐसा ठहरा। पर महाकाव्य के विधान में केवल रुचिपरिवर्तन के लिए ऐसा नहीं किया जा सकता। वहाँ उसके अपने नियम होते हैं और अपना विधान होता है। तदनुरूप ही उसके बाह्य-रूप में भी परिवर्तन हुआ करता

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



है। यदि काव्य के किसी स्थल पर एक के बाद एक नये-नये भाव की योजना होती हो तो सफल कवि की छन्दोयोजना भी तदनुरूप ही बदलती जायेगी। कालिदास ने स्वयं ऐसा किया है।[1] किसी काव्यशास्त्र को दृष्टि में न रखकर केवल भावात्मक दृष्टि से किया गया कालिदास का छन्दोविधान अनायास ही उत्तरवर्ती आचार्यों के लिए अनेक रूपों में आदर्श बन गया है। मेघदूत में उनके मन्दाक्रान्ता छन्द की अद्भुत प्रभावकारिता को देखकर ही शायद क्षेमेन्द्र को भी कहना पड़ा –

"प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते"

'रघुवंश' में कुल मिलाकर २० छन्दों का प्रयोग किया गया है, पर रस-भाव के अनुसार उनकी ऐसी व्यवस्थित योजना की गयी है कि उस कलाकार की कलाकारिता को देखकर चमत्कृत रह जाना पड़ता है। सर्ग के अन्त में तो प्रायः शास्त्रीय विधान के अनुसार छन्द बदलता ही है[1] किन्तु कवि ने कथा-वस्तु के अन्य अङ्गों—रस, भाव, व्यापार आदि के विभाजन के समान ही छन्दों का भी एक योजनाबद्ध रूप में विभाजन किया है। आदि से अन्त तक कहीं भी लगातार दो सर्गों में एक छन्द का प्रयोग नहीं किया गया है। प्रथम सर्ग में यदि अनुष्टुप् है तो द्वितीय में उपजाति, तृतीय में वंशस्थ और पुनः चतुर्थ में अनुष्टुप्। कालिदास ने किसी इतिवृत्त को संक्षिप्तरूप से आगे बढ़ाने के लिए अनुष्टुप् का सहारा लिया है यथा १,४,१०,१२,१५ एवं १७ सर्गों में। पर इस सारिणी को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने किस प्रकार बीच-बीच में दूसरे छन्दों की योजना करके विशेष सगीतहीन अनुष्टुप् की दीर्घकालीन एकरूपता को दूर किया है। १० और १२ के बीच में रथोद्धता, १२ और १५ के बीच में उपजाति, १५ और १७ के बीच में फिर उपजाति की योजना के द्वारा बड़ी ही सरलता से कालिदास ने काव्य के रूप विभाजन की समस्या को सुलझाया है। इसमें यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कवि अपने पाठक को अधिक देर तक भाव-जगत् से दूर नहीं रहने देना चाहता है। थोड़ी देर कथानक को संक्षेप में कहकर फिर विशेष वर्णन की भावभूमि में लाकर

---

१. द्रष्टव्य–रघु० सर्ग ९ में ६४ से ७६ तक १३ पद्यों में ९ विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है।

१. द्रष्टव्य–प्रथम सर्ग अनुष्टुप् में है पर उसका अन्त प्रहर्षिणी में, द्वितीय उपजाति में पर उसका अन्त मालिनी में, तृतीय वंशस्थ में पर उसका अन्त हरिणी में, चतुर्थ अनुष्टुप् में पर उसका अन्त प्रहर्षिणी में। ऐसे ही अन्यत्र भी है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



फिर संगीत के हिलोरे देने लगता है। दसवें सर्ग में रामायण की बहुत सी कथा अनुष्टुप् में कहकर ग्यारहवें में रथोद्धता की उछलती-कूदती चाल फिर सामने आ जाती है। यहाँ विश्वामित्र के साथ वन में जाते हुए राम-लक्ष्मण की चपल गति मानों रथोद्धता से ही व्यक्त हो जाती है। १२ वें सर्ग में फिर सारी रामायण समाप्त कर डाली तो तेरहवें सर्ग में फिर इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा की सम्मिलित मादकता मानों राम-सीता की विमानयात्रा की मनोरम भावाभिव्यक्तियों से ही झलक रही है।

छन्दोयोजना जहाँ पाठक को किसी रस वा भाव विशेष में निमग्न कराने में सहायक होती हैं वहीं उसको किसी भाव की सरसी से निकालकर अन्य भाव-जगत् में ले जाने में भी सहायता करती है। कालिदास ने छन्दोयोजना के इस रूप का भी पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उसने रघुवंश के आठवें सर्ग का निबन्धन करुण के लिए परम उपयुक्त वैतालीय वा वियोगिनी छन्द में किया है। इस सर्ग में पाठक करुणा के भार से इतना शिथिल हो जाता है कि उसके आगे कदम बढ़ाने के विषय में भी सन्देह होने लगता है। पर मानव-हृदय का अद्भुत पारखी कुशल कलाकार कालिदास इस बात को स्वयं भी देख रहा था। अतः अज के प्राणान्त के साथ ही उसने विषाद की विलम्बित गति को त्याग-कर तुरन्त ही द्रुतविलम्बित का पल्ला पकड़ लिया। और 'यमवता-मयतां च धुरि स्थितः' की यमक-योजना की झंकार के साथ ही पाठक का हृदय भी उछलता कूदता वासन्त-विहार और मृगया-विनोद की गोद में जा पहुँचा। सारा मातमी वातावरण देखते-देखते दूर हो गया। वसन्त की मादकता व चित्त की चंचलता का आभास छन्दोयोजना से ही होने लगा।

कालिदास ने किस विषय, भाव या रस की अभिव्यक्ति के लिए किस छन्द का प्रयोग विशेष रूप से किया है इसका विवरण एक विद्वान ने इस प्रकार दिया है —

१— **उपजाति**— वंश वर्णन, तपस्या तथा नायक-नायिका-सौन्दर्य वर्णन में।
२— **अनुष्टुप्**— लम्बी कथा को संक्षिप्त करने एवं उपदेश देने में।
३— **वंशस्थ**— वीरता के प्रकरण युद्ध या युद्ध की तैयारी में।
४— **वैतालीय**— करुण रस की अभिव्यक्ति में।
५— **द्रुतविलम्बित**— सुख एवं समृद्धि के निदर्शन में।
६— **रथोद्धता**— रति-दुष्कर्म-पश्चात्तापादि जनित खेद में—कामक्रीड़ा आखेट आदि में।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



७– **मन्दाक्रान्ता**– प्रवास, विपत्ति तथा वर्षावर्णन में।

८– **मालिनी**– सफलता के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में।

९– **प्रहर्षिणी**– हर्ष के साथ पूर्ण होने वाले सर्ग के अन्त में। मध्य में– दुःखधारा में हर्ष तथा हर्षधारा में हर्षातिरेक की अभिव्यक्ति के लिए।

१०– **हरिणी**– नायक के अभ्युत्थान तथा सौभाग्यवर्णन में।

११– **वसन्ततिलका**– कार्य की सफलता, ऋतुवर्णन में ऋतुओं की सफलता पर। इसी प्रकार सफलता के लिए प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, निराशा के साथ निवृत्ति में तोटक, कृतकृत्यता में शालिनी, क्रीडा में रथोद्धता, वीरता आदि के प्रदर्शन में शार्दूल-विक्रीडित आदि।"[1]

**गुण-रीति विधान**

काव्य के कलापक्ष की दृष्टि से जिन अन्य तत्त्वों पर यहाँ विचार किया जा सकता है वे हैं भाषा, शैली, गुण और अलंकार। कालिदास अपनी वैदर्भी रीति और उपमा अलंकार के लिए प्रसिद्ध हैं ही।[2] इन पर हमने अन्यत्र विस्तार के साथ विचार किया ही है। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं। रघुवंश में इन दोनों का ही उदात्त रूप देखने को मिलता है। कालिदास की कुल उपमाओं में से आधी 'रघुवंश' में आई हैं। गुण का समावेश तो रीति में ही हो जाता है। वैदर्भ मार्ग के पक्षपाती होने के कारण उनके काव्यों में स्वभावतः प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है। रघुवंश में तो यह विशेष रूप से पायी जाती है। यहाँ तककि वीरादि के प्रकरणों में भी इसी का बाहुल्य देखा जाता है।[3] उनकी शैली के विवेचन में उनकी कला के इस पक्ष पर भी काफी प्रकाश डाला गया है। यहाँ तो केवल नमूने के तौर पर एक-दो पद्यों को उद्धृत कर बताएँगे कि वे किस प्रकार की सरल, सुबोध एवं समासहीन प्रसन्न पदावली का प्रयोग करते हैं।

दिलीप-सिंह-संवाद चल रहा है। सिंह दिलीप से कहना चाहता है कि एक मामूली सी गाय के लिये इतना बड़ा त्याग करना तो विवेकहीनता का

---

१. रामगोविन्द शुक्ल, कालिदास ग्रन्थावली (सं० सीताराम चतुर्वेदी) निबन्ध भाग पृ० १०१।

२. (i) वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।
(ii) उपमा कालिदासस्य।

३. द्रष्टव्य–रघु-इन्द्र, अज-राजन्य, राम-राक्षस प्रकरण। ओज प्रसंग
अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितोवृथास्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥२॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



परिचायक है —

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥

(रघु० २/४७)

इसी प्रकार प्रसाद संवलित वैदर्भी का एक और रूप है अज विलाप से —

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥(रघु० ८/६७)

उपर्युक्त पद्यों में जिस सरल, सुबोध एवं समासहीन पदावली का प्रयोग किया गया वह स्वयं ही कालिदास के व्यक्तित्व अथवा शैली का जीवन्त रूप प्रस्तुत कर देती है ।

**अलंकार विधान**

कालिदास के अलंकार-प्रयोग की एक विशेषता है कि वे कविता-कामिनी के अंगों पर सुशोभित होने वाले वस्त्राभूषणों की भाँति न होकर स्वयं उसके शरीर-लावण्य के अंग बन गये हैं । सच तो यह है कि कालिदास के अलंकारों की गणना उनके काव्य के कलापक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष में करना अधिक उपयुक्त लगता है । क्योंकि वे काव्य के भाव में ऐसे घुलमिल से जाते हैं कि उनकी पृथक् सत्ता ही प्रतीत नहीं हो पाती ।

कालिदास की उपमा के विषय में हम अन्यत्र विचार कर ही चुके हैं और यह भी बता ही चुके हैं कि कुल उपमाओं में से आधी ऐसी हैं जोकि अकेले रघुवंश में पाई जाती हैं । यदि अतिशयोक्ति न समझी जाये तो हम कह सकते हैं कि इसमें कवि ने उपमाओं की गंगा-जमुना ही प्रवाहित कर डाली है । पर यहाँ हम उनकी उपमाओं पर विचार न करके कुछ अन्य अलंकारों का ही दिग्दर्शन कराने का यत्न करेंगे तथा प्रकरण प्राप्त होने के कारण केवल रघुवंश तक ही अपने को सीमित रखेंगे ।

'रघुवंश' में भाव और प्रसंगों के अनुरूप प्रायः सभी प्रमुख अलंकारों का प्रयोग दिखाई देता है । राम के बाणों ने कुम्भकर्ण को सदा के लिए गहरी नींद में सुला दिया इस बात को कवि ने 'उत्प्रेक्षा' के द्वारा यों व्यक्त किया है —

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथाभवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ (रघु० १२/८१)

(राम के बाणों ने मानो यह कहकर कुम्भकर्ण को गहरी नींद में सुला दिया कि हे कुम्भकर्ण ! तुम्हें नींद बड़ी प्यारी है, तुम्हारे भाई रावण ने बीच में ही

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तुम्हारी नींद को तोड़कर तुम्हें जगा दिया था।)[१]

ऐसे ही 'साङ्गरूपक' का एक रूप प्रस्तुत है —

**रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।**
**अभिवृष्यमरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे॥** (रघु० १०/४८)

(रावण के भयरूपी अकाल से मुरझाए हुए देवतारूपी कृषि पर वाणीरूपी अमृत बरसाकर मेघरूपी विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये।) यहाँ पर रूपक के द्वारा देवताओं की आन्तरिक स्थिति का जो स्वाभाविक निदर्शन रूपक द्वारा सम्भव हो सका है वह अन्यथा शायद सम्भव न होता।[२] 'फलोत्प्रेक्षा' का एक सुन्दर उदाहरण रघुवंश के बारहवें सर्ग से विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में दिया है। भगवान् राम ने रावण की छाती में इतने वेग से बाण मारा कि वह उसकी छाती को पार करके नीचे भूमि में जा धँसा। पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों राम का यह बाण पाताललोकवासियों को रावण-वध का शुभ-समाचार देने के लिए ही पृथ्वी में प्रवेश कर गया :

**रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।**
**विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्॥** (रघु० १२/९१)

ऐसे ही 'हेतूत्प्रेक्षा' की भी निम्नलिखित सुन्दर भावपूर्ण कल्पना दर्शनीय है। विमानयात्रा के प्रसंग में राम जानकी जी को वह स्थान दिखाते हैं जहाँ पर कि उनकी खोज में भटकते हुए उन्होंने चुपचाप पड़ा हुआ उनका एक नूपुर देखा था। वह नूपुर क्यों मौन था इसकी उत्प्रेक्षा करते हुए वे कहते हैं कि मानों तुम्हारे चरणारविन्द से वियुक्त हो जाने के दुःख से ही वह बेचारा निःशब्द वहाँ पड़ा हुआ था :

**सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।**
**अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेष दुःखादिव बद्धमौन॥**
(रघु० १३/२३)

सामान्य से विशेष का समर्थन एवं विशेष से सामान्य का समर्थन रूप 'अर्थान्तरन्यास' तो रघुवंश में अनेकत्र दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित पद्य में 'गुण सर्वत्र ही अपना प्रभाव दिखलाते हैं' इस सामान्य सिद्धान्त का 'रघु की वीरता से इन्द्र प्रसन्न हो गया' इस विशेष घटना के द्वारा समर्थन किया गया है[३] :

---

१. अन्य द्रष्टव्य—रघु० १२/५; १/२२।
२. अन्य द्रष्टव्य—रघु० १३/८; १४/५१
३. अन्य द्रष्टव्य—५/१७; १/१८; ६/३० (भिन्नरुचिर्हिलोकः)।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥

(रघु० ३/६२)

ऐसे ही विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन देखिए :

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत्।
उष्णत्वमग्न्यातप संप्रयोगात् शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥

(रघु० ५/५४)

कुशल कलाकार ने कितनी सुन्दरता एवं स्वाभाविकता के साथ अतिथि के ऊपर तने हुए श्वेत छत्र से समस्त प्रजा लोक के महाराज कुश की मृत्यु से उत्पन्न संताप को दूर करने की 'असंगति' की संगति बैठा दी है [१] :

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा।
पूर्वराजवियोगौघ्नयं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ (रघु० १७/३३)

'सहोक्ति' की भी एक सुन्दर छटा निहारिए। रघु और इन्द्र के युद्ध का प्रसंग है। इन्द्र के कठोर वज्र प्रहार से शौर्यपुञ्ज रघु भूमि पर गिर पड़ा पर कुछ ही क्षण बाद उस आघात को सहन कर वह फिर युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ। यहाँ पर कवि ने उसके गिरने के साथ ही उससे सैनिकों के अश्रुपात की तथा उसके उठने के साथ ही उनकी हर्षतुमुलध्वनि के उठने की योजना करके अनायास ही सहोक्ति की अति सुन्दर योजना कर डाली है [२] :

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपातभूमौ सहसैनिकाश्रुभिः।
निमेषमात्रादवधूय च व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिस्वनैः ॥

(रघु० ३/६१)

महाराज सुदर्शन के प्रसंग में कवि ने 'विभावना' की कैसी सुन्दर योजना की है और कैसी व्यञ्जना की है उनके गौरव की। आभूषणों के भार को भी सहन न कर सकने वाला षड्वर्षीय महाराज सुदर्शन का शरीर पृथ्वी के गुरु भार को धारण करता है [३] :

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या विभरावभूव ॥

(रघु० १८/४५)

'विरोध' का रूप भी प्रस्तुत है साथ ही :

---

१. द्रष्टव्य—११/१९

२. द्रष्टव्य— ४/४

३. शशाम वृष्टयापि विना दवाग्निः ॥ २/१४; १८/४३; ६/२८

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अजस्य गृह्णतोजन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तवः ।। (रघु० १०/२४)

'अपह्नुति' की भी कमी नहीं। राम-जन्म के अवसर पर, राक्षसों की राज्य-लक्ष्मी के आँसुओं के बहाने, रावण के रत्नकिरीटों से कुछ मणि भूमि पर आ गिरे।[1] कवि कहता है :

दशानन किरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः ।। (रघु० १०/७५)

सीता के चरणों तथा भरत के सिर के लिए साभिप्राय विशेषणों की योजना के द्वारा 'परिकर' का कैसा सुन्दर रूप निखर आया है —

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्यसाधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ।।
(रघु० १३/७८)

सीता के चरणों की विशेषता है कि उन्होंने रावण की प्रार्थनाओं को कठोरता पूर्वक ठुकरा दिया है और भरत के सिर की विशेषता यह है कि उसने अपने अग्रज की भक्ति में जटाओं को बढ़ा लिया है।

कवि की 'अतिशयोक्ति' भी स्वभावोक्ति सी ही जान पड़ती है। राज्याभिषेक के तुरन्त बाद ही अतिथि का प्रताप समुद्रतटों तक व्याप्त हो गया इस बात को इस अतिशय उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

यावन्नाद्यते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ।। (रघु० १७/३७)

देखिए ! अभिषेक वेदी का जल सूखा भी नहीं कि प्रताप आसमुद्र फैल गया।

'तुल्ययोगिता' का एक निखरा हुआ रूप देखिए अग्निवर्ण के क्षीण शरीर की दशा में। राजयक्ष्मा ने उसकी दशा विरहियों की सी बना दी। दोनों में साम्य देखिए —

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिरायया कामयानसमवस्थया तुलाम् ।।
(रघु० १९/५०)

'दीपक' की छटा भी कम मनोरम नहीं। एक दीपक बाहर-भीतर सब जगह को चमका दे रहा है। पिता की मृत्यु तथा राम के वनवास की बात को सुनकर भरत अपनी माँ से ही नहीं वरन् अयोध्या की राज्य-लक्ष्मी से भी चिढ़ गये :

---

१ द्रष्टव्य—१२/२

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः।
सानुनं केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः॥ (रघु० १२/१३)

उपमा के समान ही 'पर्यायोक्त' भी कवि का प्रिय अलंकार है। इसे तो वस्तुतः अलंकार न कहकर कवि की शैली ही कहना चाहिए। इसलिए हमने उसकी शैली के विवेचन में ही इसका विवेचन किया है। यहाँ केवल 'अङ्गाङ्गि-भाव संकर' के रूप में ही उसका एक रूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इन्दुमती स्वयंवर में सुनन्दा अंगनाथ का परिचय देती हुई कह रही है —

अनेनपर्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु।
प्रत्यर्पितः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्यसूत्रेण विनैव हाराः॥
(रघु० ६/२८)

प्रस्तुत पद्य में अश्रुबिन्दु तथा मुक्ताफलों के बीच अभेद प्रतिपादनपूर्वक बिना सूत्र के ही शत्रु नारियों के कण्ठ में हार पहनाने की बात के द्वारा उनके विधवा-पन का निर्देश किया गया है। सो यहाँ पर अतिशयोक्ति और विभावना से परिपुष्ट पर्यायोक्ति का संकर है। ऐसे ही और भी अनेक अलंकारों की योजना रघुवंश में पाई जाती है।[1]

शब्दालंकारों में कवि की विशेष रुचि तो नहीं पर प्रसंग व रस के अनुरूप कहीं-कहीं अनुप्रास और यमक की अकृत्रिम सुन्दर योजना बन पड़ी है।[2] अनुप्रासों में सर्वत्र ही नाद सौन्दर्य दर्शनीय है।

प्रकृति-चित्रण

कालिदास ने अपने महाकाव्य के लिए कथावस्तु का विशाल पटल चुना था। यदि वह रघुवंश के प्रतापी नरेशों के ऐश्वर्य, पराक्रम और उनकी वैभव और विलास की सामग्री एवं नगरियों के वर्णन तक ही अपने को सीमित रखता तो निश्चित था कि दो तीन शासकों के वर्णन के बाद ही रघुवंश में चित्रों की पुनरावृत्ति शुरू हो जाती और पाठक का मन ऊबने लगता। पर महाकवि कालिदास इतना सा ही पाथेय लेकर इतनी बड़ी यात्रा पर नहीं निकले थे। उन्होंने देश, काल, परिस्थिति के लिए भिन्न सामग्री जुटाई थी। इतने विशाल चित्र को सजाना हँसी खेल नहीं था। अपने इसी कला विधान में उन्होंने प्रकृति

---

१. द्रष्टव्य—स्मरण–रघु० ९/५८, ६७; स्वभावोक्ति रघु० ३/२५–२६; ७/६६ इत्यादि।

२. द्रष्टव्य—अनुप्रास रघु० १/५९; २/३०; ४८, ७४; ७/१६ यमक–रघु० ९/१,२; २/३०, ३३ आदि।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



का भी हाथ पकड़ लिया है। कालिदास ने प्राकृतिक वैभव तथा मानवीय वैभव को बहुत निकट से देखा था तथा उसका आस्वादन भी किया था।

कालिदास कलाकार तो था ही; वह जानता था कि कहाँ किस वस्तु का किस रूप में उपयोग होना चाहिए। उसने प्रकृति का भी विविध रूपों से उपयोग करके अपनी कलाकृतियों को सजा डाला है। प्रसंग और भाव के अनुकूल प्रकृति का रूप बदलता चलता है। वह उसकी कथावस्तु का एक अभिन्न अंग बन जाती है। उसके सहयोग से प्रत्येक भाव और प्रसंग स्पष्टतर हो उठता है। रघु के दिग्विजय अथवा इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर उसने प्रकृति-वर्णन के सहारे चित्रों को जो सजीवता एवं रंजकता प्रदान की है वह केवल उन प्रकरणों का अनुशीलन करने से ही अनुभव की जा सकती है।

'रघुवंश' में मुख्यतया तीन रूपों में कालिदास ने प्रकृति को स्थान दिया है। वे हैं–वस्तु-विधान,[1] भाव विधान[2] और अलंकार-विधान[3]। क्योंकि प्रकृति-पुत्र की प्रकृतिसाधना पर हम पृथक् रूप से भी विचार कर रहे हैं अतः यहाँ उस पर विचार करना पिष्टपेषण ही होगा। विज्ञ पाठक इसके लिए तत्सम्बन्धी प्रकरण को ही देख सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य रघु० ४/१६–२४, ३७,४२, ४६,४८, ५१,५७, ६५,७२–७६; ६/२६–४८, १६/४२–७०.

२. द्रष्टव्य रघु० १/५०–५२; २/१५,१७;५/४३–४६,६६–७४, ६/३५,४३,४८,५१, ५७,६०,६४.

३. द्रष्टव्य रघु० १/१६,३६,४६, ७०,८३; २/२०,२९; ४/१, ११,३५,६३; ५/३७; ६/३,२६ आदि।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# ( ३ )

# रघुवंश का भावपक्ष

## १ मानान्तर शब्द-चयन

'रघुवंश' महाकवि की प्रौढ़तम कृति है। उनकी प्रज्ञा और प्रतिभा का परिपक्व रूप इसमें पदे-पदे प्रतिफलित हुआ है। कला की दृष्टि से इस महाकाव्य की वस्तुयोजना तथा अलंकरण में कवि ने जिस कौशल का परिचय दिया है उस पर हम पीछे कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम संक्षेप से उनकी भाव- व्यञ्जना पर भी कुछ विचार करेंगे। वस्तुतः भाव व्यञ्जना ही वह प्रधान तत्त्व है जो कि रघुवंश को एक ऐतिहासिक वंश-वर्णन से उठा कर महाकाव्य के उच्च सिंहासन पर आसीन करा देता है, इसे सहृदयों का कण्ठहार बना देता है।

वस्तुयोजना के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि कालिदास ने इस राजवंश की इतनी लम्बी शृंखला से घटनाओं का चुनाव किस सूझबूझ के साथ किया है। उन्होंने इस विशाल कथानक के मार्मिक स्थलों को पहचाना है तथा उन्हें बड़ी सबल एवं भावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसके लिए उन्होंने भावाभिव्यक्ति के सभी साधनों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो इंगितमात्र से ही बड़े सूक्ष्म एवं संकुल भावों की सुन्दर व्यञ्जना कर डाली है। भाषा तो उनके सामने मानो हाथ जोड़े खड़ी रहती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं कोमलतम भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक से एक सुन्दर शब्द उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहता है और वे उनमें से अधिकतम भावाभिव्यञ्जक शब्द को स्थान देकर अनुगृहीत कर डालते हैं। कभी-कभी तो एक-एक शब्द अनेकानेक व्यञ्जनाएँ करता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए तो सहृदय पाठक उनके एक-एक शब्द पर मुग्ध है। मेघदूत के प्रसंग में हमने उनके कुछ शब्दप्रयोगों के विषय में विचार किया है। पर वह तो कवि के अप्रौढ जीवन की कृति है। रघुवंश तो

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उससे बहुत-बहुत आगे है। यहाँ तो एक-एक शब्द स्वयं में एक सम्पूर्ण भाव व इतिहास को लेकर चला है। रचना में से एक भी शब्द इधर-उधर कर दीजिए सारा भाव-सौन्दर्य ही बिखर जायेगा। सीता के सन्देश—'वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा'—से 'राजा' शब्द को निकाल दीजिए सारा भाव सौन्दर्य ही नष्ट हो जायेगा। इस शब्द की जो व्याख्या कालिदास ने 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' के द्वारा की है उसके परिवेश में यहाँ पर 'राजा' शब्द कितने गहन व्यङ्ग्य की योजना कर रहा है यह सम्भवतः बताने की नहीं, अनुभव करने की बात है। ऐसे ही दिलीप के प्रसंग में 'पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः (रघु० १/५९)' में दिलीप को 'राज्याश्रममुनि' कहकर शब्दमात्र से कवि ने दिलीप के संयत एवं आदर्श जीवन की जो व्यञ्जना कर डाली है वह शायद उसके समस्त कार्यकलापों का वर्णन करने से भी न हो पाती। दिलीप-सिंह-सम्वाद में भी कवि ने पूरे वजन के नपे-तुले शब्दों के साथ दिलीप के व्यक्तित्व को जिस खूबी के साथ उभारा है वह दर्शनीय है —'ततोमृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी (२/३०)' 'सिंहोरुसत्त्वं निजगादसिंहः (२/३३)' 'इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य (२/४१)' 'निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाचः (२/५२) इत्यादि। कैसा बराबर का मुकाबला है। एक 'मृगेन्द्र' है तो दूसरा 'मृगेन्द्रगामी', एक 'सिंह' है तो दूसरा 'सिंहोरुसत्त्व' एक 'मृगाधिराज' है तो दूसरा 'पुरुषाधिराज' एक 'देवानुचर' है तो दूसरा 'मनुष्यदेव'। ऐसे रघु-इन्द्र प्रसंग में 'ददर्श देवं नरदेव सम्भवः (३/४२) में भी समकक्षता शब्दों से ही प्रकट कर दी गयी है।[1] शब्दप्रयोग के द्वारा कवि भावों की गहनता को किस प्रकार बढ़ा देता है इसका एक उदाहरण देखिए। प्रथम सर्ग में ही गुरु वशिष्ठ के सम्मुख अपनी मानसिक व्यथा की समस्या को प्रस्तुत करता हुआ दिलीप कहता है —'किन्तु बध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी (रघु० १/६५)।' यहाँ पर 'रत्नसूः' की स्थिति से 'अदृष्टप्रजम्' की भावना कितनी तीव्र हो उठती है यह बताना शब्दातीत है। दिलीप की एक पत्नी रत्नों का प्रसव करती है और दूसरी प्रसवहीन है। सुदक्षिणा में भी वह 'रत्न-प्रसव' की कामना करता है यह भाव भी उसके 'रत्नसूः' शब्द से स्पष्ट झलकता है। इस रत्न का 'वंश' के लिए क्या महत्त्व होगा—इसकी व्यञ्जना तो प्रकरण से ही स्पष्ट हो सकती है।

---

१. द्रष्टव्य (क) श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः। (रघु०५/२)
(ख) तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी॥ (वही५/३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



शब्दों के पारखी कवि के मन में शब्द और उसके अर्थ का विशिष्ट भाव किस प्रकार अपना प्रभाव डाल चुका था इसका संकेत तो हमें रघुवंश के मंगलाचरण में ही मिल जाता है। कालिदास इस ग्रन्थ का प्रारम्भ ही 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' के विशिष्ट भावपूर्ण पद से करता है। उसके लिए शब्द और उसका अर्थ उतना ही पूजनीय तथा वरदायक है जितने कि पार्वती-परमेश्वर। वरन् उपमा के आचार्य ने उन्हें उपमान पद पर स्थापित करके उनके महत्त्व को एक कोटि आगे ही बढ़ा दिया है।

**देश-कालातीत सौन्दर्य-व्यञ्जना**

कालिदास मानव-मन का अनोखा पारखी था। शब्द उसके इंगित पर नाचते थे, कला ने उसे अपना अनावृत रूप दिखाया था, और जीवन के अनुभव ने उसे बहुत कुछ सिखा दिया था। जब वह रघुवंश लिखने बैठा था तो उसके पास इन सबकी अतुलराशि थी। उसने कुशल कलाकार की भाँति जहाँ जिस तत्त्व की जितनी मात्रा में अपेक्षा थी वहाँ उतना प्रस्तुत कर दिया, न कम और न ज्यादा, नाप-तोल कर। उसने प्रारम्भ में ही सूर्यवंश के और तदनन्तर दिलीप के गुणों की ओर संकेत करके पाठक के मन को पहले से ही गम्भीर एवं भावपूर्ण वातावरण में प्रवेश करने के लिए तैयार कर दिया है।

कवि चाहता तो दिलीप के शारीरिक-सौन्दर्य के वर्णन में बहुत कुछ कह सकता था, महाकाव्य का प्रारम्भ हो रहा है, पाठक भी अभी बहुत कुछ सुनने के लिए उत्सुक है, पर नहीं, महाकवि ने इसके विस्तार में जाना उपयुक्त नहीं समझा। बस एक झाँकी प्रस्तुत कर दी, एक लम्बे तड़ंगे वीर पुरुष की, जिसकी छाती उभरी हुई तथा चौड़ी, कन्धे वृषभ की भाँति सुदृढ़, डील-डौल में पूरे का पूरा साल का वृक्ष तथा भुजाएँ भी ऐसी ही लम्बी थीं। सम्पूर्ण रूप से देखने वाले पर उस शरीर का ऐसा प्रभाव पड़ता था जैसे कि मानो क्षत्रियत्व ही अपने समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए उसके शरीर के आकार में प्रकट हो पड़ा हो।[1] बस, कवि ने उसके नख-शिख के वर्णन में न जाकर वीर क्षत्रिय की एक सबल रूपरेखा खींच दी और प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के पाठक के लिए खुली छूट दे दी कि वह अपने आदर्श व संस्कारों के अनुरूप शेष चित्र को पूरा कर ले।

'रघुवंश' के प्रौढ़ कवि ने सम्पूर्ण काव्य में रूप-वर्णन के इसी भाव को

---

१. व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांसुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमंदेहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ (रघु० १/१३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



सामने रखा है। वह अपने युग का विशेष चित्र उपस्थित करके उसे युग विशेष तथा स्थान विशेष तक ही सीमित नहीं रखना चाहता है। यहाँ तक कि रघुवंश की सुन्दरतम नारीपात्र इन्दुमती के विषय में भी कवि ने अपने इसी दृष्टिकोण को स्थिर रखा है। इसमें तो सन्देह के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता कि वह रूपसी अवश्य ही अद्भुत सुन्दरी होगी जिसके लिए दूर-दूर से इतने राजकुमार एकत्रित हुए थे। पर रूप-वर्णन का ऐसा सुवर्ण अवसर भी कवि को कोरी कल्पना वा शब्दजाल के चक्कर में पड़ने के लिए प्रलोभित न कर सका। वह उसकी शरीर-रचना के विषय में केवल इतना ही कह सका कि 'वह विधाता की उत्कृष्टतम रचना थी' और उस रूप को देखकर सारे राजकुमार ऐसे ठगे से रह गये कि उन्हें अपनी सुध भी न रही।[1] इसके बाद फिर एक वाक्य में उसे रात्रि में राजमार्ग से चलती हुई दीपशिखा कहकर उसके अद्भुत सौन्दर्य की व्यञ्जना भर कर दी।[2] अब उसका नख-शिख क्या होगा? कैसा होगा? इस सबको छोड़ दिया है देश-काल निरवच्छिन्न सौन्दर्य-पारखी सहृदय पर। इसीलिए जहाँ पार्वती, शकुन्तला को हम भारतीय कह सकते हैं वहाँ इन्दुमती को 'विश्व-सुन्दरी' के पद पर आसीन कराया जा सकता है!

अनूढ़ा नायिका के रूप में रूप-चित्रण का अवकाश 'रघुवंश' में केवल इन्दुमती के प्रसंग में ही आया। सीता के प्रसंग में कवि जानबूझ कर इसे टाल गया है। वहाँ सीता ने स्वयं वरण नहीं करना था। उसका निर्णय तो धनुर्भङ्ग के द्वारा होना था। तुलसीदास जी ने पुष्पवाटिका में सीता और राम का जो पूर्वराग का रूप चित्रित किया है वह भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण से चाहे मान्य हो पर काव्य-विधान की दृष्टि से नहीं हो सकता था। अतः कालिदास ने सीधे ही राम से धनुर्भङ्ग कराकर जनक के द्वारा सीता राम को अर्पित करा दी है। अन्य सभी नारीपात्र विवाहित रूप में ही हमारे सामने आये हैं। किसी परिणीता नारी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन भारतीय काव्यशास्त्र के विधान के अनुसार अनुचित होता। भारतीय दृष्टिकोण से विवाहिता नारी का तो सबसे बड़ा सौन्दर्य है पातिव्रत। अतः दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा का परिचय देते हुए कवि ने बड़े ही संक्षिप्त रूप में उसके गुणों की मार्मिक व्यञ्जना कर दी है। एक स्थान पर तो उसके

---

१. तस्मिन् विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तकरणैर्नरेन्द्राः देहैः स्थिता केवलमासनेषु॥ (रघु० ६/११)

२. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



'दाक्षिण्य' की ओर संकेत करके और उसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा के रूप में प्रस्तुत करके[1] तथा दूसरी जगह **'अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया'** (रघु० २/२) सीता की प्रशंसा भी वाल्मीकि ने **'धुरिस्थिता त्वं पतिदेवतानाम्'** (रघु० १४/७४) कह कर की है। अपने अन्य ग्रन्थों में भी कवि ने अधिकतर इसी रूप को अपनाया है।

ऐसे ही कवि को दिलीप के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति प्रदान करनी थी तो कह दिया—

**सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना।**
**स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥** (रघु० १/१४)

बस, इतने से ही उसके बल, तेज, गौरव, उच्चता आदि का सुन्दर आभास हमें मिल जाता है। उसका व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से ही चमक उठता है।

रघुवंश में भावचित्रों की आदि से अन्त तक ऐसी मोहक शृङ्खला है कि पाठक उनमें निरन्तर डूबता-उतराता जाता है। यहाँ पर उन सबको उपस्थित करने का अभिप्राय होगा प्रस्तुत प्रबन्ध के कलेवर को बहुत अधिक बढ़ा डालना। अतः उनमें काँट-छाँट तो करनी पड़ेगी ही, पर किसे छोड़ा जाये और किसे लिया जाये यह निर्णय करना सरल नहीं। एक से एक प्रिय तथा एक से एक मोहक!

**रघुवंश की भावचित्र योजना**

**माधुर्य :** वशिष्ठाश्रम की यात्रा के प्रसङ्ग में ही कवि ने किस सरलता के साथ इस स्नेह से पगे मधुर भाव को उपस्थित कर दिया कि राजा दिलीप जिस क्षेत्र से होकर जा रहे थे वहाँ के बूढ़े-बूढ़े घोषी ताजा मक्खन लेकर उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और राजा और रानी उनसे मार्ग में पड़ने वाले लतावृक्षों के बारे में पूछने लगते थे।[2] अकृत्रिम स्नेह और आदर का कैसा मधुर आदान-प्रदान है। भाव की सरलता ही हृदय को मोह लेती है।

**स्नेह और विश्वास :** इसके आगे ही वशिष्ठाश्रम के स्नेह, शान्ति, पवित्रता और विश्वास का जो रूप प्रस्तुत किया है वह तो पाठक के हृदय

---

१. तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेवासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ (रघु० १/३१)

२. हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ (रघु० १/४५)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पर इन सबकी एक अमिट छाप छोड़ जाता है । स्नेह और विश्वास का क्या ही अलौकिक रूप है। 'तपोवन के मृगों को ऋषि पत्नियों से इतना स्नेह और वात्सल्य मिला है कि वे तिन्नी के दाने खाने के लिए सायंकाल को उनकी पर्ण-कुटियों के द्वार पर लाड़ले बच्चों की तरह रास्ता रोके खड़े हैं। पक्षी निश्चिन्त होकर जलपान कर सकें इसलिए ऋषि कन्यायें वृक्षों के थाँवलों में पानी भरकर वहाँ से दूर हट गयी हैं। कुटियाओं के आंगनों में सुखाने के लिए फैलाया हुआ अन्न सायंकाल के लिए समेट दिया गया है और हरिण उनके पास ही बैठकर बड़े प्रेम से जुगाली कर रहे हैं।'[1]

तपोवन के पावन स्नेह और विश्वास की ऐसी ही कमनीय योजना हुई है पञ्चम सर्ग में भी। 'सर्वस्व दक्षिणयाजी' महाराज रघु 'गुरुदक्षिणार्थी' कौत्स से पूछ रहे हैं—'हरिणों के वे छोटे-छोटे बच्चे तो कुशलपूर्वक हैं न, जिन्हें जन्म से ही ऋषियों का ऐसा स्नेह प्राप्त है कि उनके नाभिनाल भी सूखकर उन्हीं की गोद में गिरते हैं और वे उनके इतने लाड़ले होते हैं कि यज्ञ के लिए बटोरी हुई उनकी कुशा को खा जाने पर भी वे उनसे कुछ नहीं कहते।'[2]

किसी प्रकार की बिम्ब-योजना के बिना ही ऐसे शान्त और स्निग्ध भाव की सृष्टि कोई अन्य कवि कर सका हो ऐसा स्मरण नहीं आता। आज के छल, कपट और अविश्वास से भरे हुए मानवलोक को देखकर मन ललक उठता है पावन स्नेह से लबालब भरे हुए इन तपोवनों के दर्शनों के लिए। 'तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला' की भावना तो एकदम अद्भुत है। सहृदय पाठक के मन पर सदा के लिए एक अनिर्वचनीय स्नेह और विश्वास की भावना को उभार जाती है।

**सेवा-भाव :** किसी भाव-योजना के लिए उसे किसी प्रकार के लम्बे-चौड़े वर्णन वा अलंकार-योजना की आवश्यकता पड़ती हो—ऐसी बात नहीं। वह

---

१ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैः मृगैः ॥
सैकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपत्ययसंक्षिप्त नीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ (रघु० १/५०–५२)

२. किं नानिमित्तेष्वपि वत्सलत्व दर्भाग्रकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगाणामनघा प्रसूतिः ॥ (रघु० ५/३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तो थोड़े और सरल शब्दों में ही भावों की सुन्दर योजना कर डालता है। राजा दिलीप किस एकान्तभाव से नन्दिनी की सेवा कर रहे थे, इस बात की अभिव्यक्ति कवि ने उनकी चेष्टाओं का वर्णन कर दी है—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेवतां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

(रघु० २/६)

अर्थात् जब नन्दिनी खड़ी हो जाती तो वे भी खड़े हो जाते, वह चलने लगती तो वे भी चल पड़ते, वह बैठ जाती तो वे भी बैठ जाते और जब वह जल पीती तो आप भी जलपान करते। इस प्रकार राजा दिलीप छाया की भाँति उसका अनुगमन करते थे। कैसा सुन्दर भावाग्राही चित्र खींच दिया है एक ही छोटे से श्लोक में दिलीप की अनन्य सेवा-भक्ति का! भाव चित्र सीधे मन तक उतर जाता है और दिलीप के भक्तिभाव की एक गहरी छाप छोड़ जाता है।

**भाव तीव्रता के लिए विरोधी भावों की एकत्र योजना**

किसी भाव को गहरा एवं स्थायी रंग देने के लिए कवि प्रायः परस्पर विरोधी भावों की एकत्र योजना करता है। जब एक ओर हम दिलीप के प्रताप, ऐश्वर्य और दिव्यगुणों की बात सुनते हैं।[1] और दूसरी ओर सन्तति के अभाव में गुरु वशिष्ठ के समक्ष अति आतुर भाव से उसे यह कहते सुनते हैं कि मेरे बाद पिण्ड और तर्पण की क्रिया का विच्छेद हो जाने के भय से मेरे पितर मेरे द्वारा दिये गये श्राद्ध के अन्न को भरपेट भी नहीं खा पाते होंगे। वे उसका आधा भाग बचाकर रख लेते होंगे। मेरे द्वारा दिये गये तर्पण के जल को गर्म-गर्म आहों से कोसा कर लेते होंगे।[2] आदि तो हमारा हृदय उस सन्तति-हीन दुखिया के प्रति करुणा और सहानुभूति से भर जाता है। यहाँ पर कवि ने इसके कारण अन्त तक अव्यक्त रखकर रचनाकौशल का भी अच्छा परिचय दिया है।

ऐसी ही स्थिति उत्पन्न की है पञ्चम सर्ग में भी। रघु सर्वस्व दक्षिण याग

---

१ रघु० १.१३–३०

२. नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ (रघु० १।६६–६७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कर चुका है और इसी समय गुरुदक्षिणार्थी कौत्स भी १४ हजार सुवर्णमुद्राओं की कामना से वहाँ आ पहुँचता है और 'मृत्पात्रावशेष' रघु को अपनी अर्थ-पूर्ति के लिए इस समय असमर्थ देखकर कहता है—आपके पास तो अब कुछ है नहीं, इसलिए अब मैं गुरुदक्षिणा के लिए किसी और दानी का द्वार खटखटाता हूँ। क्योंकि जलहीन बादल से तो पपीहा भी जल की याचना नहीं करता। अच्छा! भगवान् आपका कल्याण करे'।[1] यह कहकर जब वहाँ से जाने लगता है तो हमारा हृदय एक गहरी व्यथा की अनुभूति करने लगता है। इस पर रघु उससे अनुनय करता हुआ कहता है कि 'मैं इस लोकापवाद को सहन नहीं कर सकता कि कौत्स जैसा शास्त्रपारङ्गत ब्राह्मण रघु से गुरु दक्षिणा के लिए धन न पाकर किसी दूसरे दाता के द्वार पर गया।[2] इस दशा में भी स्वाभिमान का रूप कितना जागृत है।

वस्तुतस्तु रघु के ये भावनापूर्ण शब्द ऐसे हैं जैसे कि मानों हमारे ही मुख के शब्दों को रघु ने छीन लिया हो। कौत्स को इस प्रकार निराश लौटते देख कर स्वयं हमारा हृदय इसी प्रकार के भाव से भर गया था और इस अभिव्यक्ति से उसे एक प्रकार की सान्त्वना सी मिलती है। और फिर दान के समय की घटना तो संसार के साहित्य और इतिहास में अद्वितीय ही है।[3] उस दिन अयोध्यावासियों ने अपनी आवश्यकता से अधिक एक कौड़ी भी न लेने वाले याचक तथा उसकी आवश्यकता से भी अधिक देने के लिए तुले हुए दानी के बीच होने वाले जिस तमाशे को देखा था वह महाकवि की लेखनी का स्पर्श पाकर उसके पाठकों के हृदयों पर युगयुगान्तर के लिए उत्कीर्ण हो गया। त्याग और निःस्पृहता का यह भाव एक बार भी जिस हृदय को छू गया, सदा के लिए उसमें स्थान बनाकर बैठ गया। यद्यपि आज के अर्थप्रधान युग में, ऐसे दानी और तपस्वियों के अभाव में ये सारी बातें किसी दूसरे लोक की सी लगती हैं।

---

१ तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहंयतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि॥ (रघु० ५।१७)

२ गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥ (रघु० ५।२४)

३ जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिक निःस्पृहार्थी नृपोऽर्थिकामादधिक प्रदश्च॥ (रघु० ५।३१)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**भावपूर्ण तथ्य-चित्रण**

दूसरे सर्ग में तो कवि ने एक से एक सुन्दर भावचित्रों की झड़ी सी लगा दी है। दिलीप किस प्रकार श्रद्धा-भक्ति के साथ एकान्त रूप से नन्दिनी की सेवा में तत्पर हुए, वन में विचरण करते हुए उनका क्या रूप था, वन को जाते तथा लौटते समय उनका रूप क्या होता था—इसकी सुन्दर व्यञ्जना अनेक पद्यों में हुई है।[1] नन्दिनी दिनभर इधर-उधर घूमकर सायंकाल के समय आश्रम के लिए लौट रही है इस भाव को कवि ने बड़े ही व्यञ्जक ढंग से प्रस्तुत किया है।[2] नन्दिनी के आश्रम में लौटने के वर्णन के साथ-साथ सूर्य की प्रभा का विश्राम के लिए लौटने की बात कहकर उसने नन्दिनी की दिव्यता और पावनता के भाव की सुन्दर व्यञ्जना कर डाली है। तपोवन के मार्ग में धीरे-धीरे चलते हुए पृथु शरीरी दिलीप और पृथुस्तनी नन्दिनी का रूप देखते ही बनता है।[3] नन्दिनी के पीछे-पीछे आते हुए राजा के दर्शनों की प्यासी रानी सुदक्षिणा की अपलक आँखों का जो चित्र कालिदास ने खींचा है, वह तो किसी चित्रकार की तूलिका से खीचे गये चित्र से किसी भाँति भी कम नहीं। कैसा भावपूर्ण चित्र है! प्रातःकाल ही सुदक्षिणा ने नन्दिनी की पुष्पाक्षत से पूजा की, बछड़े को दूध पिलाया और जंगल में चराने के लिए ले चले। रानी आश्रम के बाहर तक पीछे-पीछे छोड़ने गई और फिर राजा ने स्नेह से उसे लौटा दिया। वह आश्रम में लौट आई। बड़ी उत्सुकता से दिनभर उनके आने की प्रतीक्षा करती रही। सांझ हुई, सूर्य पश्चिम की ओर बढ़ने लगा, रानी की दर्शन लालसा और भी बढ़ चली। उत्सुकतावश समय से पहले ही पूजा का सामान लेकर उनके स्वागत के लिए आश्रम के बाहर तक जा पहुँची। पर्याप्त प्रतीक्षा के बाद जब दर्शन की प्यासी आँखों ने वन की ओर से तपोवन के मार्ग पर धीरे-धीरे लौटती हुई नन्दिनी और उसके पीछे-पीछे ऐसे ही थके-माँदे राजा को आते देखा तो वे उनके रूप को अपलक होकर अतृप्त सी

---

१. रघु० २।७–२५

२ सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥ (रघु० २।१५)

३. आपीनभारोद्वहनप्रयत्नादगृष्टिगुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलंचक्रतुरन्वितास्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ (रघु० २।१८)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पीती रही।[1] उपर्युक्त पृष्ठभूमि में जब हम इस चित्र को देखते हैं तो हमारे सम्मुख दिलीप और सुदक्षिणा के दाम्पत्य स्नेह की एक मधुर झाँकी प्रतिफलित हो उठती है। इस क्षणिक पति-वियोग ने ही कितना आकुल कर दिया है उस **'अपांसुलानां धुरिकीर्तनीया'** को और कितना स्नेह उमड़ पड़ा है उसकी आँखों में उस प्रिय पति के लिए जोकि उसकी गोद को हरी देखने के लिए इस प्रकार व्रती बनकर नन्दिनी के पीछे वन-वन घूम रहा है।

**पृष्ठभूमि के साथ भावों का उभार**

दिलीप-सिंह-सम्वाद में तो कवि ने नाटकीयता के साथ मनोभावों का जो निरूपण किया है वह अद्भुत है। सारा प्रकरण पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कि यह सब कुछ हमारे सामने एक रंगमंच पर घटित हो रहा है। दिलीप और सिंह के सबल व्यक्तित्व का चित्र सा खिचता चला जाता है। हिमालय की उन अन्धकारभरी गुफाओं के बीच दिलीप ने अचानक उस नन्दिनी का आर्त्तस्वर सुना जिसके बारे में वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि उस पर कोई हिंस्रक जन्तु प्रहार भी कर सकता है **(सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरिति०)**। घोड़े की लगाम की तरह झटका खाकर लौटी हुई दृष्टि ने जब नन्दिनी के ऊपर सिंह को झपटे हुए देखा तो वह तिलमिला उठा और एकदम हाथ तूणीर की ओर बढ़ा। पर यह क्या! वह तो वहीं दाण से ही चिपक गया। उस समय उसकी जो मनोदशा हुई उसका चित्रण कवि ने जिन शब्दों में किया उससे सुन्दर शायद हो भी नहीं सकता था।[2] मन्त्र और जड़ियों के द्वारा कीलित शक्ति वाले विषधर से उसकी तुलना करके कवि ने हमें उसकी मनोदशा के निकटतम रूप का दर्शन कराने की सफल चेष्टा की है।

इसके बाद सिंह ने उससे जो कुछ कहा उसमें सिंह के रौवदाव के साथ-साथ जो क्रूर-ध्वनि निकलती है वह बड़ी मार्मिक है। प्रतिहतशक्ति के कारण इस प्रकार तिलमिलाते हुए दिलीप को देखकर सिंह कहता है —

**अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितोवृथास्यात्।**
**न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छतिमारुतस्य॥**

**(रघु० २/३४)**

---

१. वशिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्॥ (रघु२/१९)

२. बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः॥ (रघु०२/३२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कैसी विडम्बना है! कालिदास ने जिसका 'क्षात्रधर्म का अवतार' कहकर परिचय दिया था, 'सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना' कहकर जिसकी प्रशंसा की थी, जिसकी सारी सफलताओं का श्रेय उसकी धनुष की डोरी को दिया था (१/१६) और अभी-अभी धनुष को लेकर इन वनों में विचरण करते देखकर उसने कहा था कि मानों नन्दिनी की रक्षा के बहाने जंगल के दुष्ट जीवों को विनय की शिक्षा देता फिर रहा है।[1] वही इस समय एक सिंह से गौ की रक्षा के लिए आकुल उसे देखकर सिंह ने मानो व्यङ्ग्य भरे स्वर में उसे 'महीपाल' कहकर सम्बोधित किया। मानों कि वह कहना चाह रहा हो कि हे पृथ्वी का पालन करने वाले 'समुद्रों की खाई से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वी का एक नगर की भाँति पालन करना'[2] और बात है पर एक गौ की पालना करना कुछ और ही बात है। अतः 'मही के पालन' का श्रम तुम करते रहो पर 'गौ के पालन' का श्रम वृथा ही होगा। इतना ही नहीं उसके विस्मय को बढ़ाता हुआ बोला– 'कि पहले तो तुम अस्त्र चला ही नहीं सकते। और यदि किसी प्रकार इसे चलाने में समर्थ भी हो गये तो तुम मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकते।' जब इतने से भी सन्तोष न हुआ तो फिर बोला–'पेड़ों को उखाड़ने की सामर्थ्य रखने वाला वायु का वेग पहाड़ को तो नहीं हिला सकता।' कितनी बड़ी चुनौती थी उसके स्वाभिमान को। सिंह ने तो उसके समस्त गौरव और स्वाभिमान को करारी ठोकर मारने में कोई कसर नहीं रखी थी, पर कालिदास ने बचा लिया उसे। दिलीप को अभी तक मालूम नहीं कि यह सिंह कौन है? पर जो भी हो वह अपने आप को पर्वत कहता है तो ठीक है। इसमें दिलीप की शक्ति का कोई अपमान नहीं। वह भी सामान्य शक्ति नहीं, लौकिक शक्ति श्रेष्ठतम रूप है यह तो सिंह भी स्वीकार करता है उसे वायु का वेग कहकर। और वह भी सामान्य वेग नहीं वरन् वह प्रबलतम वेग जोकि बड़े-बड़े महीरुहों को जड़ से उखाड़ फैंकने की सामर्थ्य रखता है। महीधरों को न आज तक किसी ने धराशायी किया है और न कर सकेगा। फिर इस पर यदि वह महीधर को धराशायी नहीं कर सकता तो भला इसमें उसका अपमान ही किस बात का। प्रकारान्तर से मान की रक्षा हो गयी, ठीक है, पर धर्म की रक्षा तो नहीं हो

---

१. लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ (रघु०२/८)

२. स वेलावप्रवलयां परिरवीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैक पुरीमिव॥ (रघु०१/३०)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



सकी—यह भी तो उसके मन को और भी कचोट रहा था। क्षत्रिय होकर भी किसी शरण्य का 'क्षत से त्राण' नहीं कर पा रहा था। इस बात से उसे विशेष लज्जा का अनुभव हो रहा था। सिंह ने मानो उसके मन के इस भाव को उसके चेहरे पर पढ़ लिया और उसके मन के इसी भाव को दूर करने की भावना से उससे कहने लगा :

**स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः।**
**शस्त्रेणरक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति॥**

**(रघु० २/४०)**

सिंह यदि इससे पूर्व अपना परिचय उसे न दे चुका होता तो निश्चित था कि उसकी यह उक्ति जले में नमक की तरह उसे मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाती। परन्तु भगवान् शकर के प्रभाव के कारण वह अस्त्र प्रयोग नहीं कर पा रहा है इस बात को जानकर उसकी आत्मग्लानि कम हो गयी, उसे सिंह की यह बात विशेष रूप से चुभी नहीं। तो क्या एक इसी तर्क से उसके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है? तर्क हमें निरुत्तर भले ही कर दे पर हमारी भावना को तो नहीं दबा सकता। किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए मन में निश्छल भावना चाहिए साधन तो अपने आप जुट जाते हैं। दिलीप के मन ने कहा—इतने से तेरा उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो जाता। अस्त्र से गाय की रक्षा नहीं कर सकता न सही पर क्या शरीर से भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता? सन्ततिहीन राजा के मन पर नन्दिनी के बछड़े का वह रूप उभर आया जोकि सायंकाल, माँ के आने की प्रतीक्षा के समय, हो जाया करता था। उसकी याद आते ही हृदय द्रवित हो उठा। और जब आज गाय लौटकर न जायेगी तो उसकी क्या हालत होगी इसकी तो कल्पना भी मानों उसके लिए असम्भव थी। हृदय की तरलता की दशा में अन्य सभी हथियारों को डालकर वह अपने अन्तिम और अचूक हथियार पर आ गया। और सीधे ही सिंह के सामने प्रस्ताव हुआ :

**स त्वं मदीयेन शरीरवृत्ति देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।**
**दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥**

**(रघु० २/४५)**

अर्थात् इस गाय को मारने में आपका स्वार्थ तो केवल इतना ही है न कि आप इससे अपने शरीर की भूख मिटाना चाहते हैं? सो इस विषय में मेरा विनम्र प्रस्ताव है कि आप मेरे शरीर से अपनी भूख मिटा लीजिए और मुनि जी की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इस गाय को छोड़ दीजिए क्योंकि अब शाम होने वाली है और इसका बछड़ा बड़ी उत्सुकता से इसकी बाट जोह रहा होगा।'

राजा के इस कथन में करुणा तो सर्वोपरि है ही। पर एक बात जो विशेषरूप से सामने आती है वह है राजा का कर्तव्यभाव। राजा सन्तान के लिए स्वार्थवश नन्दिनी की सेवा-सुश्रूषा कर रहा था। पर भावावेश के इन क्षणों में एक क्षण को भी यह बात नहीं आयी कि यदि नन्दिनी को सिंह खा गया तो उसका तो कार्य ही असिद्ध हो जायेगा; सन्तति के अभाव में जिन पितरों का दुखड़ा उसने गुरु वशिष्ठ के सामने रोया था उसके इस प्रकार शरीर दान कर देने पर उनका क्या होगा, सुदक्षिणा का क्या होगा और अन्त में उस प्रजा का क्या होगा जिसका कि नियमन, भरण-पोषण आदि के कारण वही पिता है।[1] आवेश की स्थिति में मानवमन अन्य भावों से निरपेक्ष्य होकर किसी भाव विशेष में किस प्रकार वह निकलता है इस बात को कालिदास भली-भाँति जानते थे। अतः उन्होंने यहाँ भावान्तर को अवकाश ही नहीं दिया।

अब तक दिलीप ने जो कुछ कहा, वह भावावेश में किसी विशेष ध्येय के बिना भी कहा जाना सम्भव था। क्योंकि इसके अन्य पक्षों के विषय में सोचने का तो उसे अवसर ही नहीं मिल पाया था। अतः सिंह ने उसके समक्ष भावान्तर उपस्थित करना आवश्यक समझा। कालिदास ने यहाँ कुछ विशेष अभिप्राय से ही 'अर्थपति से बोला' (**अर्थपतिं बभाषे**) ऐसा प्रयोग किया है। राजा को याद दिलाने के लिए ही मानो कह रहा हो—'हे राजन् तुम्हारी बात को सुनकर तो मुझे ऐसा लग रहा है जैसे कि तुममें विवेकशक्ति रही ही नहीं, कुछ आगा-पीछा तो सोचकर बोलो। भला इससे बड़ा पागलपन और क्या हो सकता है कि आप एक छोटी सी चीज के लिए इतनी बड़ी राज्यशक्ति, ऐसी नौजवानी और ऐसे कमनीय शरीर को छोड़ देने पर उतारू हो गये हैं।[2] जरा सोचिए तो सही आप क्या करने जा रहे हैं? एक गौ पर तो इतनी दया और उन लाखों प्रजाजनों की कोई परवाह नहीं जो कि आपको पिता की भाँति मानते हैं और आप उन्हें पुत्र की तरह पालते हैं। '**प्रजा प्रजानाथ पितेव**

---

१. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः॥ (रघु० १/२४)

२. एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्यहेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥ (रघु०२/४७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पासि' में शायद सिंह उसे सन्तति के प्रसंग की भी याद दिलाने की चेष्टा कर रहा है। इसके साथ जितनी भी बातें सिंह ने दिलीप को समझाईं वे सब उसके मन में द्वैधी-भाव उत्पन्न करने के लिए की गयी हैं। एक कुशल मनोवैज्ञानिक की भाँति कालिदास ने यहाँ मन की तहों के बीच घुसकर उसके पार के छिपे हुए भाव को प्रस्तुत करने का यत्न किया है। सिंह के तर्क इतने उचित (Convincing) से लगते हैं तथा उसने विभिन्न प्रसंगों को उपस्थित कर मनोभाव को विभक्त करने का ऐसा यत्न किया है कि पाठक एक बार तो स्वय भी विचलित हो उठता है। कालिदास को भी शायद ऐसा लगने लगा था, इसीलिए उसने उस टूटते हुए भावसूत्र को गाँठ देकर कह दिया —कि राजा जब सिंह की बातों में ध्यान दे रहा था तो सिंह से आक्रान्त नन्दिनी कातर दृष्टि से उसे बराबर देख रही थी। दयालु राजा से उसका वह रूप न देखा गया।[1] सिंह के तर्क और अन्यमनस्क करने वाली बातों से मन का वेग शिथिल होता या न होता पर नन्दिनी की कातर दृष्टि ने उसे और भी प्रबल वेग से उभाड़ दिया। अब इतनी देर में प्रारम्भिक भावावेश तो उतर चुका था पर उसके स्थान पर अब सुचिन्तित लक्ष्य आ चुका था। अतः अब केवल 'इस गाय के बदले मुझे खालो' वाली भावुक उक्ति के लिए स्थान नहीं था। तार्किक सिंह को तर्कों से ही मनवाना था, अतः भाव के साथ एक प्रबल तर्क सामने आया कि मैं क्षत्रिय हूँ, और क्षत्रिय शब्द का विश्वविदित अर्थ है दूसरों को नाश होने से बचाना। यदि यह ही नहीं हो सका तो फिर **'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं'** अथवा अपयश से कलंकित **'नवं वयः'** अथवा **'कान्तं वपुः'** से भी क्या लाभ ?[2] गौ भी सामान्य नहीं और तुमने कैसे इस पर आक्रमण किया यह भी मैं सब समझ ही गया हूँ (२।५४) अब इस पर अधिक बहस करने की आवश्यकता नहीं। इसलिए दो टूक बात यह है कि अपना शरीर देकर भी मुझे इसकी रक्षा करनी ही चाहिए। इससे दोनों ही कार्य सिद्ध हो जायेंगे। आपकी शारीरिक क्रिया और अग्निहोत्री गुरु वशिष्ठ की धार्मिक क्रिया यदि मेरे एक शरीर के दान से निष्पन्न हो जाए तो इससे बड़े सौभाग्य की बात मेरे

---

१ निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाचः।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥ (रघु० २/५२)

२. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥ (रघु० २/५३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



लिए और क्या होगी ।[1] यहाँ तक तो हुई तर्क की बात ! पर दुनियाँ में सारे काम तर्क से ही नहीं हुआ करते हैं। तर्क की अपेक्षा भावना में अधिक बल होता है। हम किसी की भावना को उद्‌बुद्ध कराकर जो काम करा सकते हैं वह उसे तर्क वा बुद्धि से कायल करके नहीं। अतः राजा दिलीप ने भी तर्क को छोड़कर सिंह की भावना को उद्‌बुद्ध करने का यत्न किया। बोला—यदि आप किसी कारण से मेरे इस शरीर को अहिंस्य समझकर मुझे खाना नहीं चाहते तो मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप मेरे यशःशरीर की तो रक्षा करो। इस शरीर ने तो आखिर एक न एक दिन नष्ट हो ही जाना है। आप नहीं करेंगे तो और किसी प्रकार से हो जायेगा। इसलिए मुझे इस नश्वर शरीर का कोई मोह ही नहीं।[2] अतः एक मित्र की भाँति आप अपने हृदय से सोचिए तो सही कि मेरा अधिक कल्याण इस नाशवान् देह की रक्षा में है या अनन्तकाल तक अजर-अमर रहने वाले यशःशरीर में ?

दिलीप के मन-बुद्धि और हृदय की पूरी-पूरी तरह परीक्षा हो चुकी है। अतः सिंह उसके अनुरोध को मानने के लिए तैयार हो गया। कुशल कलाकार ने यहाँ इतने स्वाभाविक रूप में मनोभावों का चित्रण किया है कि उनका उतार-चढाव बराबर दिखाई देता है। सम्पूर्ण रूप से कर्तव्य-भावना, आत्म-त्याग और जीव रक्षा का जो भाव कवि ने इस प्रसंग में उभारा है, वह बड़ा ही जीवन्त है। विशेष रूप से कवि ने इस सम्वाद को जो नाटकीय रूप तथा मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान की है उससे इसका रूप और भी अधिक निखर उठा है तथा इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। मनोभावों को भी इस स्पष्टता तथा वैज्ञानिकता के साथ उभारा गया है कि सहृदय पाठक स्वयं भी आत्म विस्मृत हो उसी में बह निकलता है।

**वात्सल्य-भाव**

तृतीय सर्ग में रघु की बालसुलभ चेष्टाएँ मन को मोह लेती हैं। बालक रघु जब कुछ बड़े हुए तो वे धाय के सिखाए हुए शब्दों को अपनी तोतली वाणी में दुहराते, उसकी अंगुली पकड़कर ठुमक-ठुमककर चलने की चेष्टा करते, सिर झुकाकर माँ-बाप को प्रणाम करते। उनकी इन बाल-चेष्टाओं

---

१, सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रमेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः॥ (रघु० २/५५)

२. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥ (रघु० २/५७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को देखकर राजा दिलीप फूले न समाते थे।[१] कालिदास की निरीक्षणदृष्टि बड़ी तीव्र थी। वह किसी भी ढेर में से पहली ही दृष्टि में उसके श्रेष्ठतम अंश को पहचान सकता है। बाल-जीवन की असंख्य लीलाएँ होती हैं। माँ-बाप को तो वे सभी प्यारी, मोहक ही लगती हैं। पर विश्लेषण करके देखा जाये तो वे केवल तीन ही श्रेणियों में आ जाती हैं। सुनीसुनाई ध्वनियों का तुतलाहट के साथ पुनरुत्पादन करना, स्वयं चलने की चेष्टा करना तथा माता-पिता के द्वारा सिखायी गयी शिक्षा का प्रदर्शन करना। बालक के माता-पिता जब बच्चे को तुतलाकर बोलने की चेष्टा करते हुए सुनते हैं, अथवा उसे घुटनों के बल वा सहारा लेकर चलने की चेष्टा करते हुए देखते हैं अथवा माता-पिता के द्वारा सिखाये गये 'नमस्कार', 'जयहिन्द', 'नमस्ते', 'टाटा', 'गुडमौर्निङ्ग' आदि की चेष्टाओं को दुहराते हुए देखते हैं तो उन्हें असीम आनन्द की अनुभूति होती है। उनका हृदय आनन्द से हिलोर लेने लगता है। सूक्ष्मदर्शी एवं मानव स्वभाव के परम पारखी कवि ने बाललीलाओं के दीर्घ वर्णन में न पड़कर उसके बालजीवन की तीन चेष्टाओं की ओर संकेत करके ही गागर में सागर भर दिया है। सूरदास जी ने सैकड़ों पद्यों में श्री कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन करके बाललीला के माधुर्य का जो सरस आभास कराया है वही कालिदास ने केवल एक पद्य से कर दिखाया। बोलने, चलने तथा चेष्टा करने से सम्बन्धित कैसी एक लीला और कैसी सैकड़ों लीलाएँ!

इतने दिनों की दीर्घ तपस्या, साधना और उत्कट अभिलाषा के बाद ऐसे तेजस्वी पुत्र को पाकर दिलीप को जिस आनन्द की अनुभूति हुई होगी वह तो अनिर्वचनीय ही होगा। महाकवि ने भी उसे अनिर्वचनीय ही रखकर केवल मात्र सहृदय पाठकों की अनुभूति के लिए छोड़ दिया है। हो भी क्यों नहीं, जब राजा दिलीप अपने शिशु-पुत्र को गोदी में लेते तो उसके स्पर्श से आनन्द-विभोर हो उठते। उन्हें ऐसा लगता जैसे कि उनके शरीर पर अमृत की फुहार बरस रही हो। वे आँखें बन्दकर उस अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाते।[२] महाकवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से दिलीप के हृदयस्थ वात्सल्य का ऐसा जीवन्त निरूपण कर दिया जैसे कि स्वयं उसके हृदय में पैठकर उसकी अनुभूति को ही

---

१. उवाच धात्र्या प्रथमेदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥ (रघु० ३/२५)

२. तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ। (रघु० ३/२५)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अभिव्यक्ति दे दी हो।

**शौर्य**

अश्व-संरक्षण के प्रसङ्ग में वीर रघु ने इन्द्र को जो चुनौती दी है उसे सुनकर तो एक बार हमारे हृदय में भी दीप्ति का संचार हो जाता है। हमारा मस्तक गौरव से उन्नत हो उठता है जब हम देखते हैं कि एक मानव कुमार निर्भय रूप से हँसते हुए इन्द्र को ललकारकर कह रहा है— 'पुरंदर ! यदि आपने निश्चय कर लिया है कि आप अश्वमेध के घोड़े को वापस नहीं देंगे तो शस्त्र उठाइए और युद्ध के लिए तैयार हो जाइए। रघु को पराजित किए बिना आप उसका घोड़ा ले जायें यह सम्भव नहीं हो सकता।[1] वीर पृथ्वी-पुत्र की वाणी से कितनी शक्ति, कितना ओज और कितना स्वाभिमान टपक रहा है। जरा कवि के 'पुरन्दर' शब्द के प्रयोग पर तो ध्यान दीजिए, वीर रघु किससे बातें कर रहा है, किसको ललकार रहा है। इन्द्र की महत्तम विनाशक शक्ति का ही परिचायक तो है न 'पुरन्दर' शब्द। पर आज एक मनु-पुत्र उसकी उस शक्ति को भी चुनौती दे रहा है।

**भावों का संश्लिष्ट चित्रण**

राज्यारोहण के उपरान्त रघु के चढ़ते हुए प्रताप का वर्णन कवि ने जिस ओज और उत्साह के साथ किया है वह भी हमारे मन पर एक गहरी छाप छोड़ जाता है।[2] शरद् वर्णन के बहाने बड़ी सुन्दर एवं संश्लिष्ट शैली में रघु के तेज, गौरव, लोक-प्रियता एवं राष्ट्रीय समृद्धि का मनोरम चित्र खींच दिया है। एक नमूना देखिए—शरद में धान की फसल पक चुकी है, कृषक बालाएँ समीपस्थ खेत में लगे हुए ऊँचे-ऊँचे ईख की छाया में बैठकर उनकी रखवाली करती हैं। और प्रजापालक महाराज रघु की बचपन से लेकर अब तक के क्रियाकलापों से सम्बद्ध कथाओं को मधुर गीतों की पंक्तियाँ बाँधकर बड़े अनुराग से गाती रहती हैं।[3] देखिए कैसा संश्लिष्ट चित्र है। शरद् वर्णन भी हो गया, शस्य की समृद्धि का भी आभास मिल गया। रघु के कार्यों की लोकप्रियता भी प्रकट हो गयी और इसी से प्रकट हो गया देश की सुख,

---

१. ततः प्रहस्यापभयः पुरंदरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्॥ (रघु० ३/५१)

२. द्रष्टव्य, रघु० ४/१–२५

३. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः। (रघु० ४/२०)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



शान्ति और समृद्धि का भी रूप।

**स्थानीय रञ्जन के साथ भाव-चित्रण**

रघु के दिग्विजय वर्णन में तो मानों एक-एक पद्य स्वयं में एक-एक नगीना है। प्रत्येक की अपनी अलग चमक और अलग रंग। देश के प्रत्येक भाग का निराला ही रूप है, और निराला ही रंग। कालिदास ने उनके ऐसे जीवन्त शब्द-चित्र खींचे हैं कि मानस-पटल पर अङ्कित हुए बिना नहीं रह सकते।

दिग्विजयी रघु विशालवाहिनी को लेकर वंग देश में पहुँचा तो उन्होंने जल युद्ध में रघु का सामना किया, टिक नहीं सके, झुकना पड़ा, पर रघु ने भी उन्हें परास्त करके, अपनी अधीनता स्वीकार कराकर पुनः उन्हीं के पदों पर प्रतिष्ठापित कर दिया। रघु के इस व्यवहार का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे खूब अधिक उपहार लेकर रघु के चरणों में उपस्थित हुए। उनकी स्थिति एवं व्यवहार को बतलाने के लिए कवि को उसी प्रदेश की धान की खेती का उदाहरण मिल गया। चित्र सम्पूर्ण हो गया।[1] एक छोटे से अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध पद्य में ही रघु की वंग पर विजय, वंग नरेश की पराजय, रघु द्वारा उसे पदभ्रष्ट करके पुनस्थापन, उसके द्वारा रघु को प्रभूत उपहार प्रदान, बंगाल में धान की खेती का बाहुल्य, उसे एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाने से उपज में वृद्धि आदि बहुत सी बातें कह दी गई हैं।

मलयाचल की तराइयों में मिर्च के वनों में रघु के सैनिकों से उद्भ्रान्त हारीत (४।४६), महेन्द्र पर्वत पर रघु के सैनिकों द्वारा पान के पत्तों के दोनों पर ताजे नारियल के जल का पान,[2] रघु के थके हुए घोड़ों द्वारा सिन्धु के तट पर केसर की क्यारियों में लोटनी लेना (४।६७) वंक्षु के तट पर अंगूर की बेलों के कुञ्जों में अंगूरी शराब का पान करके रघु के सैनिकों का युद्ध की थकान मिटाना (४।६५) आदि अनेक चित्र ऐसे हैं जो कि सदा के लिए पाठक के हृदय पर अपना स्थान बना लेते हैं।

---

१. वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान् गंगास्रोतोऽन्तरेषु सः॥ (रघु० ४।३६)
आपादपद्मप्रणता कलभा इव ते रघुम्।
फलैः संम्वर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ (रघु० ४।३७)

२. ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥ (रघु० ४।४२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**बिम्बग्राही भाव-चित्रण**

'रघुवंश' का पञ्चम सर्ग तो भावचित्रों से भरा पड़ा है। प्रारम्भ में ही रघु-कौत्स का समस्त प्रकरण मन को एक अलौकिक भाव-जगत् का दर्शन कराकर मुग्ध कर डालता है। रेवा तट पर वन्य गज का चित्रण भी कम रमणीय नहीं। पर इसके अन्त में जाकर तो कालिदास की कलम ने कमाल ही कर दिया है। प्रातःकाल के समय कुमार अज को जगाने के लिए चारणों के द्वारा किया स्तुतिगान इतना मनोरम एवं भावपूर्ण है कि सहृदयों ने तो यहाँ तक कह डाला कि पद्य स्वयं वाग्देवी सरस्वती की रचना हैं। वस्तुतः यहाँ पर कवि ने भाव-सौन्दर्य की जो सृष्टि की है वह अनोखी है। महाकवि माघ ने प्रभात-वर्णन में शिशुपालवध का एक पूरा सर्ग ६७ पद्यों के साथ समाप्त कर दिया। पर फिर भी प्रभात का वह मधुर एवं बिम्बग्राही चित्रण उपस्थित नहीं कर सका जोकि कालिदास ने इन ५ श्लोकों में कर दिखाया है। विस्तारभय का भूत सिर पर सवार होने पर भी हम उस सौन्दर्य–राशि को यहाँ उपस्थित करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकते। वन्दिगण कहने लगे :

रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्त्वव विभर्ति गुरुर्विनिद्र–
स्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी॥ (रघु० ५।६६)

(परमधीमन्! रात बीत गयी है; अब शय्या छोड़िए। ब्रह्मा ने इस समस्त पृथ्वी का भार दो भागों में विभक्त किया है। उसे एक तो तुम्हारे जागरूक पिता सम्भाले हुए हैं और दूसरी ओर का भार आप पर टिका हुआ है।)

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥ (रघु० ५।६७)

(देखो, तुम्हें निद्रारूपी नायिका के वश में हुआ देखकर तुम्हारे मुख की सौन्दर्यलक्ष्मी खण्डिता-नायिका की भाँति रूठकर तुम्हारे मुख की सी शोभा धारण करने वाले चाँद को देख-देखकर रात बिताती रही। पर अब तो वह चाँद भी डूबने को तैयार है, अतः जागिए और बेसहारा होती हुई मुखशोभा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को सहारा दीजिए। )

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्
सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त—
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ (रघु ५।६८)

(आपकी वन्द पलकों के भीतर आँखों की पुतलियाँ गतिमान् हो रही हैं और कमलकोषों के भीतर वन्द पड़े भौरें भी गतिशील हो उठे हैं । सूर्य उदित होने वाला है । अतः इस समय आप अपने नेत्र खोलें तो आपके नेत्रों की शोभा कमल सी और कमलों की शोभा आपके नेत्रों सी हो जायेगी ।)

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु—
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे,
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ (रघु० ५।७०)

वृक्षों के लाल-लाल पल्लवों पर गिरे हुए ये मोती से निर्मल ओस के कण ऐसे ही मोहक लग रहे हैं जैसे कि तुम्हारी मधुर मुस्कान के समय तुम्हारे आरक्त होठों पर पड़ने वाली तुम्हारी दन्तपंक्ति की आभा सुन्दर लगती है ।)

भवति विरलभक्तिम्लनिपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक् पञ्जरस्थः ॥ (रघु० ५।७४)

(रात की सजावट की माला के फूल कुम्हला जाने से विरल हो गये हैं। प्रातः काल का प्रकाश फैल जाने के कारण अब शयनागार के दीपों का प्रकाश भी निस्तेज हुआ जा रहा है । यह पिंजड़े में बैठा हुआ मधुरभाषी सुग्गा हमारी उस विरुदावलि को दुहरा रहा है जोकि हम वन्दीजन आपको जगाने के लिए कर रहे हैं।)

यह वर्णन स्वयं में कितना भावपूर्ण है इसे बतलाने की शायद आवश्यकता नहीं । इसके शब्द-सौन्दर्य का आनन्द तो केवल मूल रूप में ही लिया जा सकता है । अनुवाद में तो वह आ ही नहीं सकता । अनुवाद में तो भाव भी सम्पूर्ण रूप से नहीं आ सकता फिर भाषासौष्ठव तो आ ही कैसे सकता है ?

इन्दुमती—स्वयंवर-वर्णन में तो कालिदास ने भावचित्रों की झड़ी लगा दी है । एक सधे हुए कलाकार की भाँति उसकी लेखनी-तूलिका जिधर को उठी है, उधर ही एक नवीन चित्र की सृष्टि कर डाली है । एक से एक बढ़कर और

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



एक से एक सुन्दर। यह एक ऐसी एल्वम है जिसमें प्रत्येक चित्र अपनी पृष्ठ-भूमि के साथ चमक उठता है।[1]

अज-दर्शनोत्सुक विदर्भ नारियों के चित्रण तथा अज-राजन्य-युद्ध के प्रसंग में भी कुछ सुन्दर भावचित्र कवि की लेखनी से उभरे हैं।[2] ग्रन्थविस्तारभय से उन पर विचार कर सकना यहाँ सम्भव नहीं।

**कारुण्य का चित्रण**

भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से इसके बाद सबसे अधिक हृदय को प्रभावित करने वाला चित्रण है अष्टम सर्ग का अज-विलाप। व्यञ्जना के आचार्य कवि ने वास्तविक विरह और शोक की स्थिति सामने लाने से पूर्व ही पाठकों को उसका सुन्दर आभास करा दिया है। 'वेगवान् मरुत' के द्वारा नारद की वीणा के सिरे से स्वर्गीय पुष्पों की माला के हरण के बाद भी फूलों पर लगे हुए भौरों की पंक्ति को सुगन्धि के कारण वीणा के आस-पास मँडराते देखकर उनकी वीणा के काजल मिली हुई अश्रुधारा के रूप में उत्प्रेक्षा करने का भाव बड़ा ही बिम्बग्राही है।[3]

इन्दुमती को गोद में रखकर अज ने अधीरतापूर्वक गद्‌गद् कण्ठ जो विलाप किया वह संस्कृत साहित्य में अपूर्व है। समस्त संस्कृत-साहित्य में पुरुष के प्रणय को इससे अधिक भावुक अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी है।

---

१. द्रष्टव्य रघु० सर्ग ६।२४, २६, २८, २९, ३२, ३५, ४३, ४८, ५०—५२, ५५, ६०, ६३, ६४, ६५, ६७, ६९, ७५, ८१, ८२, ८५। दो एक उक्तियाँ देखिए—

(i) पाण्डय नरेश के परिवेश में —

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥

(ii) दिलीप के शासन का गौरव—

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥

(iii) अज के सौन्दर्य पर रीझी हुई एवं भाव विभोर इन्दुमती से सखी सुनन्दा का प्रणय भरा परिहास—

तथा गतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदावभाषे।
आर्ये व्रजामोऽन्यतइत्यथैनां वधूरसूया कुटिलं ददर्श॥

२. द्रष्टव्य—रघु० ७।५—१५; ३५—७०

३. भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती वाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥ (रघु० ८।३५)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कालिदास के कथानायक रघुवंश के जीवन में 'अज' को ही उसने प्रणय के आदर्श प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ आलोचकों को 'अज-विलाप' 'रति-विलाप' तुलना में हीन लगता है। उनकी दृष्टि में पुरुषपात्र में ऐसी मानसिक दुर्बलता दिखलाकर कालिदास ने उचित नहीं किया है। इसलिए अज के प्रति उनकी सहानुभूति भी पूरी तरह जागृत नहीं हो सकी है।[1] पता नहीं ऐसे लोग प्रणय को तथा पुरुष हृदय को क्या समझते हैं? जब आपको सामान्य जगत् में कालिदास का रघु नहीं मिल सकता, दिलीप नहीं मिल सकता, इन्दुमती नहीं मिल सकती, पुरुरवा नहीं मिल सकता, शकुन्तला नहीं मिल सकती, पार्वती नहीं मिल सकती, यक्ष नहीं मिल सकता तो फिर अज को ही ढूंढने का प्रयत्न क्यों करते हैं? समझ लीजिए, अज पुरुष प्रेम की उच्चतम भावना है जिसे कि कालिदास प्रस्तुत कर सका है। ऐसा प्रेमी न कोई और हुआ है और न कोई होगा ही। संसार के प्रणयी पुरुष उस दूरस्थ सीमा रेखा की ओर सदा सतृष्ण नेत्रों से देखते रहेंगे और उसे पाने के लिए कदम बढ़ाते रहेंगे। लगता है कालिदास को आने वाले व्यवसायी युग के लोगों की यह आपत्ति दीख रही थी। इसीलिए अज के भाव विभोर होकर रुदन करने की बात के साथ ही उसने कह दिया कि अत्यधिक तपाये जाने पर तो लोहा भी पिघल उठता है फिर यह तो धड़कनशील मानव हृदय है, वह क्यों न पिघलेगा।[2] लौह युग के लोगों के लिए इससे बढ़िया उदाहरण और हो भी क्या सकता था?

इसके बाद तो अज की भावनाओं में जो उफान आया है वह सहृदय पाठक के हृदय को निरन्तर डुबाता जाता है। बस यही कहने को जी करता है—

---

1. "It is fine poetry, but it suffers by comparison with the corresponding Rati Vilapa in Kum. IV. It is more natural in a woman, as being the weaker sex, to indulge in lemantation, while when a man grieves in is a sign of weakness which does not enlist our sympathy so much : the poet has, therefore, better succeeded in portraying a lemanting Rati". (M. R. Kale Intro. to his ed. of रघु० P. xxxii.

२. विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥ (रघु० ८।४३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



'अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग'। हृदय हाहाकार कर उठता है।[1]

कितना भावुक था अज का प्रणयी हृदय! कितनी हृदयस्पर्शी वेदना टपकती है उनके इन शब्दों से! मृत प्रेयसी के दाह-संस्कार का स्मरण आते ही सिहर उठती है उनकी आत्मा इस विचार-मात्र से ही कि उस कुसुमाङ्गी इन्दुमती का शरीर जो कि कोमल पल्लवों के बिछौने पर भी दुखने लगता था कठोर काष्ठ की चिता पर कैसे लेट सकेगा।[2] प्रणय का उन्माद ऐसा ही होता है। इसे ही कहते हैं प्यार। जो विवेकहीन न बना दे, वह प्यार कैसा?

एक और कोमल भाव देखिए। अज की दृष्टि जब सामने ही उस अशोक वृक्ष पर जाती है जिसका कि रानी इन्दुमती ने अपने वामपाद के आघात से दोहद सम्पन्न किया था तो उसका शोक और उमड़ पड़ता है। वह भाव-विह्वल हो उठता है। ठीक भी है, इस अशोक के जिन फूलों से वह प्रिया के अलकों को अलकृत करता उन्हें अब वह उसके तर्पण के जल के साथ कैसे रखेगा।[3] क्या उसकी आँखें इस दृश्य को देख सकेंगी? क्या इसे देखकर उसका हृदय विदीर्ण न हो जायेगा? वाह री विधि विडम्बना!

ठीक ही है आज से प्रणयी-अज के जीवन से धैर्य, आनन्द, संगीत, उत्सव, अलंकरण, शयन सब कुछ समाप्त हो गया। क्योंकि निर्दयी मृत्यु ने उससे उसकी गृहिणी, सलाहकार, सखी, प्रियशिष्या सभी को छीन लिया।[4] ऐसे बदकिस्मत कौशलनरेश को प्रिया के आत्यन्तिक वियोग में अपने हृदय के

---

१. कुसुमान्यऽपि गात्रसंगमात् प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यता विधेः॥ (रघु० ८।४४)
स्वगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥ (रघु० ८।४६)
अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता॥ (रघु० ८।४७)

२. नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्॥ (रघु० ८।५७)

३. कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलमाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम्॥ (रघु० ८।६२)

४. धृतिरस्तमिता रतिच्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥ (रघु० ८।६६)
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ (रघु० ८।६७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



टुकड़ों को पागलों की तरह से इधर-उधर बिखेरते देखकर यदि उपवन के वृक्ष भी आँसू बहाने लगें तो आश्चर्य भी क्या ?[1] विधाता ने अज के साथ बड़ा ही क्रूर खिलवाड़ किया। वह या तो उसे ऐसा प्रणयी हृदय ही न देता या उसके भाग्य में यह अप्रत्याशित अनभ्र वज्रपात ही न लिखता। फिर भी यदि आज का आलोचक उसके साथ सहानुभूति प्रकट नहीं कर सकता तो इसे उसका जन्मान्तर का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। ऐसे हृदयहीन आलोचकों से तो साकेत की वे नारियाँ ही अधिक प्रशंसनीय हैं जोकि प्रेयसी वियोग के कारण प्रातःकालीन चन्द्रमा के समान कान्तिहीन अज को देखकर इस कदर रोई थीं कि आँसुओं के नाले बह चले थे।[2] धन्य है महाकवि की लेखनी को जिसने इतने विक्षिप्त करने वाले शोक और सन्ताप के के बीच में भी इस प्रणयी पुरुष की आँसुओं से गीली कहानी को लिख दिया। शायद ऐसे ही व्यक्तियों को सामने रखकर तो भवभूति ने कहा होगा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

**दार्शनिक भाव-चित्रण**

इसके बाद तो इस सर्ग के अन्त में कवि ने दार्शनिक भावों की जो गूढ व्यञ्जना कराई है उसके बारे में तो यही कहना उचित होगा—'अरथ अमित अति आखर थोरे'। जीवन और मृत्यु के समस्त रहस्य को कवि ने केवल प्रकृति और विकृति इन दो शब्दों में बाँधकर रख दिया है। गुरु वशिष्ठ का संदेशवाहक शिष्य कहता है— विद्वानों का कहना है कि इस सृष्टि में जिसने यह पञ्चभौतिक चोला पाया है उसको यह छोड़ना तो निश्चित ही है। यही स्वाभाविक रूप भी है। उस प्रकृति का विकार तो है जीवित रहना। इसलिए प्राणी जितने क्षण भी जी जाये उसे ही उसे जीवन का लाभ समझना चाहिए।'[3] शोकसन्तप्त मानव को शायद इससे बढ़कर सान्त्वना और श्रेय का उपदेश नहीं दिया गया।

---

१. विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान्॥ (रघु० ८।७०)

२. स विसेश पुरीं तया विना क्षणदापा यश शाङ्कदर्शनः।
परिवाहमिवावलोकयन् स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु॥ (रघु० ८।७४)

३. मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदिजन्तुर्ननु लाभवानसौ॥ (रघु० ८।८७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**भाव–संघर्ष**

आदर्शवादी महाकवि ने यहाँ पर फिर एक बार प्रेम और कर्तव्य का तुमुल संघर्ष दिखाया है। वह जानता है कि शोक सन्तप्त अनुरागी हृदय पर उपदेश का असर नहीं हो सकता। उसने इसे साफ शब्दों में कह भी दिया कि उसने गुरु वशिष्ठ के शिष्य के साथ ही उनके उपदेश को लौटा दिया।[1] पर इतने से ही वह जैसा चाहे वैसा करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हो जाता। वह मरना चाहकर भी मर नहीं सकता, क्योंकि कर्त्तव्य की ऐसी ही माँग है। वह प्रेमी ही नहीं राजा भी है और है पिता भी। राजा की असली पत्नी तो पृथ्वी है, कर्त्तव्य की पुकार है कि वह उसकी रक्षा करे, साथ ही एक पिता के नाते कर्त्तव्य की यह भी माँग है कि वह उस शिशु की तब तक रक्षा-दीक्षा करे जब तक कि वह राज्य-व्यवस्था को चलाने में कुशल तथा उसके भार को सहन करने में समक्ष न हो जाए। इस संघर्ष में 'व्यष्टि' के लाभ के समक्ष 'समष्टि' के लाभ की जीत हुई। 'प्रियानुगमन' के लिए 'त्वर-माण' होने पर भी उसे कर्त्तव्य की पुकार पर किसी प्रकार आठ वर्ष तक प्रणय की धूनी रमाते हुए 'जीवन का लाभ' चाहे अनचाहे उठाना ही पड़ा और फिर कर्त्तव्य की समाप्ति पर 'प्रायोपवेशन' के द्वारा अपनी कान्ता के पास नन्दनवन के 'लीलागारों' में जा रमा।[2] समस्त प्रकरण में विचारों की प्रौढ़ता एवं भावनाओं की परिपक्वता दर्शनीय है।

प्रेम और कर्तव्य की यही कहानी दुहराई गयी है रघु के चौदहवें सर्ग में भी। नाटककार भवभूति के समान ही महाकवि ने सीता परित्याग के महाविस्फोट को अधिकतम तीव्रता प्रदान करने के लिए पहले सीता और राम के जीवन की मधुर झाँकी उपस्थित की। एक दूसरे के प्रति अगाध स्नेह और विश्वास का भाव दिखलाया।[3] और ठीक इसके बाद ही 'कलत्रनिन्दा' का वह क्रूर सन्देश सुनवाया जिसके आघात से वैदेही को प्राण समान प्यार करने वाले राम का हृदय ऐसे ही टुकड़े-टुकड़े हो गया जैसे कि भारी घन की चोट से तपा

---

१. स तथेति विनेतुरुदारगतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम्।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः॥ (रघु० ८।९१)

२. द्रष्टव्य—रघु० सर्ग ८

३. द्रष्टव्य—रघु० सर्ग १४/२५–२७॥
तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विहस्यमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥ (रघु०१४/२७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



हुआ लोहा फट जाता है।[1] 'वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे' में तो कवि ने भावाभिव्यक्ति एवं शब्दप्रयोग में कमाल कर दिया है। 'विदद्रे' में तो 'दर दर' के शब्द के साथ हृदय के फटने की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देने लगती है। बस, राम के हृदय में प्रेम और कर्त्तव्य की ऐसी खींचातानी मची कि वह झूले की तरह इधर से धक्का खाकर उधर जाता और उधर से इधर आता। एक ओर भयंकर बदनामी थी और दूसरी ओर निर्दोष पत्नी का क्रूर परित्याग।[2] अन्त में प्रजा-रंजन के कर्त्तव्य का पलड़ा भारी हो गया और मर्यादापुरुषोत्तम ने निर्दोष प्रिया का त्याग करके भी मर्यादा का पालन किया।[3]

**उदात्त भाव का चित्रण**

नवम सर्ग के प्रारम्भ में कालिदास ने दशरथ का जो महामहिम चरित्र अंकित किया है उसे पढ़कर आज भी हमारा हृदय फड़क उठता है और हमारा मस्तक गौरव से ऊँचा हो जाता है।[4] कितनी मनस्वी थे हमारे वे पूर्वज जिन्होंने कभी दीनभाव से इन्द्र तक को सिर नहीं झुकाया। कितना महान् था उनका चरित्र कि हँसी में भी कभी झूठ नहीं बोला और व्यक्तित्त्व ऐसा कि कभी शत्रु के लिए भी मुख से कठोर शब्द नहीं निकाला।[5] ऐसे ही मान-धनी के लिए तो कविवर तुलसीदास ने भी 'प्राण जाय पर वचन न जाई' कहा था।

**चित्रात्मक भाव-चित्रण**

इसी सर्ग में महाकवि ने वसन्तावतार का जो रूप चित्रित किया है वह बड़ा ही भावपूर्ण एवं लुभावना है।[6] एक ही पद्य में वसन्त के समस्त रूप संभार का इस खूबी के साथ अवतरण करा दिया है कि देखते ही बनता है। चित्रपट पर विद्युद्योग से प्रकट होने वाले चित्र की भाँति वनस्थली में लता-

---

१. कलङ्कनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्ति विपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥ (रघु०१४/३३)

२. किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत सन्त्यजामि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः॥ (रघु०१४/३४)

३. निश्चित्यचानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्या परिमाष्टुमिच्छत्।
अपिस्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः॥ (रघु०१४/३५)

४. द्रष्टव्य—रघु० ९/१-२३

५. न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथापरिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥ (रघु०९/८)

६. द्रष्टव्य—रघु० ९/२३-४८॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वृक्षों पर फूल खिले, नई कोपलें फूटीं, भौंरे गूँजे और कोयलें कूजने लगीं। बस एकत्रित हो गया नववसन्त का संभार।[1] एक के बाद एक रंग को गूढ़ा करता गया, चित्र चमक उठा। और तो और लता-नायिकाएँ भी इस मादक वातावरण से उन्मादिनी होकर मधुर गुञ्जन से गुनगुना उठीं, मुस्करा उठीं और तरह-तरह की भावाभिव्यक्ति में लीन हो गयीं।[2] यहाँ पर कवि ने लता में नायिका का आरोप करके जो मधुर व्यञ्जना की है वह दर्शनीय है।

**प्रेम और आत्मोत्सर्ग की अपूर्व भावना**

इसके बाद मृगयाविनोदी दशरथ का अहेरी रूप कवि ने चुने हुए शब्दों एवं भावों में चित्रित किया है। इसका भी एक मधुरतम भाव देखिए—राजा दशरथ ने एक काले मृग पर अपना लक्ष्य साधा, पर अगले ही क्षण देखा कि उसकी स्नेहकातरा मृगी स्वयं बाण का लक्ष्य बनकर मृग को बचाने के लिए मृग और उनके बाण के बीच में आकर खड़ी हो गयी है। इसे देखकर प्रेमी दशरथ का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने बाण उतार लिया।[3]

कितनी हृदयस्पर्शी है प्रिय के लिए आत्मत्याग की यह उदात्त भावना! आज के युग में जब हम सभ्य कहलाने वाले मानवों में पति-पत्नी के बीच कर्त्तव्य और अधिकारों की खींचातानी में स्वार्थ का नंगा नाच देखते हैं और उधर पशु जीवन में भी आत्मबलिदान की यह भावना देखते हैं तो हमारा सिर लज्जा से झुक जाता है।

**विविध भाव-चित्रण**

श्रवणकुमार-वध प्रसंग में महाराज दशरथ की वह उक्ति कितनी मार्मिक है जिसमें कि वे श्रवण के माता-पिता द्वारा अभिशप्त होने पर कहते हैं—मुनिवर! आपने पुत्रवियोग में मृत्यु का शाप देकर मेरे ऊपर अनुकम्पा ही की है क्योंकि कम से कम इस शाप की सफलता के बहाने ही सही, मुझे पुत्र का मुख देखने का तो अवसर मिलेगा। सच है जंगल की आग भूमि को जलाती

---

१. कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुद्रुमवतीमवीर्यं वनस्थलीम्।। (रघु० ९/२६)

२. श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः।। (रघु० ९/३५)

३. लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्यस्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्षकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार।।
(रघु० ९/५७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



जरूर है पर ऐसा करके वह उसे और अधिक उपजाऊ बना डालती है।[1]

इसके बाद दशम सर्ग में कालिदास ने दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक भावों की जो त्रिवेणी बहाई है वह स्वयं में इतनी वेगवती है कि उसके प्रवाह में कालिदास पर किया गया कोरी शृङ्गारिकता का सारा आक्षेप बह जाता है।[2]

ग्यारहवें सर्ग में राम-परशुराम-संवाद के बाद राम के बढ़ते हुए एवं परशुराम के घटते हुए तेज का निरूपण भी बहुत सुन्दर ढंग से हुआ है। दोनों ही तेजःस्वरूप हैं पर समय का प्रभाव कि कभी कोई घटता एवं बढ़ता है तो कभी कोई। इस समय वे दोनों संध्याकालीन सूर्य और चन्द्र की तरह लग रहे थे। परशुराम जी यद्यपि सूर्य के समान तेजस्वी थे पर अब राम के तेज के उदय का अवसर था, अतः वह मन्द पड़ गया।[3] यहाँ पर परशुराम जी की उक्तियों में कठोर भावों की भी व्यञ्जना अच्छी हुई है। यद्यपि भाषा उतनी कठोर नहीं हो पाई है जितनी कठोर कि भावशृंखला। राम-रावण-युद्ध में भी जब रावण यह कहकर घर से निकलता है कि 'आज संसार में या तो राम नहीं रहेगा या रावण नहीं रहेगा' तो उसमें उसके हृदय के दर्प और उत्साह की स्पष्ट अभिव्यक्ति देखी जाती है।[4]

**वियोग और शृङ्गार**

तेरहवाँ सर्ग तो पुनः भाव-सौन्दर्य का भण्डार है। राम की वाणी से भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य के तथा अपने वन्य जीवन के अनेक अविस्मरणीय भावचित्र इस सर्ग में उभरे हैं। दो-एक चित्र देखिये— राम जानकीजी को विमान से एक स्थान का संकेत करते हुए कहते हैं 'प्रिये! देखो यह वही स्थान है जहाँ पर तुम्हें खोजते हुए मैंने भूमि पर खड़ा हुआ तुम्हारा एक नूपुर देखा था जोकि मानों कि तुम्हारे चरणारविन्द से विमुक्त होने के दुःख

---

१ शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पतितोऽयम्।
कृष्यां दन्नपि खल क्षितिमिन्धनेद्धो बीज प्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥
(रघु० ९।८०)

२. द्रष्टव्य-रघु० सर्ग १०।१६—३२

३. तावुभावपि परस्परहरस्थितौ वर्धमान परिहीनतेजसौ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव॥
(रघु० ११।८२)

४. निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात्।
अ[illegible]वणमरा[illegible] वा जगदद्येति निश्चितः॥ (रघु० १२।८३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



के कारण ही मौन पड़ा हुआ था।"[1] विरह संतप्त हृदय कैसी करुण वेदना टपक रही है राम के इस कथन से!

इसके बाद सीता-वियोग राम की दयनीय दशा का एक दयनीय चित्र है जोकि लक्ष्मण की ही भाँति सहृदय पाठक को साश्रु करने की सामर्थ्य रखता है। वियोगी राम जब विरहोन्माद में गुच्छों वाली अशोकलता को ही सीता-बुद्धि से आलिंगन करने को उद्यत हो गये तो लक्ष्मण को उनके पागलपन को देखकर रोना आ गया था।[2]

पर साथ ही राम को अपने पञ्चवटी-जीवन के वे दिन भी नहीं भूले हैं जबकि वे शिकार से थककर आते थे और एकान्त बेतसकुञ्ज में सीता जी की गोद में सिर रखकर सो जाते थे। सीताजी की स्नेहभरी गोद और गोदावरी की शीतल वायु थोड़ी ही देर में उनकी सारी थकान को दूर कर डालती थीं।[3] दाम्पत्य स्नेह और विश्वास की कैसी मधुर झाँकी उपस्थित की है कवि ने यहाँ राम के संस्मरण में! ऐसे ही त्रिवेणी संगम का सौन्दर्य-चित्रण एवं भरत मिलाप की भावविभोरता भी दर्शनीय है।[4]

**प्रेम और कर्त्तव्य**

चतुर्दश सर्ग में कालिदास ने रघुवंश के पिछले तीन सर्गों की भावव्यञ्जना की कमी को पूरा कर दिया है। सीता-परित्याग के प्रश्न पर राम के हृदय में जो संघर्ष उत्पन्न हुआ है और राम के कर्त्तव्यभार से दबे हुए हृदय से करुण भावना का जो प्रवाह प्रवाहित हुआ है वह कालिदास के सहृदय पाठक के हृदय को भी आप्लावित किये बिना नहीं रहता। कितनी व्यथा व्यक्त होती है राम के इन शब्दों में:

**अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे।**

\+ \+ \+ \+

---

१. सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥ (रघु० १३।२३)

२. इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रु रहं निषिद्धः॥ (रघु० १३।३२)

३. अङ्कानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्ध्नां स्मरामि वानीर गृहेषु सुप्तः॥ (रघु० १३।३५)

४. द्रष्टव्य-सर्ग १३।५४—५७, ७०—७३ और ७८।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीय।**
**यद्याथिता निर्वृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः॥**
(रघु० १४।४२)

राम राजा पहले थे पिता, पुत्र या पति बाद में। रामराज्य में अथक प्रजातंत्र में शासक प्रजा के सन्देह को केवल यह कहकर नहीं टाल सकता कि उसे उक्त बात पर कोई विश्वास नहीं। यदि शासक की ही मर्जी पर व्यवस्था चले तो फिर रामराज्य में और तानाशाही में क्या अन्तर रह जायेगा? समस्त प्रजा अपने नायक के किसी क्रियाकलाप पर युग के अनुरूप आपत्ति करती है तो प्रजातांत्रिक पद्धति पर विश्वास करने वाले नेता को प्रजा का विश्वास प्राप्त करने के लिए उसकी इच्छा का पालन करना पड़ेगा। कुछ अज्ञानी लोगों ने धोबी के साथ इस कथा को जोड़ दिया है जोकि निरा प्रमाद है। कालिदास स्पष्ट लिखते हैं—**पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तम्**—इत्यादि। राम का यह कार्य सारी जनता की चर्चा का विषय बन चुका था। इसे जबरदस्ती दबाने का मतलब होता निरंकुशता। राम ने हृदय पर पत्थर रखकर 'निष्पाप' पत्नी को घर से निर्वासित कर दिया। उसकी दशा का वृत्तान्त सुनकर सहज धैर्य का बाँध तोड़कर टपाटप आँसू बहाते रहे[1]। अश्वमेध यज्ञ के लिए दूसरा विवाह नहीं किया[2] पर निरंकुशता का परिचय नहीं दिया।

सीता के सन्देश में जिस तेजोदीप्त वाणी का परिचय कालिदास ने दिया है वह विश्वसाहित्य में अद्भुत है। नारी का ऐसा दीप्त और उदार रूप कालिदास के सिवा और कोई कवि आज तक प्रस्तुत नहीं कर सका है।[3]

**चारित्रिक दृढ़ता**

भाव-चित्रण की दृष्टि से पञ्चदश सर्ग में सीता का पृथ्वी में समावेश हृदय को झकझोर सा जाता है। पर इस सर्ग के भाव-अंकन की समस्त कमी को सोलहवें सर्ग में कुश और अयोध्या की राज्यलक्ष्मी के सम्वाद में तथा कुश की जलक्रीडा के वर्णन में पूरा कर दिया है। प्रसंग के प्रारम्भ में ही कुश अर्धरात्रि के समय अपने शयनकक्ष में एक युवती को देखता है तो वह उससे

---

१. बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥ (रघु० १४।८४)

२. रघु १४/८७

३. रघु० १४/६१—६६

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पूछता है---हे कल्याणि ! तुम कौन हो, किसकी पत्नी हो और मेरे पास किस लिए आई हो ? तुम यह समझकर मुँह खोलना कि रघुवंशियों का मन कभी पराई स्त्री की ओर आकृष्ट नहीं होता ।[1] और इसके बाद अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी ने अयोध्या की जिस दीन-हीन दशा का चित्रण किया है वह बड़ा ही चित्ताद्रावक है ।[2] जलक्रीडा वर्णन में तो कवि ने सरयू की तरंगों के साथ शृंगार की भी तरंगें उठा दी हैं ।[3]

इसके बाद दो सर्ग यद्यपि कथावृत्त को ही आगे बढ़ाने में अधिक सचेष्ट दिखाई देते हैं पर बीच-२ में कुछ लघु भावचित्र भी उभर आए हैं । अतिथि और सुदर्शन के प्रसंगों में इनकी योजना सुन्दर हुई है । भावचित्रों की कमी अग्निवर्ण में भी नहीं । शृंगारिक भावों का बड़ा गूढ़ एवं मधुर चित्रण इस सर्ग में खुलकर हुआ है यद्यपि अन्त में इसका रूप बदल जाता है ।

## उपसंहार

कहने का अभिप्राय यह कि रघुवंश में आदि से अन्त तक भावव्यञ्जना की वह विविधता एवं मार्मिकता महाकवि ने संयोजित कर डाली है कि पाठक जैसे एक ओर कथाचक्र के रथ में बैठकर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में प्रवेश करता जाता है वैसे ही उसके सामने निरन्तर बदलते हुए विविध रस-रंगी

---

१. का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा
किं वा मदभ्यागम कारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वनिनां रघूणां
मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति । (रघु० १६/८)

२. निशासुभास्वत् कलनूपुराणां
यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नन्दन्मुखोल्कांचितामिषाभिः
स वाह्यते राजपथः शिवाभिः । (रघु० १६/१२)
स्तम्भेषुयोषित्प्रतियातनाना-
मुत्कान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गा-
न्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ (रघु० १६/१७)

३. रघु० १६/५६—७०

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (१)

# शाकुन्तल : एक साहित्यिक मूल्यांकन

निःसन्देह, पाश्चात्य जगत् ने कालिदास को उनकी अनुपम नाट्यकृति 'शाकुन्तल' के ही द्वारा जाना तथा गेटे, सर मोनियर विलियम शेजी आदि अनेक काव्यरसिकों एवं साहित्यालोचकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की; किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इससे पूर्व भारतीय काव्यरसिकों द्वारा इसका समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाया था। बाहरी विश्व का कालिदास की इस अमूल्य कृति से परिचय होने से सैकड़ों वर्ष पूर्व ही यहाँ के काव्यरसिक तथा साहित्यालोचक "**काव्येषु नाटकं रम्यम् तत्रापि च शकुन्तला०**" तथा च "**कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्**" आदि के द्वारा यह उद्घोषित कर चुके थे कि यद्यपि 'रघुवंश' अद्वितीय है, 'मेघदूत' अभूतपूर्व है, 'विक्रमोर्वशीय' सुन्दर है पर 'शाकुन्तल' अद्वितीय, अभूतपूर्व तथा सुन्दरतम है। यह कालिदास की सम्पूर्ण काव्य-नाट्य कृतियों में श्रेष्ठ है, इसमें उन सभी का निचोड़, उत्कृष्टतम अंश संग्रहीत करके रख दिया गया है। सम्पूर्ण विश्व की ऐसी झाँकी और कहीं इतने कलात्मक रूप से प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। इसकी रचना से कवि को भी स्वयं कुछ ऐसी आत्मिक शान्ति मिली कि उसे इसके बाद कुछ लिखने की लालसा न रही। 'रघुवंश' का 'यशःप्रार्थी' कवि इस रचना के बाद फिर केवल 'नीललोहित' की उपासना में रत होकर पुनर्भव के चक्र से छूटने की ही कामना व्यक्त करता हुआ सुनाई देता है।[1] वर्णाश्रम की व्यवस्था में दृढ़ आस्था रखने वाले कवि की अन्तिम कामना और हो भी क्या सकती

---

१. ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ (शाकु० ७।३५ भरतवाक्य)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



थी ? निश्चित है कि इसके बाद कालिदास ने और कोई रचना नहीं की। कारण कि इसकी रचना में कवि ने अपनी काव्य एवं नाट्य प्रतिभा का जो डान्त निदर्शन किया, इसमें अपनी मानवीय आस्थाओं और विश्वजनीन तथ्यों का जो निबन्धन किया उससे उसे ऐसा आत्मतोष हुआ कि फिर इस संसार में कुछ भी और लिखने की कामना न रही।

शाकुन्तल को 'कालिदास का सर्वस्व' कहने वालों का अभिप्राय यही हो सकता है न ? कि उनकी इस रचना में उनके कवित्व और कलाकारिता के वे सभी अंश अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रतिफलित हुए हैं जिनके लिए कि कवि अपनी अन्य कृतियों में निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। इसमें एक ओर 'भोग, भाग्य और भरोसा' की अद्भुत लीला है तो दूसरी ओर है मानव मन की गहराइयों में छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन तथा प्रकृति की अनिर्वचनीय लीलाओं का विलास।

साहित्यिक दृष्टि से भी शाकुन्तल पर केवल नाटक की दृष्टि से विचार करना संगत न होगा अपितु भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि पर रखकर इसका मूल्यांकन करना होगा, क्योंकि भारतीय नाटककार का लक्ष्य पाश्चात्य नाटककार की भाँति पात्रों की क्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा स्थिति का चित्रण कभी नहीं रहा, उसका ध्येय ही मानसिक भाव-भूमि पर कुछ उदात्त तत्त्वों का निरूपण रहा है। भारतीय काव्य-शास्त्र का जन्म ही नाट्य-विवेचन से हुआ है और उसमें नाटक का चरम-तत्त्व रस स्वीकार किया गया है।[1] आचार्य अभिनव गुप्त का तो यहाँ तक कथन है कि नाटक के अतिरिक्त और किसी प्रकार की काव्य रचना में पूर्णतया रसास्वाद वा काव्यानन्द सम्भव ही नहीं। क्योंकि नाट्य रचना के अतिरिक्त और किसी भी कलाकृति में रसानुभूति के लिए वे समस्त आधार प्राप्त ही नहीं हो सकते जो कि भाव विशेष वा रस विशेष की अनुभूति के लिए आवश्यक हैं। इसलिए उन्होंने नाटक के इस पक्ष पर विचार करते हुए— दर्शक, नाटककार, सूत्रधार (निदेशक) तथा समाज के पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से विचार किया है।[2] हमें यहाँ उन सब पर विचार नहीं करना है, प्रस्तुत अध्ययन का प्रयोजन नाटककार तथा समाज के दृष्टिकोण के आधार

---

१. नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। (ना, शा०)

2. K. C. Pandey, Comparative Aesthclies vol. I PP. 336—38.

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पर इसका विश्लेषण करने से ही सिद्ध हो सकता है। इसमें नाटककार के दृष्टिकोण में निम्नलिखित पक्षों पर विचार आवश्यक माना गया है—(१) भाषा (२) विषय-वस्तु (३) वस्तु-संयोजन (४) विभिन्न भावों का प्रदर्शन (५) विषय, पात्र तथा भावों के आधार पर विभिन्न स्थितियों का निरूपण एवं (६) विभिन्न पात्रों एवं नायक–नायिकाओं का चरित्र-चित्रण। तथा सामाजिक दृष्टि से नाटक में जो विचारणीय तत्त्व माने गये हैं वे हैं—(१) नाटक का नैतिक प्रयोजन तथा उसकी प्राप्ति का प्रकार एवं (२) उसके प्रदर्शन का सांस्कृतिक आधार। भारतीय काव्यशास्त्र ने कभी भी नाटक के व्यावसायिक आधार को स्वीकार नहीं किया है।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में कभी कवि वा नाटककार का भेद नहीं किया है। सच तो यह है कि नाट्य-रचना को काव्य-रचना से अधिक कठिन तथा उत्कृष्ट समझा गया है। 'नाटकान्तं कवित्वम्' के द्वारा नाट्य-रचना को ही कवि की कला और प्रतिभा की एकमात्र कसौटी स्वीकार किया गया है। भारतीय आलोचकों द्वारा की गयी कालिदास की आलोचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य जगत् के कलापारखियों द्वारा कालिदास की कला का मूल्यांकन किये जाने से सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही भारतीय आलोचक व रसिक कालिदास की इस अनुपम कृति शाकुन्तल को साहित्य गगन में समुचित स्थान प्रदान करता आ रहा है। आज तो शाकुन्तल को अपने विशिष्ट काव्य-नाट्य गुणों के कारण विश्व के एक सौ चुने हुए श्रेष्ठतम ग्रन्थरत्नों में स्थान प्राप्त है। विश्व-साहित्य में शाकुन्तल को यह स्थान देकर इसके साथ कोई पक्षपात नहीं किया गया है अपितु इसके प्रति सैकड़ों वर्षों से अभिव्यक्त की जा रही भारतीय काव्य-मर्मज्ञों की आस्था को ही दृढ़ किया गया है। शाकुन्तल को केवल वही कुछ मिला है जिसका कि वह अधिकारी है। इसमें निहित विश्व-जनीन तत्त्वों ने ही इसे विश्व के काव्यरसिकों एवं कलापारखियों का कण्ठ-हार बनाया है।

शाकुन्तल में कालिदास की कला और कल्पना का जो अद्भुत सामञ्जस्य हुआ है तथा विभिन्न प्रकार के प्रसंगों एवं मनोभावों के चित्रण में जिस बारीकी एवं मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया गया है वह एकत्र और किसी रचना में देखने को कम ही मिलता है। उनकी अन्तिम कृति होने के कारण कालिदास ने इसमें अपने दीर्घ जीवन एवं रचनाओं से सञ्चित अनुभूतियों एवं आस्थाओं को कलात्मक वा रसात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रत्येक शब्द, चेष्टा वा

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रसंग को बहुत देख-परखकर तथा नाप-तोल कर रखा गया है। इसकी रचना में कालिदास की निरन्तर यही चेष्टा रही है कि न आवश्यक कुछ छूटने पाए और न अनावश्यक कुछ आने पाए। इसीलिए शाकुन्तल का महत्त्व न तो केवल काव्यत्त्व में है और न नाटकत्त्व में ही। एक ओर बड़ी दक्षता के साथ भारतीय नाट्यशास्त्र में विहित नाटकीय विधानों का अङ्ग-प्रत्यङ्गों सहित अनुकरणीय विधान है तो दूसरी ओर काव्य की मधुर-मन्दाकिनी का ललित प्रवाह। दोनों में किसी एक को न्यूनाधिक कह सकना सम्भव नहीं। सच तो यह है कि दोनों ही सच्चे अर्थों में एक दूसरे के पूरक हैं।

**शाकुन्तल की मौलिक उद्भावना**

महाभारत के आदिपर्व में वर्णित शकुन्तलोपाख्यान को ही कवि ने अपनी जादुई कलम से लिखकर उसमें कला और कल्पना का जो चमत्कार भर दिया है वह तो भारतीय साहित्य के सर्वसामान्य अध्येता को भी ज्ञात है, अतः उस पर विस्तार से विचार करना हमें अभिमत नहीं। पर कवि ने कण्व की दीर्घकालिक अनुपस्थिति, राजा की दीर्घकालिक उपस्थिति, अंगुलीय का अभिज्ञान तथा दुर्वासा के शाप आदि की कल्पना करके सम्पूर्ण कथानक को स्वाभाविकता एवं नाटकीयता के तत्त्वों से किस प्रकार भरपूर कर डाला है यह तो इन दोनों कथानकों की पारस्परिक तुलना करने से ही प्रत्यक्ष हो सकता है। महाभारत के प्राणहीन नीरस कथानक में कालिदास ने जो अमर प्राण-प्रतिष्ठा की है उसी में तो निहित है कालिदास की कला और शाकुन्तल की अमरता का रहस्य। महाकवि ने अपने कला-कौशल से उस कथानक को ही प्राणवान् नहीं किया, अपितु उसके पात्रों में भी एक नये जीवन का संचार किया है, उनका कायाकल्प किया है तथा उन्हें महाभारत के पात्रों की अपेक्षा कहीं अधिक उज्ज्वल और उदात्त रूप प्रदान किया है। महाभारत की निर्भीक, प्रगल्भा तरुणी शकुन्तला यहाँ आकर परम लज्जावती, मुग्धा कन्यका का रूप धारण कर लेती है, और वहाँ का कामुक, भीरु और स्वार्थी दुष्यन्त यहाँ आकर शीलवान्, कर्त्तव्यपरायण एवं सुरुचिसम्पन्न 'धीरोदात्त' नायक बन जाता है, यह सब कुछ केवल कालिदास की मौलिक प्रतिभा के पारस के स्पर्श से ही सम्भव हो सका है। महाभारत के दुष्यन्त और शकुन्तला भारतीय संस्कृति तथा आदर्शों के लिए भले ही गौरव की वस्तु न रहे हों पर शाकुन्तल के दुष्यन्त और शकुन्तला से तो समस्त भारत ही अपने को गौरवान्वित समझता ही है। इसके अतिरिक्त नये पात्रों एवं घटनाचक्रों की उद्भावना में भी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कालिदास ने जिस नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय दिया है वह भी सर्वथा दर्शनीय ही है। शकुन्तला की सखियों एवं चौथे तथा छठे अंक के विष्कम्भकों की योजना करके कालिदास ने उस पुराने कथानक को जो नवीन नाटकीय मोड़ दिये हैं उन पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ तो बस केवल इतना ही और कहना है कि यों तो सम्पूर्ण शाकुन्तल ही कालिदास की प्रतिभा से प्रसूत है पर तृतीय अंक के बाद का शेष सम्पूर्ण शाकुन्तल तो, केवल पञ्चम अंक की दुष्यन्त और शकुन्तला की भेंट की घटना को छोड़कर, कालिदास की कल्पना की ही देन है। संस्कृत-साहित्य में कालिदास और भट्टनारायण दो ऐसे प्रतिभावान् कवि हुए हैं जिन्होंने कि अपनी नाट्य रचनाओं के लिए महाभारत के कथानकों का आधार लेकर उन्हें अपनी प्रतिभा के बल पर ऐसी मौलिकता प्रदान करदी कि सामान्य जगत् उन्हें ही उनका मूल रूप समझने लगा। आज भी भारत और विदेशों में ऐसे हजारों लाखों व्यक्ति हैं जोकि दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा को कालिदास द्वारा शाकुन्तल में निरूपित कथा के रूप में ही तथा भीम और दुर्योधन की कथा को भट्टनारायण द्वारा वेणीसंहार में वर्णित कथा के रूप में ही जानते हैं। उन्हें पता ही नहीं कि इनकी मूल कथायें इनसे बहुत कुछ भिन्न हैं। यों तो कालिदास ने अपनी सभी रचनाओं में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है पर शाकुन्तल में तो वह चरमकोटि पर पहुँच गयी है। इसका एक-एक शब्द और इसके पात्रों की एक-एक चेष्टा कालिदास की मौलिकता की अमिट छाप लिए हुए है। आगे की पंक्तियों में उनमें कुछ पर प्रकाश डालने का यत्न किया जायेगा।

**वस्तु-योजना का रूप**

शाकुन्तल की वस्तु-योजना में कवि ने अपनी पूर्व कृतियों की वस्तु-योजना के अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। वस्तु-योजना की दृष्टि से हमें उनके तीनों नाटकों में क्रमशः विकास परम्परा का रूप दिखाई देता है। मालविकाग्निमित्र का कवि अभी वस्तु-योजना की कला में प्रवीण नहीं – यह उसकी कथावस्तु के अदृढ़बन्ध से ही स्पष्ट हो जाता है। विक्रमोर्वशीय में कथावस्तु को अधिक सम्बद्ध करने की ओर चेष्टा तो है पर उसमें रंगमंचीय अवस्थाओं का ठीक-ठीक ध्यान नहीं रखा गया है। भावात्मक दृष्टि से कथावस्तु के सुसम्बद्ध होने पर भी उसकी क्रियात्मक सम्बद्धता नहीं होने पाई है, पर शाकुन्तल में कवि इन सभी त्रुटियों के प्रति बहुत सावधान दिखाई देता है। वह सम्पूर्ण नाटक में भावात्मक वा अभिनयात्मक किसी भी दृष्टि से कोई भी शिथिलता

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



न आने देने के लिए बराबर सचेष्ट दिखाई देता है। उसकी कला और काव्य-गत प्रौढ़ता इसमें पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है।

इसका प्रारम्भ ही बड़े कलात्मक व व्यंजनात्मक ढंग से होता है। प्रस्तावना में ही कवि ने सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु को सूत्र रूप से उपस्थापित कर डाला है। सूत्रधार के ग्रीष्मवर्णन की भाषा में ही कवि ने सम्पूर्ण नाटक में मुख्य रूप से 'तपन' किन्तु 'परिणामरमणीयत्व' की व्यञ्जना कर डाली है और फिर नटी के गीत में भ्रमरों के द्वारा सुकुमार केसरयुक्त शिरीष के पुष्पों के चुम्बन तथा नारियों द्वारा दयाभाव से उनका अवतंसीकरण की उक्ति के द्वारा तो नाटक की कथावस्तु की व्यञ्जना और भी अधिक स्पष्ट हो उठती है। और फिर सूत्रधार द्वारा स्वयं कही गई बात को भूल जाने तथा पत्नी के द्वारा स्मरण दिलाए जाने पर फिर उसकी स्मृति हो आने की घटना से तो शाकुन्तल की रही-सही कथावस्तु पर भी पूरी तरह प्रकाश पड़ जाता है। और इसी विस्मरण की घटना के साथ ही नाटक की प्रमुख कथावस्तु की भी अवतारणा हो उठती है (१।५) ऐसा लगता है मानों विस्मृति की बात ही इस सम्पूर्ण नाटक का केन्द्र-बिन्दु वा नियामक तत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शाकुन्तल के कवि ने प्रस्तावना की योजना से ही अपनी सूझ-बूझ एवं कलात्मकता का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया है।

प्रथम दृश्य की अवतारणा ही इतने कलात्मक ढंग से होती है कि हम सब नटी-सूत्रधार की बातों को भूलकर शरसन्धान किये हुए तथा भागते मृग का पीछा करते हुए दुष्यन्त को देखने में व्यस्त हो जाते हैं। दुष्यन्त के व्यक्तित्व का प्रथम प्रभाव ही हमारे ऊपर बड़ा उदात्त पड़ता है। वह हमें मृगरूपधारी यक्ष का पीछा करते हुए भगवान् शंकर की भाँति दिखाई देता है। (दुष्यन्त के प्रति कहे गये कालिदास के इस प्रथम शब्द-प्रयोग से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कालिदास उसे किस दृष्टि से देखता है, उसके चरित्र-चित्रण के प्रति वह कितना सावधान है। कहाँ भगवान् शंकर कालिदास के उपास्य! और कहाँ दुष्यन्त की उनसे तुलना!!) अस्तु कवि कृष्णसार मृग को अपने गन्तव्य की ओर ले चला है और इस बीच मृगगति एवं रथगति के निरूपण से हमें मुग्ध कर लिया है। दुष्यन्त की भाँति हमें भी अप्रत्याशित रूप में ही आश्रम में जा पहुँचने का भान तब होता है जबकि हम भी दुष्यन्त के साथ ही **'आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः'** की करुणाकलित वाणी से चौंक उठते हैं। तपोवन में आकर ऋषिदर्शन तो होना ही चाहिए; अतः कवि सर्वथा निरपेक्ष्य

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



भाव से अपने पाठकों को आश्रम की ओर ले चलता है। यहाँ पर आकर राजा का निराभरण एवं परिजनहीन प्रवेश कराकर नाटककार ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से आगे के वस्तु-विकास एवं चारित्रिक विकास के लिए बड़ा अच्छा अवसर निकाल लिया है। इस प्रकार वह हमें पहले से ही तैयार करके एक नये मोड़ पर ले आता है। जहाँ पर खड़े होकर हम उस पार से आने वाली रसीली वाणी तथा हृदय को तरंगित कर डालने वाली रूप-माधुरी में खो जाते हैं। एक अदृष्टपूर्व सौन्दर्यलोक का पर्दा हमारे सामने से उठ जाता है। हम उन वनलताओं के अकृत्रिम सौन्दर्य के पान में ऐसे रीझ गये थे कि कथावस्तु की प्रगति में अवरोध सा उपस्थित होने लगा था। अतितृप्ति वितृष्णा को जन्म देती है अतः कवि ने उसी क्षण 'भ्रमरबाधा' सी एक प्रतीकात्मक घटना की योजना करके कथावस्तु को विरसता की ओर जाने से बचा लिया और उसी के सहारे नायक-नायिका को आमने-सामने लाकर कथावस्तु के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त कर डाला।

इस बिन्दु पर आकर नाटक के प्रमुख रस शृंगार की अवतारणा तो हो गयी पर उसके स्वाभाविक विकास के लिए पर्याप्त समय की अपेक्षा थी। अतः कवि ने नायक और नायिका को आमने-सामने लाकर भी उन्हें साक्षात् रूप से एक-दूसरे के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति से दूर ही रखा। इस दृश्य की सफलता के लिए ही उसे प्रियंवदा तथा अनसूया सी दो भिन्न स्वभाव वाली सखियों की कल्पना करनी पड़ी। हम भी थोड़ी देर के लिए प्रियंवदा की परिहास-प्रियता एवं चुलबुलेपन तथा अनसूया की व्यवहार-कुशलता एवं शान्त स्वभाव के वातावरण में खो जाते हैं। हम देखते हैं कि महाभारत के नायक-नायिका प्रथम दर्शन के साथ ही एक दूसरे से परिचित हो जाते हैं तथा उनका प्रेम प्रसङ्ग इस प्रथम मिलन में पूर्ण हो जाता है जोकि सर्वथा असंगत एवं अस्वाभाविक प्रतीत होता है। अतः उस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए ही कालिदास को अपने वस्तु-विधान में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ा है। शकुन्तला 'तपोवन विरोधी भाव से ग्रस्त' होने पर भी मुग्धा ऋषिकन्या होने के कारण उसे दुष्यन्त पर अभिव्यक्त नहीं कर सकती। और दुष्यन्त चाहते हुए भी उसके प्रति ऐसा भाव तबतक नहीं ला सकता जबतक कि उसे यह निश्चय न हो जाये कि वह क्षत्रिय के द्वारा उद्वहनीय है। सखियों से उसके जन्म का पता लगा और विवाह का संशय हटा तो उसकी गुरुपराधीनता की समस्या आ खड़ी हुई। इस प्रकार एक ओर शकुन्तला के लज्जाभाव तथा गुरुपरतन्त्रता के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



भाव ने उसे आगे बढ़ने से रोके रखा और दूसरी ओर ऋषियों के कोप के भय ने दुष्यन्त को। गुरु से मिलन वा उनकी आज्ञा प्राप्त होने की भी शीघ्र कोई आशा नहीं, क्योंकि वे दीर्घकालीन तीर्थयात्रा पर गए हुए हैं। पता नहीं कब लौटेंगे। फिर भी प्रेम चक्षुःप्रीति, अभिलाष और प्राप्ति-चिन्ता के स्तरों से क्रमशः पार हो रहा था, स्वाभाविक गति के साथ। पर वस्तु के सम्यक् विकास के लिए अभी पर्याप्त समय की अपेक्षा थी अतः कवि ने विघ्नस्वरूप जंगली हाथी के उत्पात की योजना करके अनुराग के विकास के लिए पर्याप्त अवसर देने के हेतु कथावस्तु को इधर की ओर मोड़ दिया है, नायक और नायिका एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं और इस विछोह की योजना में ही कवि ने उनके औत्सुक्य की सरस एवं स्वाभाविक व्यञ्जना की है।

विक्रमोर्वशीय में भी नायक के उपकार से कृतज्ञ नायिका का कृतज्ञता प्रदर्शन के साथ ही नायक के प्रति अनुराग जागृत हुआ था और यहाँ भी स्थिति लगभग वैसी ही है। पर इसके वस्तु-विधान में कवि ने कुछ सुधार किया है। अर्थात् विक्रमोर्वशीय के समान प्रेमाभिव्यक्ति के उस भाव को (**दर्भाङ्कुरेण०** इत्यादि) तत्क्षण ही न दिखाकर द्वितीय अंक में नायक के स्मरण के रूप में चित्रित किया है जिससे इसकी वस्तुयोजना में अधिक निखार आ गया है, प्रेम की स्मरण कोटि के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश निकल आया है। इसी अंक में विदूषक की अवतारणा से सम्पूर्ण कथानक में अन्त तक एक नया सूत्र जुड़ गया है जिसका रहस्य छठें अंक में जाकर खुलता है। इसके अन्त में एक ओर नायक के प्रति की गयी ऋषियों की प्रार्थना तथा दूसरी ओर माता का बुलावा भी इसकी कथावस्तु के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। नायक को नायिका के निकट रहने तथा उनके अनुराग का परिपोष होने के लिए एक स्वाभाविक परिस्थिति तैयार हो जाती है।

नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से भी कथावस्तु का विकास ठीक ही चल रहा है, यह एक ओर 'मुख' और 'प्रतिमुख' सन्धियों को पार कर चुका है। दूसरी ओर 'बीज' और 'बिन्दु' की स्थिति को पार कर रहा है और तीसरी ओर 'प्रारम्भ' की अवस्था को पार कर 'यत्न' की अवस्था में चल रहा है और और अब कथानक 'प्राप्त्याशा' के साथ 'गर्भसन्धि' में प्रवेश करने वाला है। इस बीच कवि बड़ी कुशलता के साथ एक बार आन्तरिक और एक बार बाह्य संघर्ष दिखा चुका है। प्रथम अंक के **'क्षत्रपरिग्रहक्षमा'** वा न वा के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



आन्तरिक संघर्ष के साथ प्रेम के जिस 'बीज' का आरोपण वा 'प्रारम्भ' हुआ था वह अब दोनों ओर आकर्षण तथा शृंङ्गाराभिव्यक्तियों के द्वारा फैलाव (बिन्दु) की ओर बढ़ चला है उसे 'प्राप्त्याशा' की ओर ले जाने में दोनों ओर से 'यत्न' हो रहा है। दुष्यन्त ने ऋषियों का आमंत्रण स्वीकार करके उसके लिए मार्ग निकाल लिया है और कवि ने उसके द्वारा विदूषक से झूठ बुलवाकर कथानक को बड़ी सरलता से 'निर्वहण संधि' वा 'फलागम' तक पहुँचाने का नाटकीय मार्ग भी निकाल लिया है। नाटक की कथावस्तु के विकास में महत्त्व-पूर्ण योगदान करने वाले अंगुलीयक को भी कथावस्तु के 'प्रारम्भ' भाग में ही प्रतिष्ठापित कर दिया गया है।

द्वितीय अंक में यद्यपि नाटक के लक्ष्यभूत प्रेम के विकास के लिए अवसर मिल गया है पर नाटक की क्रियाशीलता में कुछ शिथिलता सी आने लगती है। विदूषक का मधुर परिहास तथा शकुन्तला के अकृत्रिम सौन्दर्य एवं मधुर शृंगारचेष्टाओं का वर्णन भावविकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी क्रिया-व्यापार में कुछ गत्यवरोध उत्पन्न कर रहा है। अतः तृतीय में कवि फिर क्रिया व्यापार की ओर अधिक सचेष्ट हो जाता है। 'लताकुञ्ज' का दृश्य भाव और क्रिया दोनों ही व्यापारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस अंक में कालिदास ने दोनों पात्रों के चरित्रों को उभारने अथवा उनका चारित्रिक पतन दिखाने में जिस कौशल का परिचय दिया है वह दर्शनीय है। इसमें एक ओर पतन दिखा भी दिया है तथा दूसरी ओर 'गान्धर्व विवाह' की बात कहकर उसे सर्वथा पतन से बचा भी लिया है। 'प्राप्त्याशा' 'नियताप्ति' की ओर अग्रसर होना चाहती है पर बीच में ही गौतमी का प्रवेश कर उसे यहीं रोक दिया जाता है। यहाँ तक कवि ने प्रेम का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक विकास दिखाया है आश्रम में दुष्यन्त की दीर्घ अवस्थिति एवं सखियों के सहयोग के कारण अनुराग की यह वृद्धि सर्वथा सम्भव एवं स्वाभाविक बन जाती है। नायक-नायिका का मिलन भी हो जाता है। ऐसा लगने लगता कि कथानक अब शीघ्र ही 'निर्वहण' वा 'फलागम' की ओर बढ़ जायेगा। पर कुशल कला-कार ने उसे सर्वथा एक नया मोड़ देने के लिए पहले तो दोनों को लघु-कालीन वियोग एवं अंगुलीय प्रदान की योजना की और फिर दुर्वासा के शाप की नाटकीय कल्पना कर डाली। इस योजना से कथानक कहाँ से कहाँ तक चला जायेगा इसकी हमें इस स्तर पर कल्पना भी नहीं हो सकती। शकुन्तला की सखियों के समान ही हम भी अंगुलीय पर विश्वास करके शाप के प्रति

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



निरपेक्ष्य हो उठते हैं। यहाँ तक कि हम दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम के प्रति भी निरपेक्ष्य से हो जाते हैं। यही कारण है कि हम चतुर्थ अंक के उस अलौकिक संसार का एकचित्त से आनन्द ले पाते हैं। यद्यपि नाटकीय क्रियाशीलता की दृष्टि से इस अंक में विशेष क्रियाशीलन नहीं हो पाया है पर रस की दृष्टि से इस अंक का अपना ही महत्त्व है। इसीलिए रसवादी भारतीय आलोचकों ने इस अंक को सबसे अधिक सराहा है। कालिदास के प्रकृति-प्रेम तथा शकुन्तला और कण्व के चारित्र्यिक विकास की दृष्टि से इस अंक का महत्त्व सर्वोपरि रहेगा ही। कथावस्तु 'नियताप्ति' की ओर अग्रसर है। पर कवि ने दोनों सखियों को साथ न भेजकर घटनाचक्र में 'नियताप्ति' और 'फलागम' का पूरा विकास दिखाने के लिए सम्यक् भूमिका बाँध दी है। शार्ङ्गरव जैसे पात्र के द्वारा भी इसमें विशेष योग दिलाया गया है।

क्रिया-शीलन की दृष्टि से शाकुन्तल का पंचम अंक सम्पूर्ण संस्कृत-नाट्य साहित्य में अद्वितीय है। जिस नाटकीय ढंग से समस्त क्रिया-व्यापारों का घात-प्रतिघात कवि ने इसमें दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। सम्पूर्ण कथानक ही एक नया मोड़ ले लेता है। इसकी समाप्ति के साथ ही नाटक की भी समाप्ति सी लगने लगती है। पर अभी तो 'अविमर्श' सन्धि का योग चल रहा होता है। 'निर्वहण' व 'फलागम' तो अभी दूर है। उसके बिना नाटक की समाप्ति हो ही कैसे सकती है।

ऋषि दुर्वासा का शाप कहिए, सखियों की अनुपस्थिति कहिए वा शार्ङ्गरव की क्षिप्तकारिता कहिए कि लक्ष्य की प्राप्ति अति निकट आकर भी दूर हट गयी। बड़े नाटकीय ढंग से सारा बना बनाया खेल ही बिगड़ गया अथवा यों कहें कि नाटकीय खेल बन गया। प्रेम को उच्चभूमि पर उठने तथा गिरे हुए पात्रों को फिर एक बार उदात्त मानवभूमि पर उठ खड़े होने का अवसर मिल गया। अब तक निर्बाध गति से चलते आ रहे कथानक को अचानक एक जबरदस्त धक्का लग गया, एक नाटकीय संशय (Suspense) उत्पन्न हो गया। प्रथम अंक की 'प्रभा तरल ज्योति' का रहस्य खुल गया। नाटक में एक अजीब सन्नाटा सा छा जाता है, एक अनिर्वचनीय स्तब्धता सी छा जाती है। लगता है कथानक की दुःखात्मक समाप्ति हो गयी। कथानक अब किसी तरह आगे भी बढ़ सकता है इसकी कल्पना भी कठिन हो जाती है।

पर भारतीय आदर्शों एवं कला का ऐसा दुःखद अन्त तो नहीं हो सकता। जिस 'फलागम' को लक्ष्य करके नाटक का 'प्रारम्भ' किया गया था 'बीजा-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



रोपण किया गया था वह अभी फलीभूत हुआ ही कहाँ है ? इस सामान्य कथा-प्रवाह में तो सरलता से सम्भव था नहीं और यदि हो भी जाता तो उसका न कुछ कलात्मक महत्त्व होता और न भावात्मक ही। उसके लिए कालिदास जैसे प्रतिभावान् कवि को अपनी साधना के अन्तिम स्तर पर प्रयास करने की आवश्यकता न थी ! यह सब कुछ तो 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' में दिखाया ही जा चुका था। उससे कला और आदर्शों की कोई सिद्धि होने वाली नहीं थी। ऐसे दुष्यन्त और शकुन्तला से न कालिदास की कला का कोई गौरव बढ़ना था और न भारतीय आदर्शों का ही। अपितु इससे तो एक लम्पट अथवा शकुन्तला के शब्दों में 'धर्मकञ्चुकप्रवेशी, तृणच्छन्नकूप' व्यक्ति का ही चरित्र उभरता। पुरुवंश पर कलंक लगता। शकुन्तला का भी आश्रमवास व्यर्थ जाता।

पर कवि तो इन सबसे भिन्न आदर्शों की सफलता के लिए प्रारम्भ से ही बड़ा सचेष्ट रहा है। जहाँ भी कला के परिवेश में सम्भव हो सका है उसकी नींव को दृढ़ करता गया है, 'प्रासंगिक' तत्त्वों का समावेश करता गया है और अब अवसर आया है उनके प्रतिफलित होने तथा 'आधिकारिक' कथावस्तु को नियत-स्थान में पहुँचाने में समुचित योगदान करने का। दो शरीरों का अस्थायी मिलन नहीं अपितु दो हृदयों का स्थायी गिलन ही तो मानवता का गौरव कहलायेगा ! इसी के लिए कथावस्तु मूल कथानक से हटकर आगे बढ़ती है।

यहाँ आकर कालिदास की कला और कल्पना ने भी एक अद्भुत मोड़ लिया है। मृगों की भाँति भोली एवं विश्वासिनी शकुन्तला को क्रूर छलना के हाथों प्रताड़ित होती देखकर हम सभी चकित रह जाते हैं। इससे भी अधिक हमारा हृदय मुँह की ओर तब आने लगता है जबकि हम उस निराश्रिता, प्रताड़िता, भाग्यहीना को ऋषिकुमारों का अनुगमन करते तथा उनके द्वारा और भी अधिक क्रूर शब्दों में प्रताड़ित होते हुए देखते हैं। हमारा द्रवित हृदय यही चाहता है कि यदि वे लोग उसके साथ सहानुभूति दिखलाते, अपने ही साथ आश्रम को वापस ले जाते तो अच्छा होता। पति से परित्यक्ता नारी पितृकुल में ही शरण की आशा रखती है। पर नहीं, कलाकार ने ऐसा नहीं किया। उसके साथी उसे दुत्कार कर चलते बने और वह अपनी बदकिस्मती को कोसती रह गयी। हमारी आँखों से ओझल होते ही उसे कोई अज्ञात ज्योति उठाकर ले गयी। हम सब अंधकार में ही रह जाते हैं इन सब प्रश्नों के उत्तर के विषय में कि वह ज्योति कौन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



थी ? शकुन्तला को क्यों ले गयी ? कहाँ ले गयी ?आदि आदि । यद्यपि इससे हमें उस संशयात्मक वातावरण से मुक्ति सी अवश्य मिलती है । पर साथ ही हमारे चारों ओर एक सन्नाटा सा छा जाता है ।

यहाँ पर कालिदास शकुन्तला को फिर कण्व के आश्रम में क्यों नहीं लौटा ले गये ? उनके इस विधान से उनकी असाधारण नाटकीय योजना में क्या योगदान होता है ? इसका बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है कविवर रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपने एक निबन्ध में । वे लिखते हैं—"अपनी पूर्व परिचित वनभूमि के साथ शकुन्तला का पहिला ऐसा मिलन अब सम्भव नहीं, क्योंकि कण्व के आश्रम से यात्रा करते समय तपोवन से शकुन्तला का केवल बाहरी वियोग हुआ था । आज दुष्यन्त के प्रत्याख्यान से वह वियोग सम्पूर्ण हो गया । अब वह शकुन्तला नहीं रही । अब संसार के साथ उसका सम्बन्ध बदल गया है । इस समय शकुन्तला को उसके पुराने सम्बन्ध के बीच स्थापित करके उत्कट निष्ठुर अभागेजस्य ही प्रकाशित होता । इस समय इस दुखिया के लिए उसके महान् दुःख के योग्य एकान्त स्थान की ही आवश्यकता थी । सखी-रहित नवीन तपोवन में कालिदास ने शकुन्तला के विरह दुःख की प्रत्यक्ष अवतारणा नहीं की । कवि ने चुप रहकर शकुन्तला के चारों ओर की नीरवता और शून्यता हमारे हृदय में और भी घनी कर दी है । वह यदि शकुन्तला को कण्व के आश्रम में लौटा ले जाकर इस तरह चुप भी रहते तो वह आश्रम बोलता । वहाँ के वृक्षों और लताओं का क्रन्दन और सखियों का विलाप आप ही आप हमारे हृदय में ध्वनित होता रहता । किन्तु इस अपरिचित नवीन तपोवन में हमें सब स्तब्ध और नीरव देख पड़ता है । वहाँ विश्व से बिछुड़ी हुई शकुन्तला का नियम से संयत और धैर्य से गम्भीर दुःख ही केवल हमारी मानस दृष्टि के सामने ध्यान लगाये विराजमान है । इस ध्यानमग्न दुःख के सामने कवि अकेले खड़े हुए अपने होठों पर अंगुली रखे हैं और उन्होंने उस निषेध के इशारे से सारे प्रश्नों को चुप और सारे विश्व को वहाँ से दूर हटा रखा है ।"[1]

कालिदास ने शकुन्तला की सखियों को क्यों साथ नहीं भेजा, इसका रहस्य भी यहीं आकर हमारी समझ में आता है । दुर्वासा ने शकुन्तला को शाप दिया— उसके प्रभाव से अभिज्ञान के अभाव में दुष्यन्त स्मरण कराये जाने पर

---

१. प्राचीन साहित्य (रूपान्तरित) इं० प्रे० इ० १९५८ पृ० ४४ ।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



भी अपने विवाह-सम्बन्ध को याद नहीं कर पा रहा है, उसे पहचान नहीं पा रहा है। ठीक है, पर सखियों को तो शाप नहीं मिला था। वे यदि साथ गई होती तो दुष्यन्त उन्हें तो अवश्य ही पहचान लेता। फिर उन्हें पहचान लेने वा न पहचानने दोनों ही स्थितियों में नाटक को आगे चलाना अस्वाभाविक हो जाता। और इसी परिस्थिति से बचने के लिए ही विदूषक की भी वहाँ से अनिश्चित काल के लिए अनुपस्थिति दिखाई गयी है। यदि वह वहाँ उपस्थित होता तो भी 'प्रत्याख्यान' का क्रूरकाण्ड सम्भव न होता। फलतः न आगे को कथानक चल पाता और न कालिदास के लक्ष्य की पूर्ति हो पाती। त्याग और तपस्या के बिना दो शरीरों का मेल हो जाता और दुष्यन्त के रनिवास में एक हंसपदिका की और वृद्धि हो जाती।

पाँचवे अङ्क में कवि इतना घात-प्रतिघात दिखा चुका है। कथानक इस स्थिति में पहुँच चुका है कि अब उसे और अधिक सघनता प्रदान नहीं की जा सकती। किसी ऐसे वातावरण की आवश्यकता थी जोकि स्वयं में गम्भीर न होकर भी परिणाम में गम्भीर हो। इस स्थिति में रचना हुई है छठे अङ्क के प्रवेशक की। थोड़ी देर को कवि इमें एक बिल्कुल नये व्यावहारिक जगत् में ले चलता है। तपोवन और राजभवन के वातावरण से कितना भिन्न है यह वातावरण। पर कितना निकट है वास्तविक जीवन के। हमारे 'धर्मात्मनों' की छाया में ही क्या कुछ लीलाएँ होती रहती हैं इसकी एक संक्षिप्त किन्तु प्रभावपूर्ण झाँकी कवि ने हमें यहाँ पर दिखा दी है। पर यह है उसके आदर्श पक्ष की बात। कलापक्ष की दृष्टि से इस योजना के द्वारा कवि ने बड़ी ही कुशलता के साथ एक ओर हमारे मन की उस सघनता को हल्का कर दिया है जोकि पाँचवे अङ्क में आ गयी थी तथा आगे आने वाली सघनता के भार को वहन करने योग्य भी बना दिया है और दूसरी ओर हमारे अनजाने ही पिछले विच्छिन्न कथासूत्र को 'विमर्श' में लाकर खड़ा कर दिया है। हम फिर कथानक के उसी वातावरण में जा पहुँचते हैं। दुष्यन्त के पिछले चरित्र में निखार के अतिरिक्त उसका बहुमुखी व्यक्तित्व उभरने लगता है। एक के बाद एक पिछले कथासूत्र जुड़ने लगते हैं, पर रहस्य अब भी रहस्य ही बना रहता है और कवि ने अन्त तक इसे इसी रूप में बनाये रखा है। 'फलागम' के साथ ही रहस्य का भी पूर्णतया उद्घाटन होता है। बड़े मार्के की बात है कि 'फलागम' की आशा और 'नियताप्ति' का भाव बनाये रखने के लिए कवि ने बीच में सानुमती की अवतारणा कर डाली है। अन्यथा शकुन्तला के जीवन की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



संशयात्मकता की स्थिति में दर्शक के लिए दुष्यन्त के पश्चात्ताप तथा घटनाओं में कोई रुचि नहीं रह जाती। यहीं पर हमें द्वितीय अङ्क के 'परिहासविजल्पितं सखे !' का भी रहस्योद्घाटन होता है। इसके अभाव में शायद नाटक पाँचवे अङ्क से आगे न बढ़ पाता। इसीलिए शकुन्तला के राजदरबार में प्रवेश से कुछ ही क्षण पूर्व नाटककार उसे बड़ी नाटकीय योजना के साथ रनिवास में भेज देता है। क्योंकि उसकी उपस्थिति में प्रत्याख्यान का वह काण्ड सम्भव न हो पाता जिसकी कि कवि योजना कर रहा है और जोकि सम्पूर्ण नाटक का प्राण है।

अब तक हम देख चुके हैं कि कलाकार बड़ी सफलता के साथ वस्तु-संयोजन को 'नियताप्ति' तथा 'अवमर्श' के स्तर तक ले जा चुका है। अब उसके सामने नाटक का अन्तिम लक्ष्य वा वस्तु-संयोजन की अन्तिम स्थिति आ रही है। अतः वह बड़े कलापूर्ण ढंग से घटना को उस ओर मोड़ देता है। दुष्यन्त का अतिशय विषाद तथा शकुन्तला के जीवन के विषय में अनिश्चितता नायक के प्रयत्नों में शिथिलता ला रहे थे। 'नियताप्ति' का रूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो रहा था। नाटक क्रियाशीलन में भी वह चुस्ती नहीं थी जोकि पंचमांक में पायी जाती है। उसका स्थान व स्वरूप भी परिवर्तित होना था, अतः कालिदास ने पिछले वातावरण को बदल डालने के लिए मातलि और विदूषक की घटना की योजना की और दुष्यन्त देवलोक की ओर चल पड़ा। मानों कि पार्थिव प्रेम ही दिव्य प्रेम में परिवर्तित होने को क्रियाशील हो गया। प्रेम को दिव्य भूमि पर प्रतिष्ठापित करना ही तो नाटक का उद्देश्य है न ? अब तक कवि ने पार्थिव प्रेम का रूप व उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का निरूपण किया अब वह उसकी चरमावस्था 'निर्वहण' 'फलागम' वा 'कार्य में हमें उसके उस रूप का दर्शन करायेगा जो किसी प्रकार की आशंका, शाप वा प्रत्यवाय से रहित होगा। जो दिव्य होगा, अनश्वर होगा, हम देखते हैं कि कलाकार अपने इस लक्ष्य की सिद्धि में सर्वथा सफल हुआ है। प्रेम का शुद्ध व निश्छल रूप निखर आया है, यह अनेक प्रत्यवायों के बावजूद भी विजयी होकर सामने आया है। यही था वह 'बीज' वा 'प्रारम्भ' जिसे आधार बनाकर शाकुन्तल की कथावस्तु की योजना की गयी थी और अब वह अपनी चरम परिणति में हमारे सम्मुख आता है। कथावस्तु के विकास के साथ-साथ हमने प्रेम के उस अंकुर को फूटते, बढ़ते एवं फूलते देखा। और अब वह क्षण भी दूर न रहा जिसमें कि उसमें विकार की सीमा से परे एक दिव्य अमृत फल लग गया। यद्यपि इस

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



समस्त विश्लेषण में 'पञ्चसंधियों' 'कार्यावस्थाओं' तथा 'अर्थप्रकृतियों' के सीमा विभाजन पर कोई सर्वमान्य रेखा नहीं खींची जा सकती है, वैमत्य के लिए यत्र-तत्र अवकाश रहेगा ही। पर इस बात से कोई निषेध नहीं कर सकता है कि इसमें वस्तु-योजना का रूप नाट्यशास्त्रीय परम्परा पर ही आधारित है। जहाँ भेद होगा वह इस महाकवि की व्यक्तिकता का ही परिचायक समझा जायेगा।

वस्तु-संयोजन से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से यह समझना सर्वथा भूल होगी कि नाट्यशास्त्र की परम्पराओं का पालन करने में ही कालिदास का कौशल निहित है। सच तो यह है कि नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन करने में जो सफलता तृतीय श्रेणी के कवियों को मिली है वह कालिदास को नहीं। कालिदास ने अपने नाट्यशास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए नाट्य रचना नहीं की थी। उसका उद्देश्य तो केवल कला के माध्यम से कुछ उदात्त आदर्शों को व जीवन के शाश्वत् मूल्यों को ही प्रस्तुत करना था। इसीलिए उनकी रचनाओं में नाट्य-विधान के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के न सभी रूप पाये जा सकते हैं और न उनके बीच कोई विभाजक रेखा ही खींची जा सकती है। हाँ, कथा-वस्तु की सम्पूर्णता में उनकी सत्ता का आभास अवश्य हो जाया करता है।

**वस्तु-योजना का वैशिष्ट्य**

कालिदास की नाट्य रचना का असली कौशल तो पाया जाता है उन अंशों में जिन्हें उन्होंने कथावस्तु के बीच में कलात्मक ढंग से यथास्थान व यथानुपात सजा दिया है। उन्होंने तो वस्तु-योजना में इतनी मितव्ययता के साथ काम लिया है कि शाकुन्तल जैसे मूर्धन्य एवं सात अङ्कों के नाटक में किसी 'प्रासंगिक कथावस्तु' (पताका, प्रकरी) को भी आवश्यक नहीं समझा है। संयोग-वियोग और पुनर्मिलन की स्थितियों पर ही सम्पूर्ण 'आधिकारिक' कथावस्तु को विकसित किया गया है। इसमें भी न कहीं घटनाओं का अनावश्यक विस्तार है और न अभिव्यक्तियों में संयम का अभाव। पात्र भी प्रत्येक दृश्य के लिए कम से कम उतने ही चुने गये हैं जितनों की उपस्थिति कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के लिए अत्यावश्यक समझी गयी है। इसमें कवि ने सर्वत्र ही बड़े संयम से काम लिया है। शकुन्तला की प्रणय व्यथा को केवल एक पद्य (३/१४) से व्यक्त कराया गया है तो उसकी वियोगव्यथा को आत्मविस्मृति के मौन भावमात्र से ही और उसके ६ वर्ष के दीर्घ विरह-व्रत को केवल एक पद्य से (७/२१)। शकुन्तला के प्रत्याख्यान के समाचार को

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पाकर उसकी बालसखियों तथा तपोवन के अन्य सहयोगियों को कितनी मार्मिक व्यथा हुई होगी इसे भी कवि ने पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है। ऐसे ही जहाँ शकुन्तला का सौन्दर्य-वर्णन कथावस्तु के विकास में विशेष सहायक नहीं हो सकता था वहाँ तो कवि अवसर होते हुए भी 'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्' कहकर सब कुछ व्यंग्य रखकर आगे बढ़ गया है और जहाँ कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के लिए इसकी आवश्यकता थी वहाँ (द्वितीय अंक में) उसने खूब जमकर उसका वर्णन किया है। पर अनुपात एवं स्तर का यहाँ भी बराबर ध्यान रखा गया है। किसी नाटक की कथावस्तु के ग्रथन में भला इससे अधिक कलात्मक मितव्ययता (Artistic Economy) और क्या हो सकती है कि कलाकार रंगमंच की भीड़-भाड़ को बचाने के लिए दुर्वासा, हंसपदिका और रानी वसुमती जैसे पात्रों का भी रंगमंच पर आना आवश्यक नहीं समझता, यद्यपि इनकी उपस्थिति का तीव्र आभास हमें करा देता है। सच पूछा जाये तो केवल चार घटनाओं पर सम्पूर्ण नाटक का ढांचा खड़ा किया गया है, और वे हैं– (१) मृगया, (२) शाप, (३) धीवर, (४) इन्द्र का आमन्त्रण, पर कथावस्तु की इस न्यूनतम सामग्री को भी कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए कालिदास ने रस, भाव, भाषा, कल्पना आदि का जो उपयोग किया है वह सर्वथा दर्शनीय है और उसी पर आधारित है शाकुन्तल का समस्त कौशल।

**वातावरण की सृष्टि**

शाकुन्तल में कला और कल्पना का कैसा अद्भुत संयोग कालिदास ने जुटाया है। प्रत्येक आने वाली घटना के लिए किस प्रकार वह एक उपयुक्त वातावरण की सृष्टि कर लेता है यह शाकुन्तल के बीच में आने वाली विभिन्न घटनाओं के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। हम देख सकेंगे कि प्रत्येक आने वाली महत्त्वपूर्ण घटना का प्रतीकात्मक आभास हमें कवि पहले ही दे डालता है। इसी विशिष्ट वातावरण की पृष्ठभूमि में फिर नाटक की किसी महत्त्वपूर्ण घटना को उभारता है या कथानक को कोई नया मोड़ देता है। नाटक का अवतरण ही किसी भोलेभाले आश्रम मृग पर किसी अहेरी के शर-सन्धान से होता है। जोकि प्रथम अंक की घटनाओं के लिए पहले से ही पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। ऐसे ही 'अनाघ्रात पुष्प' एवं 'अनास्वादित मधु' (२/१०) के समकक्ष शकुन्तला को दुष्यन्त जैसे 'मधुकर' (५/१) के सम्पर्क में लाने से ठीक पूर्व कवि 'भ्रमर बाधा' की घटना के रूप में प्रतीक रूप से आने वाले वातावरण को सृष्टि कर डालता है। दूसरे और तीसरे अङ्क में दुष्यन्त ने इस पावन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तपोवन में प्रवेश करके तपोवन के सामान्य जीवन एवं नियमों में किस प्रकार बाधा उत्पन्न की और उन्हें भङ्ग किया इसका प्रतीकात्मक आभास कवि ने हमें प्रथम अङ्क के अन्त में भयावह 'वन्य गज' के प्रवेश की सूचना से ही दे डाला है। इस योजना से जहाँ कथानक के स्वाभाविक विकास के लिए अवसर निकल आता है वहीं आगे आने वाले वातावरण की पृष्ठभूमि भी तैयार हो जाती है। ऐसे ही शकुन्तला की विदाई से ठीक पूर्व कण्वशिष्य के द्वारा प्रस्तुत प्रातःकाल का दर्शनिक निरूपण (४/२) कैसा स्पष्ट सङ्केत कर डालता है शकुन्तला के भावी दुःख का। यद्यपि 'प्रत्याख्यान' की घटना पाँचवें अङ्क में घटती है पर कवि ने उसके लिए वातावरण की सृष्टि चौथे अङ्क के प्रारम्भ से ही प्रारम्भ कर दी है। क्योंकि यह घटना नाटक की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है, नाटक की प्राण है और इसी से शाकुन्तल का एक नया मोड़ मिलता है अतः इसके लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए कवि ने एक नहीं तीन प्रतीकात्मक स्थलों की योजना की है। एक का हम अभी उल्लेख कर चुके हैं। दूसरी चतुर्थ अङ्क के उत्तरार्ध में 'चक्रवाकयुगल' के वियोग के रूप में (४/१६) तथा तीसरी पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में हंसपदिका के गीत (५/१) के रूप में की गयी है। इन सबके द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान का वातावरण उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है। इस प्रकार कवि प्रत्याख्यान के दारुण दृश्य को यथार्थ में रंगमञ्च पर प्रस्तुत करने से पूर्व ही अपने पाठकों को उस वातावरण का आभास कराकर उन्हें पहले से ही उसके लिए तैयार कर लेता है। इसी प्रकार अँगूठी का अचानक मिल जाना भी शकुन्तला के अप्रत्याशित रूप में मिलन का पूर्वाभास करा देता है। ठीक ऐसे ही दुष्यन्त और शकुन्तला के पुनर्मिलन के हर्षोल्लास के लिए कवि सप्तम अङ्क के प्रारम्भ में ही इन्द्र के द्वारा किए गए सम्मान की अभिव्यक्ति के रूप में दुष्यन्त और मातलि के वार्तालाप से हर्षातिरेक का वातावरण प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार आगे आने वाले आनन्द में सम्मिलित होने के लिए हमें पहले से ही तैयार कर डालता है। पर यह सब कुछ इस स्वाभाविकता के साथ किया गया है कि ये सभी घटनाएँ कथानक की अभिन्न अङ्ग सी प्रतीत होने लगती है। हमें कहीं भी यह आभास तक नहीं होने पाता कि कवि ने मूल कथानक से कहीं बाहर से इनकी योजना की है।

स्थानीय वातावरण की दृष्टि से 'शाकुन्तल' में दो ही भिन्न-स्थानीय वातावरणों की योजना हुई है— (१) तपोवन (२) राजभवन। तपोवन के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दो रूप सामने आते हैं— (१) पृथ्वीलोकस्थ (कण्वाश्रम) (२) स्वर्गलोकस्थ (मरीचाश्रम)। कवि हमें जब भी किसी नये वातावरण में ले गया है उसका आभास उसने हमें पहले ही करा दिया है। प्रथम चार अङ्कों में कण्वाश्रम के वातावरण की गहरी छाया हमारे मन पर प्रथमांक के पूर्वार्ध में ही पड़ जाती है और वह बराबर इन चार अङ्कों में बनी रहती है। हम क्षण भर को भी उस वातावरण से दूर नहीं होने पाते। पर जब कवि हमें राजभवन के नये वातावरण में प्रवेश कराना चाहता है तो पाँचवे अंक के प्रारम्भ से ही उसका आभास कराने लगता है। अब हम अविश्वास और वञ्चना के वातावरण में प्रवेश करने वाले हैं इसकी प्रतिध्वनि हमें हंसपदिका के गीत में ही सुनाई देने लगती है। कहाँ तो प्रथम अंक में तो 'तपोवन' के वातावरण में प्रवेश करते ही सबसे पहले हमें 'विश्वास' (विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः; १/१४) की बात सुनाई दी थी और यहाँ सबसे पहले किसी छलिया के द्वारा छली गयी भाग्यहीना का उपालम्भभरा स्वर! क्या कवि हमें किसी नवीन जगत् में नहीं ले आया? ले आया है, अवश्य ले आया है। इतने संकेत पर ही विश्वास न हो तो स्पष्ट सुन लीजिए इस नये वातावरण के प्रति अभिव्यक्त ऋषिकुमारों की मानसिक प्रतिक्रिया भी (५/१०—११)। एक का दम आग लगे हुए घर में घिरे हुए व्यक्ति के समान घुट रहा है तो दूसरे को 'अशौच' की सी आत्मग्लानि हो रही है। आ गये न हम नये वातावरण में? जो कि पिछले वातावरण से सर्वथा भिन्न है। इसके बाद अगले एक अंक तक हम लगभग इसी वातावरण में रहते हैं।

इसके बाद घटनाचक्र फिर किसी नये वातावरण में पहुँच गया है इसका आभास भी कवि हमें सप्तमांक के प्रारम्भ से ही कराने लगता है (७/६—८)। अब दुष्यन्त ऐसे प्रदेश में पहुँच गया है जहाँ कि वह भूतल का स्पर्श किये बिना ही रथ से उतर गया है। इस आश्रम का वातावरण बिल्कुल भिन्न है, इसका भी स्पष्ट आभास हमें हो जाता है (७/१२)। कण्वाश्रम के निवासी जिन वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना से तपस्या करते थे यहाँ के निवासी उन्हीं के बीच तपःसाधना में निरत हैं। कैसा भिन्न है यहाँ का वातावरण कण्वाश्रम के वातावरण से। हम किसी प्रकार भी अपने आपको उसी वातावरण में समझने की भूल नहीं कर सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानीय वातावरण की सृष्टि में भी कवि ने विशेष विस्तार में गये बिना ही कुछ थोड़े से संकेतों से ही ऐसे सबल रूप में वातावरण के परिवर्तन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



का आभास करा दिया है कि हम उसके साथ अपने आपको उस नये वातावरण में पाते हैं। एक से दूसरे का भेद बहुत स्पष्ट हो उठता है।

**नाटकीय सोत्प्रासों की योजना**

शाकुन्तल के वस्तुविधान के उपर्युक्त सर्वेक्षण में हमने देखा कि कवि ने प्रथम अंक से लेकर सप्तम अंक तक के कथानक की विविध घटनाओं को किस प्रकार परस्पर अनुस्यूत करके रख दिया है। प्रत्येक छोटी से छोटी प्रतीत होने वाली घटना तथा उक्ति का सम्पूर्ण कथानक के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। किसी एक को भी इधर उधर करने से सम्पूर्ण नाटक का गठन ही शिथिल हो जायेगा। ऐसा सुगठित एवं संसक्त वस्तु-संयोजन विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वयं कालिदास के अन्य नाटकों का वस्तु-संयोजन भी इतना सुगठित नहीं, शाकुन्तल के इस सुगठन को बनाये रखने के लिए कवि ने जिस कलात्मक ढंग से नाटकीय सोत्प्रासों (dramatic ironies) की योजना की है वह भी अभूतपूर्व ही है। शाकुन्तल के नाटकीय सोत्प्रास वस्तुतः इसकी कथावस्तु के अंग बन गये हैं और इन्हीं से निखर उठती है कालिदास की नाट्यकला। शाकुन्तल का नाटकीय गौरव भी बहुत कुछ इन्हीं पर निर्भर है।

प्रारम्भ में भी हम वैखानस को मृगवध का निषेध करते हुए पाते हैं पर अगले ही क्षण हम देखते हैं कि मृगाक्षी शकुन्तला उसका शिकार बन जाती है। क्या नाटकीय योजना है कि महर्षि कण्व शकुन्तला के दुष्टग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ गये हुए हैं और उसी काल में दुष्टग्रह अपना प्रभाव दिखाकर उसे दुष्यन्त के चंगुल में फँसा देते हैं और कर्तव्यच्युत कराकर शापित और अन्त में अपमानित करवा करके ही दम लेते हैं। मानव की कथनी और करनी पर कैसा व्यंग्य है कि जो व्यक्ति (दुष्यन्त) थोड़ी देर पहले आश्रमकन्यकाओं पर अविनय का आचरण करने वालों को दण्डित करने की घोषणा करता है (१/२२) वही स्वयं अविनय का आचरण करने पर कमर कस लेता है और **'पौरव रक्ष विनयम्'** जैसी सचेत करने वाली वाणी को भी नहीं सुन पाता। प्रथमांक में ही यद्यपि दुष्यन्त अपने असली रूप को छिपाये रखने का यत्न करता है पर यहीं पर वह प्रकट भी हो जाता है। जो व्यक्ति स्वयं अपने आपको 'धर्माधिकार में नियुक्त' कहता है उसी पर 'धर्मकंचुक-प्रवेशी' होने का दोष लगाया जाता है। प्रियंवदा की हँसी-ठिठोली की माँ गौतमी से शिकायत करने वाली शकुन्तला स्वयं तीसरे अंक में माँ गौतमी से

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इतना बड़ा छल कर जाती है। होनी की ऐसी प्रबलता कि विदूषक को सब कुछ सच सच बताकर भी राजा अन्त में उससे 'परिहासविजल्पितम्' कह देता है। भाग्य की विडम्बना देखिए कि शकुन्तला जिसे पाने के लिए उद्दाम प्रेम के प्रवाह में पिता कण्व के आगमन और उनकी स्वीकृति की भी प्रतीक्षा न कर सकी उसे ही पाने के लिए उसे कई वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, ऐसे ही जो शकुन्तला मृगी के प्रसव पर पिता से उसका समाचार भिजवाने का अनुरोध करती है वह स्वयं अपने प्रसव का समाचार किसी को नहीं दे पाती। अभी विदाई के अवसर पर जिसे पिता की ओर से 'महादेवीपदं लभस्व' तथा ऋषिपत्नियों की ओर से 'भर्तुर्बहुमता भव' का आशीर्वाद था वही भर्ता के घर पहुँचते ही 'आत्मकार्य-निर्वर्तिनी' के सकलंक आक्षेप की भागिनी बनी और महादेवी का पद तो क्या दासी का पद भी न पा सकी।

शकुन्तला जिसके लिए अपने समस्त स्नेहसम्बन्धों को तोड़कर मन में असंख्यों साधें लेकर जाती है वही उसके चरित्र पर आक्षेप करता है और उसका क्रूर प्रत्याख्यान भी। इससे बड़ी भाग्य की विडम्बना और क्या हो हो सकती है! और जिस शकुन्तला के लिए पृथ्वी की सपत्नी होने की कामना करते हैं (४/२०) उसे पृथ्वी विवर तक नहीं देती (अंक ५)। शार्ङ्गरव राजा पर 'ऐश्वर्यमदमत्तेषु' का आक्षेप तो करता है पर स्वयं किस प्रकार 'तपोमदमत्त' होकर आचरण कर रहा है इसे नहीं देख पाता। ऐसे ही हंसपदिका के गीत पर राजा 'जन्मान्तरसौहृद' की स्मृति की बात तो करता है पर इस जन्म के सौहृद को भूल जाता है। भाग्य की ही लीला कि राजश्यालक के जो हाथ धीवर को पीटने के लिए लालायित होते हैं वही उसकी ओर मित्रता के लिए बढ़ते हैं। अभी कुछ क्षण पूर्व जिस व्यक्ति के शूलारोपण की बात कही जा रही है उसे ही अगले क्षणों में राजा की ओर से पुरस्कृत किया जा रहा है। ऐसे ही और भी अनेकों ऐसे स्थलों की योजना की गयी है शाकुन्तल में जिससे कि नाटक प्राणवान् हो उठा है। ये ही वे महत्त्वपूर्ण अंश हैं जिनसे कि शाकुन्तल का कथानक सार्वभौम रुचि का प्रतिनिधित्व करता है।

**भाषा और भावों का संयोजन**

शाकुन्तल में कालिदास की कला और भावाभिव्यक्ति के प्रकार का चूड़ान्त निदर्शन पाया जाता है। पर इन दोनों की सिद्धि का रहस्य निहित है उसकी शब्द-योजना में। जिस प्रकार शाकुन्तल की प्रत्येक छोटी से छोटी घटना किसी नाटकीय महत्त्व वा रहस्य को लिये हुये होती है वैसे ही इसमें प्रयुक्त प्रत्येक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



शब्द बड़ा भावपूर्ण एवं सारगर्भित होता है। एक एक शब्द इस प्रकार चुनकर प्रयुक्त किया गया है कि उसे हटा देने से या तो काव्य का भावसौन्दर्य ही बिखर जायेगा या नाटक की घटनाशृंखला ही टूट जायेगी। कथोपथन में आने वाला कौन शब्द कब, कहाँ, किस रहस्य का उद्घाटन करेगा, कथानक को नया मोड़ देने में किस प्रकार का योगदान करेगा, यह हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि उसका लक्ष्यीभूत कार्य हमारे सम्मुख नहीं आ जाता, और उस स्तर पर जब हम उसके पूर्वापर प्रसङ्ग को देखते हैं तो कालिदास के शब्दकौशल पर चमत्कृत रह जाते हैं। सच तो यह है कि विशिष्ट भावानुयायी शब्द-प्रयोग के द्वारा ही कालिदास ने सम्पूर्ण नाटक में चमत्कृत कर देने वाले नाटकीय सोत्प्रासों की योजना की है।

प्रस्तावना में ही **'परिणामरमणीयाः'** 'शिरीष कुसुम' **'भ्रमर'** **'ईषदीषच्चुम्बितानि'** 'विस्मृति और अनुबोधन' जैसे शब्दों का क्या गूढार्थ है यह हमारे समक्ष तब स्पष्ट होता है जबकि सम्पूर्ण नाटक हमारी आँखों के आगे से गुजर जाता है। हम चमत्कृत होकर एक–एक शब्द की योजना को देखते रह जाते हैं। प्रथमांक में **'आश्रममृगोऽयम्'** में 'मृग' शब्द से शकुन्तला भी अभिहित है इसका स्पष्टीकरण होता है पञ्चमांक में जबकि शकुन्तला राजा को उसी के कथन **'द्वावप्यत्रारण्यकाविति'** की स्मृति कराना चाहती है। ऐसे ही शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने जिस **'प्रभातरलज्योति'** की बात सोची थी उसकी विपरिणति देखी जाती है पञ्चमांक में (५/३०)। प्रथमांक में ही लतावृक्षों के प्रति अभिव्यक्त शकुन्तला के **'सोदरस्नेह'** शब्द का चतुर्थ अङ्क में व्यक्त रूप देखने को मिलता है। प्रियंवदा, अनसूया, शार्ङ्गरव, शारद्वत् नामों में जो अर्थ की व्यञ्जना तथा उनके चारित्रिक गुणों का अभिनिवेश है उसे पृथक् से बतलाने की आवश्यकता नहीं। कवि ने इन नामों का चुनाव किस खूबी से किया यह तब स्पष्ट होता है जब हम इनमें से प्रत्येक के कार्यों एवं गुणों को देखते हैं। **'अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियंत्रितास्मि'** सी सरल गिरा का गूढ़ रहस्य तब स्पष्ट होता है जब हम प्रियंवदा को दुष्यन्त और शकुन्तला को एक दूसरे के निकट लाने तथा उसे दुष्यन्त के प्रेमपाश में 'पिनद्ध' करने में सक्रिय सहयोग देते हुए पाते हैं। 'केसरवृक्ष' के प्रसङ्ग में **'लता सनाथ'** पद में 'सनाथ' शब्द की व्यञ्जना प्रस्तुत प्रसङ्ग में किस प्रकार जीवन्त हो उठती है तथा 'वनज्योत्स्ना' के प्रसंग में 'स्वयंवर वधू' का रूप किस प्रकार चरितार्थ हो उठता है इसे हम शाकुन्तल के तृतीय अङ्क में देख

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



सकते हैं। ऐसे ही **'नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना·····उपभोगक्षमः सहकारः'** जैसी उक्तियों का मर्म भी वहीं जाकर स्पष्ट हो पाता है। **'तपोवन विरोधी विकार'** जैसे पदों में प्रत्येक शब्द किस प्रकार चुना गया है और इस संक्षिप्त पदयोग से ही किस प्रकार अर्थगाम्भीर्य की योजना की गयी है, सर्वथा दर्शनीय है।

प्रियंवदा के द्वारा कथित **'नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीभ्योगम्'** की कैसी सटीक व्याख्या दृष्टिगोचर होती है षष्ठांक में, ऐसे ही :

**कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।**
**अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यकासु'॥** (१/२२)

का क्रूर व्यङ्ग्य सामने आता है शकुन्तला को उक्ति 'पौरव ! रक्ष्य विनयम्' में। **'अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति** (५/२२)' में 'परभृता' पद से कैसी सीधी चोट की गई है शकुन्तला पर। छठें अङ्क में सानुमती की उक्ति **'देवा एव तथानुष्ठास्यन्ति'** का रूप हमारे सामने सप्तम अङ्क में तथा भगवती गौतमी की उक्ति **'भगवन् वर एष न खलाशीः'** का तथ्य भी सप्तमांक में ही जाकर स्पष्ट होता है। सप्तमांक में **'को मे पुञ्जकं गात्रसंसर्गेण दूषयति'** में शकुन्तला का गात्र संसर्ग से उत्पन्न दूषण' के प्रति कितना कटु अनुभव है यह केवल अनुभव ही किया जा सकता है। इतना ही नहीं शाकुन्तल में सैकड़ों ऐसे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं जिनका कि अपना विशेष नाटकीय महत्त्व है। शब्दों का ऐसा भावपूर्ण चुनाव अन्यत्र कम ही देखने को मिल सकता है।

जिस शब्द और अर्थ के अभेद्य संयोग की बात कालिदास ने 'रघुवंश' के प्रारम्भ में की है उसका उत्कृष्टतम रूप शाकुन्तल में देखने को मिलता है। एक-एक शब्द नाप-तोलकर रखा गया प्रतीत होता है। शब्दों और वाक्यों का चुनाव इस प्रकार किया गया है कि भाषा से ही भावों की तथा पात्र के चरित्र की अभिव्यक्ति हो जाती है। यहाँ तक कि राजा, तपस्वी, सिपाही, मछुवे, स्त्रियाँ आदि सबकी भाषा के सूक्ष्म भेदों को भी ध्यान में रखा गया है। शकुन्तला में कितनी मुग्धता है तथा वह अपनी भावाभिव्यक्ति में कितनी संयत होगी इसका अनुमान उसके केवल एक वाक्य से लगाया जा सकता है। दुष्यन्त को देखने के उपरान्त उसके निर्विकार मनःसरोवर में जो भयंकर हलचल मची थी उसकी अभिव्यक्ति हुई है केवल एक वाक्य में— **'किं णु क्खु इमं पेक्खि अ; तवोवण विरोहिणो विआरस्य गमणीअह्मि संवुत्ता'।** इस क्षण कहाँ उसके मन में कितनी विविधरूपा अनुभूतियाँ हिलोरें ले रही

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



होंगी और कहाँ उन्हें अभिव्यक्ति मिली है केवल एक वाक्य में, उसमें भी किस शील और संयम का परिचय दिया गया है तथा साथ ही कल्पना के लिए कितना अवकाश भी छोड़ दिया गया है यह तो कोई शब्दपारखी ही बता सकेगा।

शकुन्तला की सखियाँ कितनी शिष्ट, सुरुचिसम्पन्न तथा परिमार्जित रुचि की होंगी इसका अनुमान अनसूया के केवल उस एक प्रश्न से लगाया जा सकता है जोकि राजा का परिचय प्राप्त करने के लिए उसने उससे किया था। वह पूछती है—

**"आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मंत्रयते कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽलंक्रियते, कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किन्निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः।"** जैसा सुमधुर उसका स्वभाव होगा वैसी ही सुमधुर वाणी का भी उसके मुख से निःसरण हुआ है।

महर्षि कण्व की उक्तियों में एक-एक शब्द में उनके हृदय की सरलता, पावनता एवं पितृत्व की भावना टपकती है। ऋषियों के स्वभाव की निश्छलता तथा राजपुरुषों के स्वभाव की चाटुकारिता स्वयं उनके शब्दों से झलकती दिखाई देती है। विदूषक की भाषा भी उसी के समान हास्यास्पद हुआ करती है—**'गण्डस्योपरि पिटकः संवृत्तः' 'त्वं तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णर्क्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि'** अथवा खाद्यलोलुपता—**'यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्ड्यामभिलाषो भवेत्.....' 'एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरमिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति'** आदि।

अध्यापन और यज्ञयाग में निरत महर्षि कण्व की भाषा में उनके याज्ञिक तथा अध्यापक होने का रूप स्वयं ही अभिव्यक्त हो उठता जब वे कहते हैं—**दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता'** एवं च **'वत्से, सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता'** आदि। कहने का अभिप्राय यह है कि शाकुन्तल में प्रत्येक पात्र अपने अनुरूप ही भाषा का प्रयोग करता है।

आदि से अन्त तक भाषा में सर्वत्र चुस्ती एवं सजीवता दर्शनीय है। बीच-बीच में मुहावरों के प्रयोग से तो भाषा में और भी जान पड़ गई है। वनवासिनी शकुन्तला और उसकी सखियों की उक्ति में— **'क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते' 'क इदानीमुष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति' 'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशांकलेखामनुवर्तते'** आदि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तथा राजपुरुषों की उक्ति में 'एष नाम अनुग्रहो यत् शूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः' इत्यादि इत्यादि इसके जीवन्त रूप हैं।

शाकुन्तल में भाषा अत्यन्त प्राञ्जल, परिष्कृत एवं मुहावरेदार तो है ही पर सबसे विशिष्ट बात यह है कि वह बड़ी व्यञ्जक एक भावानुसारी है। क्योंकि कालिदास की प्रसादमधुरा भाषा-शैली पर अन्यन्त विस्तार के साथ विचार किया गया है अतः यहाँ विशेष विस्तार में न जाकर हम केवल संक्षेप में ही कालिदास की भाषा-शैली के इस गुण की ओर संकेतमात्र करेंगे। नाटकीय सोत्प्रासों की योजना में उन्होंने व्यञ्जनात्मक शब्दावली का कैसा सफल प्रयोग किया है यह तो हम देख ही चुके हैं, अब रस-व्यञ्जना के क्षेत्र में भी उनकी भाषा के इस रूप की झाँकी प्रस्तुत की जायेंगी। 'अनाघ्रातं पुष्पम्०' से व्यञ्जित होने वाली शृंगारव्यञ्जना में किस प्रकार की प्रसाद-गुणपूर्ण एवं व्यञ्जक शब्दावली की योजना की गयी है यह तो स्पष्ट है ही। साथ ही शकुन्तला के सौन्दर्यवर्णन के लिए प्रयुक्त सुकुमार शब्दावली भी दर्शनीय ही है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

ऐसी ही रसभावानुसारिणी प्रसादगुणगुम्फिता भाषा का प्रयोग किया गया है 'यास्यत्यद्यशकुन्तलेति हृदयं०.....' 'शुश्रूषस्व गुरून्०' आदि चतुर्थ अंक के मूर्धन्य पद्यों में एवं 'आलक्ष्य दन्तमुकुलाननिमित्तहासैः..... धन्यास्तदङ्गरजसामलिनी भवन्ति' (७/१७) तथा 'वसनेपरिधूसरे वसाना०' (७/२१) आदि पद्यों में। पर ठीक इसके विपरीत शब्दयोजना की गई है भय, उत्पात, क्रोध आदि भावों की अभिव्यक्ति में। 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं०' (१/७) 'तीव्राघात-प्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः०' (१/२०) 'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं०' (२/६) इत्यादि उनकी 'ओज गुणाभिव्यञ्जक पदावली का प्रतिनिधित्व करते हैं। सच पूछा जाये तो शाकुन्तल की भाषा का असली सौन्दर्य उसके पद्यों में नहीं अपितु गद्य में ही देखने को मिलता है। उसके छोटे-छोटे वाक्यों में जो गूढ़भावाभिव्यञ्जन की शक्ति निहित है वह स्वयं शाकुन्तल की अमरता एवं उसकी विश्व-प्रियता का रहस्य है। दूरान्वय दोष तथा अर्थ की खींचातानी से रहित छोटी-छोटी तथा सरल वाक्यावली से ही उभरता है शाकुन्तल का

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



समस्त कथानक। इसके प्रत्येक शब्द के साथ कथानक एक कदम आगे बढ़ जाता है। प्रथम अंक में ही शकुन्तला, अनसूया, प्रियंवदा और दुष्यन्त का वार्तालाप छोटे-छोटे वाक्यों में ही आगे बढ़ता है यहाँ तक कि शकुन्तला के जन्म की कथा भी खण्डशः एक-एक वाक्य से आगे बढ़ती है, दूसरे और चौथे अंक में बाह्य क्रिया-शीलन की कमी के कारण भाषा की गति भी कुछ मन्द हो गयी है जोकि भावों के संतुलित विकास के तथा सम्यक् आस्वादन के लिए नितान्त आवश्यक है। पर पाँचवे अंक में ज्योंही नाटक में क्रिया-शीलता की वृद्धि आयी है भाषा भी तदनुरूप ही गतिशील एवं चुस्त हो गयी है। पात्रों की उक्ति-प्रत्युक्तियों के साथ भाषा में भी उसी कोटि की तीव्रता एवं चुभन आ जाती है। दुष्यन्त और शार्ङ्गरव अथवा दुष्यन्त और शकुन्तला एवं शार्ङ्गरव और शकुन्तला के बीच जो कथोपकथन हुआ है वह कितना चुस्त एवं जानदार है यह उस मूल वाक्यावली से ही अभिव्यक्त हो सकता है :

शकुन्तला —(आत्मगतम्) किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति। (संस्कृत छाया)

राजा —किमिदमुपन्यस्तम् ?

शकुन्तला—(आत्मगतम्) पाठकः खलु वचनोपन्यासः।

शार्ङ्गरवः—कथमिदं नाम। भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां, जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते, प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥

राजा —किमत्र भवती मया परिणीतपूर्वा ?

शकुन्तला—(सविषादम्, आत्मगतम्) हृदय, सांप्रतं ते आशङ्का।

शार्ङ्गरवः किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।

राजा —कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

शार्ङ्गरवः—मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु॥ (५।१८)

राजा —विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

ऐसे ही एक और उक्ति-प्रत्युक्ति सुनिए—

शकुन्तला—भवतु। यदि परमार्थतः परपरिग्रहशंकिना त्वयैवं प्रवृत्तं तदभिज्ञाने—
नानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि।

राजा —उदारः कल्पः।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य) हा धिक्, हा धिक्! अङ्गुलीयकशून्या मेऽङ्गुलिः।

गौतमी —नूनं ते शक्रावतारान्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्ट-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



मङ्गुलीयकम् ।

राजा —(सस्मितम्) इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम् ।

शकुन्तला—अत्र तावद्विधिना दर्शितं प्रभुत्वम् । अपरं ते कथयिष्यामि ।

राजा —श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम् । इत्यादि ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की भाषा नाटक की दृष्टि से कितनी उपयुक्त है। जहाँ पर कथोपकथन में एकाधिक वाक्यों को भी रखना पड़ा है वहाँ इस बात का बहुत ध्यान रखा गया है कि वे छोटे-छोटे हों तथा प्रत्येक वाक्य किसी महत्त्वपूर्ण घटना का प्रतिनिधित्व करता हो। यहाँ तक कि पद्यों में भी इसी बात का ध्यान रखा गया है। उपर्युक्त पद्य इसका स्पष्ट प्रमाण है ऐसे ही इसी प्रकरण में 'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वं०' आदि पद्य भी है। नाटकीय भाषा की दृष्टि से शाकुन्तल का सप्तमांक, विशेषकर मरीचाश्रम का अंश दर्शनीय है। बालक पूछता है —'मातः, क एषः ?' उत्तर मिलता है— 'वत्स ते भागधेयानि पृच्छ'। कितना भोला सा प्रश्न ! और कितना व्यंग्य-भरा उत्तर ! है न कालिदास की भाषा का चमत्कार ?

**रस-विश्लेषण**

कालिदास का भारतीय आलोचकों ने 'रसेश्वरं नौमि च कालिदासम्' कह-कर स्मरण किया है। इन्हें 'रससिद्ध कवीश्वर' भी कहा जाता है। शृङ्गार-चित्रण में तो कालिदास से आगे कोई जा ही नहीं सका-यह एक स्वीकृत तथ्य है। जिस संयमित तथा जीवन्त रूप में कालिदास इसे प्रस्तुत कर सके हैं वह और कोई नहीं कर पाया है। उनके शृङ्गार पर अन्यत्र विस्तार के साथ विचार किया गया है अतः उस पर यहाँ विशेष कुछ नहीं कहना है तथा साथ ही करुण पर भी पृथक् रूप से प्रकाश डाला ही जा चुका है उस पर भी हमें यहाँ विशेष कुछ कहना न होगा। यहाँ पर तो हम संक्षेप में उन विशिष्ट स्थितियों एवं स्थलों की ओर संकेत करेंगे जिनसे कि शाकुन्तल में विविध रसों की स्थिति का संकेत मिलता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि शाकुन्तल का मुख्य रस शृंगार है। उसके दोनों ही रूपों–संयोग, विप्रलम्भ–का सभी अवस्थाओं के साथ इसमें विकास हुआ है। 'पूर्वराग' से लेकर 'व्याधि' तक की सभी अवस्थाओं का क्रमिक विकास शाकुन्तल में देखने को मिलता है। पर साथ ही बीच-बीच में अन्य रसों की भी ऐसी अविस्मरणीय झलक मिल जाती है जो कि पाठक के हृदय को रसा-भिभूत करने की पूर्ण सामर्थ्य रखती है। विशेषकर वात्सल्य, करुण और

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



को तो यत्र तत्र प्रस्फुटित होने का पर्याप्त अवकाश मिला है। प्रसंगत: भयानक, हास्य, रौद्र, अद्भुत, शान्त आदि को भी अवसर दिया गया है। इस प्रकार में शकुन्तला में अनेक रसों का सम्मिश्रण हुआ है।

शाकुन्तल के प्रथम तीन अंकों में संयोग शृंगार का जैसा मनोवैज्ञानिक विकास चित्रित किया गया है वह सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में और कहीं नहीं मिल सकता। प्रेम का अंकुर दो हृदयों में किस प्रकार फूटता है, वह किस प्रकार पल्लवित एवं परिवर्धित होता है और किस प्रकार उसकी बाढ़ से दो अज्ञात हृदय एक दूसरे के निकट खिंचे चले जाते हैं ? उसका स्थूल, शरीरिक रूप क्या होता है ? इन सब रूपों का जीवन्त चित्रण इन अंकों में किया गया है।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवसिनो यदि जनस्य।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ (६।१६)

(यदि वन में रहने वाली इस युवती का ऐसा रूप है जो कि रनिवासों में भी नहीं मिल सकता, तो कहना चाहिए कि जंगली लताओं ने अपने गुणों (सौन्दर्य) से उद्यान की लताओं को भी तिरस्कृत कर दिया।) जैसी अभिव्यक्तियों से राजा के मन पर सौन्दर्य के जादू की जो पहली झलक पड़ी थी वही —

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ (१/१८)

(शैवाल से लिपटा हुआ होने पर भी कमल सुन्दर ही होता है और कलंक से चन्द्रमा का सौन्दर्य भी बढ़ ही जाता है, यह सुकुमारी भी वृक्षों की छाल के कपड़ों में और भी अधिक सुन्दर लग रही है। सच है, रूपवानों को सभी कुछ सज जाता है।) जैसी उक्तियों में अपना प्रभाव दिखाने लगती है। चमत्कृत दृष्टि में अनुराग की लालिमा झलकने लगती है। अब आकर्षण का केन्द्रबिन्दु सामान्य से विशेष पर आ टिकता है। विशुद्ध सौन्दर्य की प्रशंसा अनुराग के राग से रंजित हो उठती है और इसका अनावृत रूप देखने को मिलता है —

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ (१/२१)

जैसी लालसा भरित उक्तियों में।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



और उधर भी उस 'परदेशी' को देखकर 'स्वयं फूट पड़ने वाले यौवन के प्रथम चरण में' जिस 'तपोवन विरोधी भाव' की हृदय में एक अभूतपूर्व अनुभूति हुई थी वह धीरे-धीरे अपने पैर फैलाता जा रहा है। हृदय के आवरण से निकलकर वह नेत्र, मुख, वाणी आदि पर छाने लगा है। यहाँ तक कि उस परदेशी को भी इसे भाँपने में देर न लगी। उसने जो कुछ देखा और उससे जो कुछ समझा वह उसी के शब्दों में प्रस्तुत है —

**वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः**
**कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।**
**कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना**
**भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः॥ (१/२८)**

(यद्यपि मेरी बातों में सम्मिलित नहीं हो रही है लेकिन जब मैं कुछ बात कहता हूँ तो कान लगाकर बड़े गौर से सुनती है। ऐसे ही यह ठीक है कि यह मेरे सामने आँख से आँख मिलाकर खड़ी नहीं होती पर फिर भी इसकी दृष्टि इधर उधर से घूम फिरकर फिर चुपके से मेरी ही ओर आकर चैन पाती है।)

दोनों ओर से 'अभिलाष' तीव्रतर हो उठा है। 'स्मृति' के रूप में उसका परिपोष करने के लिए जब प्रथम अंक के अन्त में अल्पकालिक वियोग की योजना होती है तो हम देखते हैं कि दोनों ओर से ही अनुराग इतना बढ़ चुका है कि एक को तो वहाँ से जाते हुए ऐसा लग रहा है जैसे कि 'शरीर तो उसका आगे बढ़ रहा है और बेचैन मन पीछे को दौड़ रहा है (**गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।**) और दूसरे की हालत यह है कि 'दूसरी ओर देखने के बहाने से स्नेहभरी दृष्टि से उसे देखे जा रही है, जाने के नाम पर पैर आगे बढ़ ही नहीं पा रहे हैं (२/२)। हो भी क्यों नहीं मदननारायण जी तो वहाँ पहले ही डेरा डाल चुके हैं। पहली बातचीत के दौरान ही बात यहाँ तक पहुँच गई थी कि परदेशी की आँखों से मिलते ही आँखे झुक जाती थी और बिना बात के भी कोई भी बहाना लेकर मुस्कराहट होटों को चूम जाती थी। यह तो उसका कन्या-भाव ही था कि उसने उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति पर विनय का पर्दा डाल रखा था अन्यथा छिपा हुआ तो कुछ भी न रह सका —

**अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।**
**विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः॥ (२/११)**

और जाती बार उसने उस परदेशी को और दो घड़ी आँख भरकर देखने के लिए जो चालाकियाँ, बहानेबाजी की उसे देखकर तो कहना पड़ेगा नारी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



छलना तेरा ही नाम है। देखिए न, बस मुश्किल से दो चार कदम गयी होगी कि पैर में काँटा चुभने का बहाना बनाकर बैठ गयी, फिर एक कदम आगे बढ़ी नहीं कि खुद ही अपने वल्कल वस्त्र को झाड़ियों में उलझाकर कनखियों से किसी को देखती हुई उसे निकालने में लग गयी —

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥ (२/१२)

मानव जीवन में 'काम' का वेग कितना प्रबल है, अवसर पाकर यह कितनी जल्दी जीवन पर छा जाता है—यह बड़े स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से कुशल कलाकार ने यहाँ दिखा दिया है।

प्रिया की ओर से प्रेम की ऐसी गूढ़ अभिव्यक्ति को देखकर प्रिय के हृदय में उसे पाने की आकुलता तथा उसे पा सकने वाले के सौभाग्य की सराहना स्वाभाविक ही है —

(अनाघ्रातं पुष्पम्० २/१०)

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'संयोग' तक पहुँचने से पूर्व प्रेम के समुचित विकास के लिए पर्याप्त अवसर की तथा उसे विकास की विविध अवस्थाओं से गुजारने की आवश्यकता होती है। कलापारखी कवि ने यही सब कुछ किया है। सम्पूर्ण द्वितीय अंक में इसके विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिल गया है। मिलन की आकुलता दोनों ओर से बराबर है। इसी आकुलता ने अब 'व्याधि' का रूप धारण कर लिया है। एक ओर 'कपोल सूख गये हैं, स्तन ढीले पड़ गये हैं, कमर पतली हो गयी है, कन्धे झुक गये हैं, चेहरा पीला पड़ गया है और काम व्यथा से उसकी दशा ऐसी ही हो गयी है जैसे कि पत्तों के सूख जाने से माधवी लता की हो जाती है[1] तो दूसरी ओर हालत यह है कि इसी चिन्ता में भुजा का सहारा लेकर रातें जाग-जाग कर व आँसू बहा-बहा कर काटी जाती है। जिसका फल यह है कि भुजबन्ध पर जड़े हुए मणि तो फीके पड़ ही गये हैं पर साथ ही दुर्बलता भी इतनी हो गयी है कि भुजबन्ध बार-बार खिसक कर कलाई तक जा पहुँचता है।[2]

अन्ततोगत्वा स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि काम एक को उसके लिए

---

१-२. ३/६, ३/११

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



रात-दिन तपाता रहता है[1] तो दूसरे को उसके लिए जलाता ही रहता है।[2] यही प्रेम वा शृंगार की वह आदर्श स्थिति है जहाँ 'संयोग' को अवसर मिलना चाहिए और कालिदास ने ऐसा ही किया भी है। लतावलय में जो कुछ हुआ, जिस संयम तथा व्यञ्जना के साथ हुआ, उस पर उनके शृंगार के संयत रूप पर विचार करते हुए प्रकाश डाल ही दिया गया है। अतः यहाँ विस्तार में न जाकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इतने उद्दाम 'काम' के जब पूर्ण होने का समय आया तो कालिदास ने कितने संयम से काम लिया—यह दर्शनीय है। कवि ने बड़ी ही कुशलता से प्रेम को 'चक्षुःप्रीति' से लेकर 'मिलन' तक पहुँचाया। यह दूसरी बात है कि कवि को ऐसा मिलन अभिमत न होने के कारण उसे पुनः वियोग शृंगार की तथा पुनर्मिलन की योजना करनी पड़ी। वह आदर्श है पर यह यथार्थ भी कम नहीं।

शृङ्गार का दूसरा रूप हमें चतुर्थ अङ्क से ही देखने को मिलने लगता है। 'परदेशी' प्रीति की रीति सिखाकर चला गया है और पीछे छोड़ गया है मिलन के क्षणों की मधुर स्मृति तथा उसके अभाव की मीठी कसक। प्रेम का जादू कि सारा संसार ही सिमटकर प्रियजन में समा गया है। उसी का चिन्तन, जैसे मानों संसार में न कुछ और दर्शनीय है और न चिन्तनीय। जीवन की सारी चुहल और उल्लास भी वह अपने साथ ले गया है। अब यहाँ फूल तो है पर उसकी शोभा, चमक-दमक फीकी पड़ गयी है, ठीक ही तो है प्रियजन के वियोग में अबलाजनों के लिए वियोग दुःख ही असहनीय हो उठता है।[3] इसीलिए 'अनन्यमन से' उसका चिन्तन ही जीवनाधार, जीवनसर्वस्व बन जाता है, यहाँ पर कालिदास ने विप्रलम्भ का शाब्दिक वर्णन न करके केवल व्यञ्जना से ही उसकी जो तीव्र एवं गहन अनुभूति करा दी है वह समस्त

---

१. तव न जाने हृदयं मम पुनः मदनो दिवापि रात्रावपि।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथानि अङ्गानि।। (३/१४)

२. तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशांकं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः।। (३/१५)

३. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीय शोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।। ४।३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



संस्कृत-साहित्य में बेजोड़ है। यद्यपि कवि ने प्रथम प्रिय-वियोग के इन क्षणों में शकुन्तला के मुख से विरहताप की व्यञ्जना के लिए एक भी शब्द नहीं कहलवाया है पर इस 'इष्टप्रवासजनित दुःख' की अभिव्यक्ति में उसके मुख से कुछ न कहलाकर भी उसकी अन्यमनस्क स्थिति एवं आत्मविस्मृति तथा च फलतः आतिथ्य के प्रति सर्वथा अनवधानता का निरूपण करके ही विरह-सन्ताप की अभूतपूर्व व्यञ्जना कर डाली है।

नायिकागत विप्रलम्भ की तीव्र झलक हमें चतुर्थ अङ्क में मिलती है तो नायकगत वियोग की षष्ठ अङ्क में। चतुर्थ अङ्क की शाब्दिक अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण कमी को यहाँ पूरा कर दिया गया है। अंगुलीयक दर्शन से प्रिया की जो स्मृति जागी तथा प्रत्याख्यान का जो पश्चात्ताप हुआ उसने क्षण भर में ही विकराल रूप धारण कर लिया। 'शुष्केन्धनाग्निवत्' दुष्यन्त के सारे जीवन, उसके समस्त कार्यकलापों पर वह छा गया। 'सुन्दर वस्तुओं से अरुचि हो गयी, प्रजारञ्जन के परम कर्त्तव्य से भी विरति हो गयी, करवट बदलते-बदलते ही सारी रात जागते हुए कट जाती है, रनिवास में यदि किसी को पुकारना होता है तो अनजाने ही मुँह से प्रिया का नाम निकल पड़ता है और फिर बड़ी देर तक अपनी इस दुर्बलता के लिए लज्जित भाव से सिर झुकाये रह जाना पड़ता है।'[1] इतना ही नहीं 'सभी प्रकार की शारीरिक साज-सज्जा से संन्यास से लिया है, केवल बाँये हाथ में एक सोने का कंकण पहना हुआ है, गरम-गरम विरहोच्छ्वासों से होंठ लाल हो गया है, प्रिया की चिन्ता में रात-भर जागते रहने से आँखें लाल हो गई हैं।'[2] 'अनुताप' हृदय को खाये जा रहा है (६/७)। 'लताओं में प्रिया की अनुहार खोजने का यत्न हो रहा है **(सखे कोपविष्टः प्रियायाः किंचिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि।)** आज तो उसकी याद उसे सर्वथा विवश किए डाल रही है **(प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि।)** और उन क्षणों की स्मृति तो विषैले बाण की भाँति हृदय में चुभ रही है जबकि छलिया प्रियतम के द्वारा छली जाकर वह निराश्रिता अपने साथियों के पीछे-पीछे चल पड़ी थी, पर गुरुतुल्य गुरु

---

१. रम्यं द्वेष्टि० ॥ (६।५)

२. प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितम्,
विभ्रत्काञ्चनमेकमेववलयंश्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ (६।६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



शिष्य ने उसे फटकार कर साथ ले जाने से मना कर दिया था। उस पर अन्तिम आशा के रूप में उसने आँखों में आँसू भरकर जो एक बार फिर ललचायी दृष्टि से उसे देखा था फिर तो 'स्मृति' के बाद 'मोह' की बारी आ गयी। अंगुलीयक से ही बातें होने लगी (६/११/१३) फिर 'गुणकथन' 'चित्ररचना' (६/१४,१५,१७) के द्वारा विनोद चल पड़ा। काल्पनिक संयोग की स्थिति बना ली गई (६/१८) 'गण्डस्थलों तक लटकने वाले शिरीष के कर्णाभूषण, तथा वक्षस्थल पर लहराने वाले शरच्चन्द्र मरीचि कोमल मृणालसूत्र' की व्यवस्था होने लगी। और अन्त में तो 'उन्माद' की ऐसी स्थिति आई कि चित्रगता प्रिया के बिम्बाधर पर बैठने की धृष्टता करने वाला भ्रमर भी ईर्ष्या और कोप का पात्र बन गया।[1] बस अब तो स्वप्न दर्शन या चित्र दर्शन ही एक मात्र संबल रह गया है (६।२२)।

विप्रलम्भगत नायक की दशाओं का ऐसा सम्पूर्ण एवं संश्लिष्ट निरूपण कालिदास की अन्य रचनाओं में भी देखने को नहीं मिलता, यहाँ तक कि भाव-तीव्रता एवं व्यञ्जना की दृष्टि से तो स्वयं मेघदूत भी इससे पीछे ही रह जाता है।

ऐसे ही नायिकागत विरह की एक दिव्य झाँकी दिखाई है हमें कालिदास ने चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में और उसकी दूसरी झाँकी दिखाता है वह हमें सप्तम अंक के अन्त में। पर यहाँ भी कवि ने उसके रूप को अभिधेय न बना-कर व्यंग्य ही रख डाला है। शकुन्तला के 'परिधूसर वसन' 'नियमक्षाममुख' और 'एकवेणी' तथा 'संस्कारहीन पाटलोष्ठपुट मुख (७।३३)' से ही हम उसके 'दीर्घ विरहव्रत' का अनुमान लगा सकते हैं।[2]

इन गिने चुने तीन चार शब्दों से ही किस प्रकार कालिदास ने शकुन्तला के ६ वर्ष के दीर्घकालीन विरहव्रत को साक्षात् रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित कर दिया है यह सर्वथा दर्शनीय है। नाटकीय दृष्टि से भी कवि ने कितनी कलात्मकता एवं मितव्ययता से यहाँ काम लिया है यह भी कम महत्त्वपूर्ण

---

१. अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद्भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥ (६/२०)

२. वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ (७/२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



नहीं, ऐसे क्षणों में अब शकुन्तला के विरही रूप का वर्णन करने के लिए अवकाश ही नहीं था और इससे पूर्व यदि कहीं उसका वर्णन आ जाता तो शकुन्तला विषयक सम्पूर्ण रहस्य का ही उद्घाटन हो जाता, फलतः नाटक का सारा आकर्षण ही समाप्त हो जाता। कालिदास ने इन दोनों की रक्षा कर ली है। साथ ही शकुन्तला के विरह की यह झाँकी देकर भारतीय आदर्शों की भी रक्षा कर ली है। शकुन्तला शास्त्रसम्मत विवाह-विधि के अन्तर्गत ही दुष्यन्त की प्रेयसी बनी थी। अतः वह उसकी विवाहिता पत्नी थी। पति के द्वारा प्रत्याख्यान कर दिये जाने पर भी वह अपने व्रत पर दृढ़ है और यही है उसके जीवन का संबल भी और उसके उत्थान का रहस्य भी। इसी से अन्त में दोनों वियोगियों का संयोग भी पूर्ण हो सका है।

इस प्रकार कालिदास ने शाकुन्तल में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को जीवन के सभी धरातलों पर बड़ी सूक्ष्मता तथा गहनता के साथ प्रदर्शित किया है। दोनों ही स्थितियों में संयम और सीमा का उल्लंघन नहीं; न संयोग में अश्लीलता की गन्ध आने पाती है और न वियोग में साधारण कोटिक रोने-धोने, चीख-पुकार की। सभी कुछ अधिकाधिक व्यंग्य एवं संयत एवं सुरुचिपूर्ण रखा गया है। क्योंकि शृंगार और हास्य परस्पर सहयोगी रस हैं अतः शाकुन्तल में शृंगार के साथ हास्य का अच्छा पुट दिया गया है। विशेषकर दूसरे और छठे अंक में इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, द्वितीय अंक के प्रारम्भ में ही हम पेटू विदूषक को खाने-पीने की परेशानी के कारण राजा के आखेट के शौक को कोसते हुए पाते हैं और शकुन्तला के प्रति राजा के आकर्षण ने तो उसकी घर लौटने की आशा पर ही पानी फेर दिया है। फिर लुञ्जपुञ्ज होने के उसके बहाने को देखकर तो हम उसके ढोंग पर स्वयं ही मुस्करा उठते हैं। इसके बाद उसकी प्रत्येक उक्ति हास्य का पुट लिए हुए है। राजा जब उससे कहता है कि 'आराम कर लेने के बाद आप जरा एक काम में मेरी भी सहायता करेंगे।' तो वह पूछता है—'क्या लड्डू खाने में? तब तो बड़ी खुशी की बात है।' सेनापति की बातों पर वह जो आक्षेप करता है वह भी कम विनोदजनक नहीं। राजा के द्वारा शकुन्तला के सौन्दर्य की प्रशंसा किये जाने पर वह कहता है—आपने भी खूब कहा, जैसे खूब खजूर खा लेने के बाद किसी का जी इमली खाने को कर आवे वैसे ही इतने उत्तम स्त्री रत्नों को पाकर अब आपका मन इस तपस्विकन्या पर रीझा है।' राजा जब उसके रूप की कुछ और प्रशंसा करता है तो वह कहता है कि 'तब तो रूपवती स्त्रियों

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



का देश-निकाला ही कर देना चाहिए।' इस पर भी राजा 'अनाघ्रातं पुष्पम्०' आदि कहकर उसके अनुपम सौन्दर्य की बात कहता है तो वह कहता है—'तब तो जल्दी से जाकर उस बेचारी का उद्धार कर लो, कहीं ऐसा न हो कि किसी घुटी खोपड़ी वाले बाबा के चंगुल में ही न फँस जाय।' इसके आगे भी उसकी उक्तियों में इसी प्रकार का व्यंग्य-विनोद प्रस्फुटित होता जाता है।

ऐसे ही छठे अंक में शकुन्तला के लिए अनुतप्त होते हुए राजा को देखकर वह कहता है—शकुन्तला की बीमारी ने इसे फिर आ घेरा, न जाने कब इसका इलाज होगा (**लक्ष्यते एष भूयोऽपि शकुन्तला व्याधिना, न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यति।**) इसके बाद फिर आम के बौर को देखकर व्यथित होते हुए (६/८) राजा को देखकर वह जब डण्डा लेकर आम के बौर की ओर दौड़ता है तो उसका यह कृत्य अनुताप-संतप्त राजा को भी सस्मित कर डालता है। इसी प्रकार चित्र रचना के प्रसंग में की उसकी उक्ति—'**यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः**' भी कम विनोदास्पद नहीं।

करुण की दृष्टि से यद्यपि शाकुन्तल का चतुर्थ अंक श्रेष्ठ समझा जाता है। इसमें सन्देह भी नहीं कि चतुर्थ अंक भी प्रत्येक पंक्ति में वियोग जन्य करुणा का सागर लहराता है। '**यास्यत्यद्य शकुन्तलेतिहृदयं०**' आदि में हृदय में जो उत्कण्ठा जागी थी, जो गला भर आया था वह बार-बार आँसू बहाकर भी हल्का नहीं हुआ। यद्यपि शकुन्तला को पतिगृह भेजकर महर्षि कण्व ने चैन की साँस ली, उत्तरदायित्व के भार को हल्का पाया (४/२२) पर पाठक के मन पर मूक मृगशावक, लतावृक्ष, तथा परवशा सखियों की वियोग व्यथा छाई ही रहती है। किन्तु शाकुन्तल की करुणा का पूञ्जीभूत रूप देखने को मिलता है हमें पाँचवे अंक के अन्त में। यहाँ पर करुण की अनुभूति जितनी तीव्र हो उठती है उतनी और कहीं नहीं। कितनी कारुणिक है यह कल्पना कि जिस परदेशी के प्यार में शकुन्तला ने आश्रम की व्यवस्था की परवाह नहीं की, पिता से भी बढ़कर महर्षि कण्व की अनुमति की भी परवाह नहीं की, मन में बड़ी-बड़ी कामनाएँ लेकर अपने जीवनभूत प्रकृति से नाता तोड़ा, सुख दुःख की संगिनी बालसखियों को छोड़ा वह व्यक्ति बिल्कुल अपरिचित बनकर, धर्म की दुहाई देकर उसका प्रत्याख्यान ही नहीं कर रहा है अपितु उसके चरित्र पर भी लांछन लगा रहा है, पर विवशता ऐसी कि वह सब कुछ देखती सुनती हुई भी कुछ कर नहीं पा रही है। ऐसी विपत्ति के क्षणों में जिन लोगों से

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कुछ सहानुभूति की आशा की आशा की जा सकती थी वे और भी क्रूर बनकर उस पर आघात करते हैं।[१] कितनी कारुणिक स्थिति है इस आसन्न प्रसवा मर्माहता नारी की। मानवों ने तो क्रूरता का परिचय दिया ही पर आज प्रकृति भी उसके प्रति क्रूर हो गयी है। वह पृथ्वी से अपनी गोद में समा लेने की प्रार्थना करती है (**भगवति वसुन्धरे ! देहिमें विवरम्**।) पर वसुन्धरा भी आज इस रत्न की पिटारी को स्थान देने को उद्यत नहीं। इससे भी अधिक अपमानजनक है पुरोहित का वह प्रस्ताव जिसके अनुसार उसे अपने प्रसव के द्वारा अपने चारित्र्य की शुद्धता का प्रमाण देना होगा। वस्तुतः कालिदास ने इतने थोड़े अंश में ही करुणा का ऐसा तीव्र उभार दिखाया है कि वह उतनी देर के लिए तो पाठक वा दर्शक के हृदय को द्रवीभूत किए बिना नहीं रहता।

यह तो है शाकुन्तल के मुख्य रसों की स्थिति, पर शाकुन्तल के सम्पूर्ण कथानक तथा विभिन्न रसों के बीच सामंजस्य बनाये रखने के लिए बीच-बीच में और भी अनेक रसों का निरुपण हुआ है। प्रथम अंक में '**ग्रीवाभङ्गाभिरामं०**' (१/७) आदि मृग वर्णन में तथा '**तीव्राघातप्रतिहततरुः०**' (१/३०) इत्यादि में वन्यगज के वर्णन में तथा तीसरे अंक के अन्त में राक्षसजन्य विघ्नों के वर्णन में (३/२५) भयानक का निरुपण पाया जाता है। ऐसे ही अद्भुत रस की स्थिति भी कई स्थानों पर पायी जाती है—चौथे अंक की आकाशवाणी तथा वनदेवताओं द्वारा प्रदत्त वस्त्राभूषणों के वर्णन, पंचम अंक के अन्त में दिव्य ज्योति द्वारा शकुन्तला के अपहरण तथा सप्तम अंक में सर्वदमन के प्रसंग में इसका रुप स्पष्ट है। राजा के द्वारा तिरस्कृत एवं अपमानित किए जाने पर शकुन्तला की उक्तियों में जो अद्भुत दीप्ति आ गयी है उसे रौद्र के अन्तर्गत ही रखा जा सकेगा। ऐसे ही बालक सर्वदमन को गोद में लेने पर दुष्यन्त के मुख से जो उद्गार निकले थे वे वात्सल्य के मधुरभाव से सराबोर हैं।[२]

---

१. यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलयात्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपिक्षमम॥ (६/२७)

२. आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमत्तहासै—
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रय प्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसामलिनीभवन्ति॥ (७/१७)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इस अकेले पद्य पर ही तो फ्रांसीसी कवि शेंजी कालिदास की रसाभिव्यक्ति पर लट्टू हो गया था। शान्तभाव की अभिव्यक्ति में भी शाकुन्तल का सप्तम अंक बेजोड़ है। मारीच ऋषि के आश्रम का समस्त वातावरण ही शान्त की शीतल धारा से सिंचित है। तभी तो इसे देखते ही दुष्यन्त के मुख से अनायास ही निकल पड़ता है—'स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्, अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।' और यहाँ के रहने वालों की स्थिति का तो मुकाबला ही क्या! क्योंकि वहाँ तो—

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥७/१२॥

सम्पूर्ण नाटक के परिवेश में इन विविध रसों की स्थिति पर विचार करने पर कालिदास की सम्पूर्ण रसयोजना का रूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है। किसी रसविशेष की स्थिति को कितनी देर बनाये रखना उचित है तथा उसकी एकरूपता को भंग करने के लिए कहाँ कौन रस सबसे अधिक उपयुक्त होगा इसके विषय में कालिदास निश्चित ही एक रससिद्ध कलाकार हैं।

**शाकुन्तल का काव्य–सौन्दर्य**

सर मोनियर विलियम्स का यह कथन बिल्कुल तथ्य ही है कि "कालिदास की किसी अन्य रचना में कवित्वप्रतिभा का इतना वैभव, कल्पना की उदात्तता, अभिव्यक्ति का चमत्कार, मानव मन का गहन बोध, उस की परिष्कृत एवं कोमलतम भावनाओं का ज्ञान, इसकी परस्पर विरोधी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से निकट परिचय और कहीं इतना अधिक देखने को नहीं मिलता जितना कि शाकुन्तल में। संक्षेप में यही सब कुछ उसे भारत के शेक्सपीयर का पद प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।"

शाकुन्तल का नाट्य-सौन्दर्य तो उच्चकोटि का है ही पर इसका काव्य-सौन्दर्य भी अद्भुत है। इसके काव्य–सौन्दर्य पर चाहे जितना लिखा जाय पर फिर भी कुछ लिखना शेष रह ही जायेगा। क्योंकि इसकी प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द में व्यंजना कूट-कूट कर भरी हुई है। प्रतिवार पढ़ने और मनन करने पर एक नया ही अर्थ सामने आता है। यही कारण है कि देश विदेश में इस अकेली कृति पर इतना लिखा जा चुका है कि उसको एकत्र करना भी सम्भव नहीं। अभी और भी बराबर लिखा जा रहा है पर प्रत्येक लेखक उसमें से कोई नवीन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



ही भाव निकाल कर सामने आता है। इसमें कालिदास के अन्दर का परिपक्व कवित्व एवं कलाकारित्व समुचित सामञ्जस्य के साथ सम्मिलित रूप में प्रतिफलित हुआ है। भावों की एवं अभिव्यंजना की बारीकियाँ देखने योग्य है। इनके शब्दों के चुनाव पर पीछे कुछ प्रकाश डाला ही जा चुका है, और भी बहुत कुछ उस पर कहा वा लिखा जा सकता है, पर प्रस्तुत प्रबन्ध के कलेवर में नहीं।

काव्य–सौन्दर्य के प्राणभूत रस के विषय में अभी ऊपर प्रकाश डाला ही जा चुका है। लेकिन शाकुन्तल में अभिव्यक्त रस–सन्दर्भों को देखने से हमें स्पष्ट हो जायेगा कि कालिदास केवल रसव्यंजना के लिए ही रसनिरूपण नहीं करते। उनका रस निरूपण प्रकृत घटना वा व्यक्ति के जीवन का अंग बन जाता है। उनके शब्द कितने गूढार्थ से परिपूरित होते हैं, यह भी हम देख ही चुके हैं। शाकुन्तल में काव्यगुणों का कैसा निर्वाह हुआ है, यह उनकी शैली के विवेचन में स्पष्ट किया गया है। केवल एक ही पद्य **गाहन्तां महिषा निपान-सलिलं०** शाकु० २/६) में आचार्य वामन ने किस प्रकार काव्यशास्त्रगत दसों गुणों का समावेश दिखाया है यह भी हम रीति प्रसंग में दिखा ही चुके हैं। अलंकारों के प्रसंग में भी हम उनकी उपमाओं पर विचार करते हुए दिखा ही चुके हैं कि शाकुन्तल में कालिदास ने उपमा के प्रयोग में स्थान, वक्ता आदि का कितना ध्यान रखा है तथा कितनी सुन्दर बन पड़ी हैं इसकी उपमाएँ। रघुवंश के बाद शाकुन्तल में ही उपमाओं का सबसे बड़ा भण्डार पाया जाता है। **'वत्से, सुशिष्यपरिदत्तेव विद्याऽशोचनीयासि संवृत्ता' 'मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्'** आदि में उपमा की कितनी सुन्दर योजना हुई है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। ऐसे ही **'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै :'** (शाकु० २/१०) आदि में रूपक, **'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति' 'क इदानीं सहकारमुज्झित्वाऽतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते' 'कोऽन्यो हुतवहादृघुं प्रभवति'** इत्यादि दृष्टान्त के रूपों में वक्ता, बोद्धव्य, स्थान, अवसर आदि का कितना ध्यान रखा गया है! अर्थान्तरन्यास तो कालिदास का संदेशवाहक अलंकार ही है—**'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्,' 'कामी स्वतां पश्यति,' 'न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्'** इत्यादि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसी भाँति **'ग्रीवाभङ्गाभिरामं०** (१/७), **'मुक्तेषु रश्मिषु निशयतपूर्वकायाः'** (१/९) तथा **'नीवाराः शुकगर्भ–कोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामध०'** (१/१४) आदि में स्वभावोक्ति का आदर्श रूप देखा जा सकता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वारीकी से छानवीन करने पर शाकुन्तल के एक-एक पद्य में क्या कुछ काव्यशास्त्रीय रत्नों का भंडार निहित होता है इसका विश्लेषण एक विद्वान् ने निम्नलिखित पद्य में इस प्रकार किया है—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वन्त्या पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ (१/२२)

"वक्तृप्रभृति वैशिष्ट्य की सहायता पाकर स्पर्श हेतु से आलिंगनेच्छा की अनुमिति व्यङ्ग्य है। सुतराम्, अनुमानालंकार व्यङ्ग्य होता है। "रहस्याख्यायीव" यहाँ असिद्धविषया वाच्य स्वरूपोत्प्रेक्षा है, और "मृदुकर्णान्तिकचरः" से चुम्बनेच्छा की अनुमिति होने से भी अनुमानालंकार व्यङ्ग्य है, भ्रमर पक्ष में "अन्तिक" पद स्वारस्य से "नेत्र हैं कि नीलोत्पल हैं" यह सन्देहालंकार भी व्यक्त होता होता है, 'रतिसर्वस्व" पद से अनुमेयोक्तिमूलक निरङ्ग अभेद रूपक है। और 'पिबसि' पद का यद्यपि 'पी रहा है' यह अर्थ है तथापि 'पीने को व्यग्र है" यह अर्थ भी वर्तमानसामीप्य मानकर होना उचित है, क्योंकि सहसा पान में "करौ व्याधुन्वन्त्याः" इन दो पदों का भाव बाधक हो रहा है। इन दो पदों से शकुन्तला का मुग्धात्व वस्तुव्यङ्ग्य है और पान सम्बन्ध न होने पर भी 'पिबसि' द्वारा पान कथन से असम्बन्ध में सम्बन्धमूलक अतिशयोक्ति अलंकार है, तथा भ्रमर में 'स्पृशसि, स्वनसि, पिबसि' इन तीन क्रियाओं के अन्वय से 'कारकदीपक' अलंकार है। यहां सन्देह द्वितीयानुमान का अंग है, दोनों अनुमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक-ये पाँचों परस्पर निरपेक्ष्य होने से इनकी संसृष्टि है, किन्तु कारकदीपक में सब अङ्ग होने से संकीर्ण हुए। भ्रमर-व्यापार में हठ कामुक व्यवहार के आरोप से हुई समासोक्ति में साङ्ग-रूपक अंग है, चतुर्थपादोक्त भ्रमर के कृतित्व में पूर्णचरणत्रयवाक्यार्थ की हेतुता से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गालंकार में समासोक्ति अङ्ग हुई है। 'हताः' शब्द द्वारा व्यञ्जित व्यतिरेक में समासोक्ति अङ्ग हुई है। ये सब शृंखला अंग हुई है विप्रलम्भ–भेद पूर्वराग में। व्यङ्ग्यों का यह संघर्ष भरतागम–मार्मिकों से तिरोहित नहीं है।'[1]

कालिदास के शब्दों में क्या कुछ छिपा रहता है। उनकी प्रत्येक उक्ति का

---

१. श्री दामोदरलाल गोस्वामी–का० ग्र०, खं० तीन पृ० ३७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



क्या गूढ़ रहस्य होता है इसका एक सुन्दर उदाहरण है शाकुन्तल के छठे अंक का वह पद्य जिसमें कि दुष्यन्त शकुन्तला के अधूरे चित्र को पूरा करने की बात कहता है।[1] इसके प्रत्येक शब्द से दुष्यन्त की मनोदशा किन-२ रूपों में अभिव्यक्त हो उठती है इस पर कालिदास की शैली अथवा वैदर्भी रीति पर विचार करते हुए विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उसे यहाँ दुहराना उचित न होगा। सहृदय पाठक उसे वहीं देख ले तो अच्छा होगा। शाकुन्तला के सौन्दर्य, कण्व की करुणा तथा दुष्यन्त के वात्सल्य के अभिव्यंजक पद्यों में कालिदास के काव्य के सभी विशिष्ट गुण किस प्रकार भरे पड़े हैं इसे पृथक् रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं। शाकुन्तल के दर्जनों पद्य ऐसे हैं जोकि अपनी सरसता एवं उदात्त काव्यात्मकता के कारण काव्यरसिकों के कण्ठहार बने हुए हैं। आलोचक के लिए कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है कि इनमें से किसे ले और किसे छोड़े। सभी तो रस की गागर हैं।

चतुर्थ अंक में कण्वशिष्य के द्वारा प्रभात-वर्णन के प्रसंग में कहा गया पद्य किस प्रकार दार्शनिक भावों से सम्पृक्त है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। संसार की वास्तविकताता का कैसा बिम्बग्राही चित्रण किया गया है :

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥ (४/२)

( एक ओर ओषधिपति (चन्द्रमा) अस्ताचल को जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने सारथी अरुण को आगे किये हुए भगवान् सूर्य उदित हो रहे हैं। एक साथ ही इन दो तेजःपुञ्जों का उदय और अस्त मानों संसार को सुख-दुःख की बदलती हुई दशाओं का उपदेश दे रहा है। ) जगत् की वास्तविकता पर अद्भुत प्रकाश डालने वाली उक्ति को कालिदास ने किस पात्र के द्वारा, किस अवसर पर, किस प्रकार से कहलाया है, यह काव्य और कला दोनों ही दृष्टियों से दर्शनीय है।

हम जानते हैं कि कालिदास का भाव जब अत्यन्त सघन हो उठता है तो वह सूक्ति का का रूप धारण कर लेता है। उपमाओं के समान ही शाकुन्तल उनकी सूक्तियों का भी बहुमूल्य भण्डार हैं। उनकी सूक्तियाँ कितनी व्यञ्जक तथा मनोवैज्ञानिक होती हैं इस पर भी उनकी सूक्तियों के विश्लेषण के प्रसंग

---

१. शाकु० ६/१७—'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना०' इत्यादि।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



में विचार किया गया है। उन्हें वहीं देख लेना ही उपयुक्त होगा।[1]

शाकुन्तल की छन्दोयोजना का भी एक विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार विविध रस, भाव, प्रकरणादि के अनुसार कवि ने शब्दों एवं वर्णों का चुनाव किया है वैसे ही रस और प्रसंग के अनुरूप ही इसमें छन्दों की भी योजना की गयी है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है :

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥

हम जानते हैं कि कालिदास अपनी काव्यरचना के प्रारम्भिक काल से ही छन्दों के चुनाव के विषय में बहुत सतर्क रहे हैं, और यह तो उनकी अन्तिम कृति है, इसलिए इसमें तो उनके काव्य और कला के अन्य पक्षों के समान, ही छन्दोयोजना भी बड़ी रस-भावानुसारिणी होनी ही चाहिए। विशेषकर 'आर्या' छन्द का जितना सुन्दर प्रयोग शाकुन्तल में हुआ है उतना और किसी रचना में नहीं पाया जाता। शकुन्तला के अद्वितीय सौन्दर्य की कल्पना में किस प्रकार एक एक विराम के साथ-साथ एक-एक कल्पना चित्र पूर्ण हो जाता है। यह केवल छन्द के चुनाव का ही चमत्कार कहा जायेगा।[2] ऐसे ही वत्सल पिता कण्व के अवरुद्ध कण्ठ से एक-एक शब्द कैसे रुक-रुक कर निकल रहा है यह भी निम्नलिखित पद्य के छन्दों विधान से स्पष्ट हो जायेगा —

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥ (४/६)

कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वत्र ही छन्दोयोजना इतनी अनुकूल हुई है कि कई बार तो अर्थ को पूर्णतः अवगत किये बिना ही केवल छन्द की लय से ही पद्य का भाव आभासित हो जाता है। पता नहीं कालिदास से पूर्व छन्दः-शास्त्र बन चुका था या नहीं पर छन्दः शास्त्र के आचार्यों ने छन्दोयोजना के लिए जो विधान प्रस्तुत किये हैं कालिदास का छन्दोविधान उनके साथ सर्वथा संगति रखता है। आश्चर्य नहीं कि कालिदास की छन्दोयोजना ने ही छन्दः-शास्त्र के विधायकों का मार्ग निदर्शन किया हो।

---

१ द्रष्टव्य, कालिदास की सूक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। कालिदास की कला और संस्कृति (१)

२. अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादितरसम्। इत्यादि (२/१०)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**चरित्र चित्रण**

शाकुन्तल में कालिदास की चरित्र-चित्रण की कला का श्रेष्ठतम रूप देखने को मिलता है। इसके पात्रों का चुनाव जीवन के विविध क्षेत्रों से किया गया है, प्रत्येक पात्र की अपनी विशिष्ट, सांस्कृतिक चारित्रिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि है और कवि ने उन सभी प्रभावों के बीच बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उनके चरित्रों को उभारा है तथा उन्हें वास्तविक जीवन के निकटतम रूप में उपस्थित किया है। यहाँ तक कि उनके नामों का चुनाव करते समय भी वह इनके विषय में बड़ा सावधान रहा है। अनसूया (अन् + असूया = ईर्ष्याहीन), प्रियंवदा (प्रिय + भाषिणी), शार्ङ्गरव (शार्ङ्ग + रव = धनुष की टंकार), शारद्वत (शारद् + वत् = शरच्चन्द्रिका के समान शीतल), सर्वदमन (सर्व + दमन = सबका दमन करने वाला) आदि। शाकुन्तल में उपर्युक्त पात्रों के चरित्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये नाम कितने सोच समझ कर रखे गये हैं तथा स्वयं में कितने सार्थक तथा व्यञ्जक है। दुष्यन्त, शकुन्तला, कण्व, मारीच, सखियाँ कण्व शिष्य, विदूषक, गौतम, धीवर, राजपुरुष, सर्वदमन आदि सभी जीवन्त पात्र है तथा प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है।

**दुष्यन्त** : शाकुन्तल के प्रथम अंक में ही उसने अपने पात्रों के चरित्रों को उभारने के लिए किस प्रकार स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक स्थितियों की योजना की है तथा अभिव्यक्तियों का सहारा लिया है यह शाकुन्तल के किसी पाठक से छिपा हुआ नहीं। **'ग्रीवाभङ्गाभिरामं०'** (१।७) **'यदालोके सूक्ष्मं०'** (१।९) **नीवाराः शुकगर्भकोटरमुख०'** (१।१४)' **'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि', 'तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः', 'पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे', 'तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत्'** जैसी उक्तियों के द्वारा शकुन्तला का प्रत्यक्ष होने से पूर्व ही हमारे समक्ष दुष्यन्त के सूक्ष्मदर्शी, दयालु, विनीत, श्रद्धावान्, विचारशील आदि गुणों का साक्षात्कार हो जाता है। उसकी सूक्ष्मनिरीक्षणशक्ति तथा उसे शाब्दिक अभिव्यक्ति प्रदान कर सकने की उसकी अप्रतिम प्रतिभा के हम अभी दर्शन कर ही चुके हैं। उसके प्रकाश में सहज ही देखा जा सकता है कि उसने प्रथम दृष्टि में उन आश्रमबालाओं को देखकर जो प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की (१/१६) वह स्वयं में कितनी पूर्ण होगी। हम देखते है कि **'अहो मधुरमासां दर्शनम्'** तक तो उसकी दृष्टि शुद्ध निर्मल है जो कुछ कहा गया है सौन्दर्यपारखी के रूप में कहा गया है पर **'यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि'** के प्रथम वाक्य से ही हमारे सम्मुख उसके

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



चरित्र के गिराव का रूप प्रारम्भ होने लगता है। कवि ने उसकी प्राप्ति के मार्ग में क्षण भर का संशय उत्पन्न करा कर एक दम ही उसका एकपक्षीय निराकरण करवा दिया है (१/२०) और फिर 'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती' (१/२१) के द्वारा उस ऋषिकन्या को उपभोगार्थ पाने की अनुचित लालसा भी जगा दी है। इसके बाद फिर अपना परिचय देते समय जान बूझ कर झूठ बोलते हुए 'भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहम्' कह कर उसने अपने पूर्ण पतनोन्मुखी होने का परिचय दे दिया है, उसकी इन उक्तियों से ही हमारे सम्मुख उसके चरित्र के दोनों पक्ष अनायास ही अभिव्यक्त हो उठते हैं।

उधर शकुन्तला के चरित्र को उभारने के लिए भी कवि ने बड़ी सुन्दर योजना की है। शकुन्तला और उसकी सखियों के वार्तालाप में ही उसका समस्त चरित्र धीरे धीरे खिलते हुए कमल की पंखुड़ियों के समान प्रस्फुटित हो उठता है। उसके मुख से निकलने वाले सर्व प्रथम वाक्य 'न केवलं तात-नियोग एव अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु' से ही हमें उसके प्रकृति प्रेम की झाँकी मिल जाती है। शकुन्तला में नव यौवन का उभार हो रहा है और वह इसके प्रति सचेत हो रही है इसकी प्रतिध्वनि भी —'अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियंत्रितास्मि' जैसे वाक्यों में मिलने लगती है। फिर केसर और नवमालिका के प्रसंग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शकुन्तला केवल यौवन की देहरी पर ही नहीं खड़ी है वरन् वह नारी और पुरुष के यौन सम्बन्धों के विषय में भी बिल्कुल अजनान नहीं। वह तथा उसकी सखियाँ 'लता-पादप-संयोग' को भली-भाँति समझती हैं। सब कुछ जानते हुए भी इस आश्रम-पालिता बाला के जीवन में जब प्रथम बार काम-विकार की भावना का प्रसार हुआ तो उसकी अनुभूति मात्र से वह कितनी विचलित हो उठी यह उसी की उक्ति— 'किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।' में स्पष्ट हो उठता है। भोली शकुन्तला अभी तक इस भाव से कितनी शून्य थी यह उसकी आश्चर्याभिव्यक्ति से ही हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। इसके बाद कवि ने इसी रूप में बढ़ते हुए अनुराग का जो निरूपण किया है उसके प्रकाश में शकुन्तला का बदलता हुए रूप हमारे सामने आने लगता है। शकुन्तला के जन्मादि से सम्बन्धित राजा और सखियों की बातों ने उसे बढ़ने का अवसर दिया। बात यहाँ तक बढ़ गयी कि अब बनावटी कोप आदि के द्वारा जिसे दबाये रखने का यत्न किया जा रहा था वह अभि-

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



व्यक्त होने लगा (२/२)। इस नूतन संसर्ग से उस नवयौवना, 'अप्रगल्भा तपस्विकन्या' में क्या प्रगल्भता आ गयी थी यह भी दर्शनीय है। जबतक सामने रही आँखें चुराकर उसे देखने का प्रयास करती रही; और इधर-उधर की बातों का सहारा लेकर मुस्कराती रही (२/११) और जब जाने का समय आया तो बहाने पर बहाना ढूँढती रही, थोड़ी देर ही सही उस चितचोर की छवि को निहारने के लिए। प्रथम दो अंकों के प्रकाश में यदि हम देखें तो हम देखेंगे कि इतने में ही दोनों प्रधान चरित्रों में कितना अन्तर आ गया है, और इस अन्तर को कितने स्वाभाविक ढंग से विकसित किया है कालिदास ने। दुष्यन्त के चरित्र का तो यहाँ तक गिराव हो चुका है कि वह अब शकुन्तला की रूपमाधुरी का आस्वादन करने के लिए इतना उतावला हो गया है कि सम्भव है कि यदि उसे ऋषियों के कोप और शाप का भय न होता तो वह शकुन्तला को बलात्कार से ही हस्तगत कर लेता (२/७), "न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः" के द्वारा कवि ने उसकी हृद्गत भावना को अभिव्यक्त करने में कमाल कर दिया है। मृगयाविनोद से विरक्ति हुई, सो तो हुई ही, पर वह तो राजधानी लौटने का भी नाम नहीं लेता ('साम्प्रतं नगर-गमनाय मनः कथमपि न करोति।') राजधानी से राजमाता का बुलावा आता है तो धर्मसंकट में पड़ जाता है, बहाने ढूँढने लगता है और कोई बहाना हाथ लगते ही झट से वहीं रुक जाने की योजना बना लेता है। इस बीच में भी हम उसे एक बार 'सखे न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते' कहते हुए सुनते हैं पर सब कुछ वैसे ही विदूषक को बहकाने का एक ढोंग सा लगता है जैसा कि द्वितीय अंक के अन्त में फिर किया गया है—

'क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहास विजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥' (२/१८)

हम जानते हैं कि शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला के चरित्र की उतार-चढ़ाव तथा उनका उदात्तीकरण ही कालिदास की मौलिकता का परिचायक है। महाभारत के इन दो पात्रों का कायाकल्प करने में ही कालिदास ने अपना समस्त नाटकीय कौशल प्रस्तुत किया है। इसलिए जहाँ तक शाकुन्तल का कथानक महाभारत के मूल कथानक के समानान्तर चलता है वहाँ तक कालिदास ने उनके मूल चारित्रिक गुणों को भी बनाये रखा है पर साथ ही उनके उदात्तीकरण की धारा को भी बराबर अन्तःप्रवाहित रखा है। इसी-लिए शकुन्तला को प्राप्त करने की कामना से पूर्व उसके हृदय में एक अन्त-र्द्वन्द्व उपस्थित हुआ है तथा 'सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमणमान्तःकरण—

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रवृत्तयः' जैसी निर्णायक उक्तियों का प्रादुर्भाव भी। उसके चरित्र के शील, विनय, श्रद्धा, भक्ति को कवि ने क्रम-क्रम से दिखा ही दिया है। उसके व्यक्तित्व के ऊपरी रूप को उभारने के लिए उसने उसके प्रति 'आर्तत्राणाय वः शस्त्रम्' 'दुर्विनीतानां शासितरि पौरवे' 'अनसूये को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते' 'वयस्य, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते' जैसी उक्तियों की योजना की है, जिससे कि गिराव की ओर जाते हुए चरित्र में भी ऊपर उठने का आभास बराबर बना हुआ है। तीसरा अंक दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों के पतन की चरमसीमा है। मालिनी तट के लताकुञ्ज में जो कुछ हुआ तथा 'लतावलय' को 'भूयः-परिभोग' के लिए जिस प्रकार आमंत्रित किया गया वह इन दोनों चरित्रों को सामान्य धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है। यहीं तक कवि ने महाभारत के दुष्यन्त और शकुन्तला का कुछ परिवर्तनों के साथ चरित्र चित्रण किया है, इसके बाद के दुष्यन्त-शकुन्तला कवि की अपनी सृष्टि है। कवि सौन्दर्य और भोग में विश्वास करने वाले दुष्यन्त को यहीं नमस्कार कर देता है। फिर उसके दर्शन कराता है पाँचवें अंक में। उसके प्रथम दर्शन में ही हम उसे 'अहो रागपरिवाहिनी गीतिः' कहकर संगीत की प्रशंसा करते हुए पाते हैं। इसके बाद का दुष्यन्त क्या होगा इसका आभास कवि हमें यहीं से कराने लगता है। वह 'अविश्रान्त रूप से लोकतन्त्र के अधिकार का पालन कर रहा है' 'अपनी प्रजा का अपनी सन्तान की भाँति पालन करता है (प्रजाः प्रजाः स्वा इव पालयित्वा)'। वर्णाश्रम की चिन्ता तो उसके रोम रोम में रमी हुई है। तपोवन से ऋषि आये हुए हैं यह सुनकर ही उसका मन आशंकित हो उठता है। (५/६)। 'अपने सुख की तो उसे कभी कोई कामना ही नहीं, लोककल्याण के कार्यों में ही थका रहता है—(स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः)' 'आत्तदण्ड होकर कुमार्ग-गामियों का नियन्त्रण,' प्रजा जनों के झगड़ों का निबटारा, उनकी रक्षा, भरण-पोषण आदि ही वे कार्य हैं—जिनसे उसे अवकाश ही नहीं (५/८)। स्वयं कण्व शिष्य शार्ङ्गरव भी स्वीकार करता है कि जीवन के निम्न स्तर का व्यक्ति भी इसके राज्य में कु.. गंगामी नहीं (५।१०)' शकुन्तला को देखकर प्रतीहारी ने जब 'ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते' कहा नहीं कि झट से प्रतिवाद हुआ —'भवतु, अवर्णनीयं परकलत्रम्'। फिर तो कवि ने उसके चरित्र को उठाने के लिए यहाँ पर अन्तर्द्वन्द्व की जो योजना की है वह सम्पूर्ण संस्कृत नाटय जगत् में अज्ञात है। एक रूप-यौवनसम्पन्ना

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



रमणी को उसके समक्ष प्रेमभिखारिणी के रूप में उपस्थित करके कालिदास ने उसके चरित्ररूपी सुवर्ण को जिस परीक्षा की आग में डाला है वह दर्शनीय है। उसके शील, सौजन्य और निष्ठा को एक चुनौती है जिसे कि वह स्वीकार करता है। यहाँ पर उसके धैर्य, धर्मनिष्ठा और संयम को देखकर तो प्रतीहारी भी चकित हो कर रह गयी है (**अहो धर्मावेक्षिता भर्तु:। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति।**)

प्रथम से तृतीय अंक तक का दुष्यन्त विलासी था कामुक था। उसमें तथा महाभारत के दुष्यन्त में कोई विशेष अन्तर नहीं था। वह नहीं जानता था कि सच्चा प्रेम क्या होता है तथा उसका मूल्य क्या है। ऐसा वासनालोलुप प्रेमी कालिदास के काव्य-जगत् के लिए गौरव की वस्तु नहीं हो सकता था, अत: उसके सच्चे प्रणयी के रूप को उभारा उसने छठे अंक में। अगूठी की प्राप्ति के साथ ही शकुन्तला विषयक स्मृति का जो प्रत्यावर्तन हुआ और उसने जो मन-स्ताप दुष्यन्त के लिए उत्पन्न कर दिया वह सम्पूर्ण छठे अंक पर छा गया है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान की स्मृति ने किस प्रकार उसके जीवन को दूभर कर दिया है, उसे जीवन और भोग से विरक्त कर दिया है इन सभी पक्षों का निरूपण कालिदास ने यहाँ भली भाँति कर दिया है (६/५,६,७,६,१६)। शकुन्तला तथा उसके प्रत्याख्यान की व्यथा उसके सम्पूर्ण जीवन पर छा सी गयी है। इसी भावावेश में उसके भीतर का सौन्दर्यान्वेषी कलाकार जाग उठता है और हृदय तूलिका पर उतर आता है (६/१७)। पर कालिदास की दृष्टि में व्यक्तित्व का एकपक्षीय विकास पर्याप्त नहीं। विरोधी भावों के संघर्ष के बिना किसी भाव का महत्त्व भी क्या ? अत: उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रेम और कर्त्तव्य अथवा व्यष्टिभाव तथा समष्टिभाव का संघर्ष हुआ। प्रथम सार्थवाह की धन-सम्पत्ति के प्रश्न को लेकर पुन: देव-दानव युद्ध को लेकर। उभयत्र ही प्रेम के समक्ष कर्त्तव्य की विजय हुई। पहले सम्पूर्ण दु:खी मानवजाति का बन्धु बनने की घोषणा हुई (६।२३) तो फिर दानवविजय के उपरान्त प्राप्त सम्मान को स्वीकृत करने के संकोच में। सप्तम अंक के अन्त में पश्चात्ताप संतप्त दुष्यन्त का जो निर्मल रूप व चरित्र उभरता है वह केवल शकुन्तला, अदिति, मारीच के ही अभिनन्दन का विषय नहीं अपितु समस्त मानवजाति के अभिनन्दन का विषय है। यही कारण है कि जहाँ महाभारत के दुष्यन्त को स्वयं भारतीय जनता भी स्वीकार करने को तत्पर नहीं वहाँ शाकुन्तल के दुष्यन्त को सारा विश्व ही अपनाने को तैयार है। पर यह सब

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



कुछ सम्भव हो सका है केवल कालिदास जैसे सिद्धहस्त कलाकार की लेखनी के द्वारा ही।

**कण्व और दुर्वासा :** क्योंकि शकुन्तला के सम्पूर्ण चरित्र पर हम पृथक् रूप में सविस्तार विचार कर रहे हैं अतः यहाँ उस पर विचार न करके हम कुछ अन्य पात्रों पर विचार करेंगे। चरित्रों को उभारने के लिए कालिदास ने जिस महनीय टेकनीक का आश्रय लिया है वह है पात्र-युग्मों की सृष्टि। शकुन्तल में ऐसे युग्मों के सहारे ही कालिदास ने अपने पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट किया है, कण्व-दुर्वासा, अनसूया-प्रियंवदा, शार्ङ्गरव-शारद्वत, धीवर-राजपुरुष आदि ऐसे ही पात्र हैं जिनमें कि हम एक के प्रकाश में दूसरे को देख सकते हैं। एक ओर तात काश्यप हैं स्नेह, क्षमा और दयालुता की प्रतिमूर्ति, अनाथों के नाथ तथा दूसरी ओर हैं प्रकृति-वक्र, सहजक्रोधी दुर्वासा। महर्षि कण्व के दर्शन यद्यपि हमें समस्त नाटक में केवल एक बार ही होते हैं पर उनका उदार व्यक्तित्व आदि से लेकर अन्त तक बराबर नाटक के वातावरण में छाया सा रहता है। नाटक के प्रारम्भ में ही शकुन्तला के दुष्टग्रहों की शान्ति के लिए वे इस वृद्धावस्था में इतनी लम्बी तीर्थयात्रा पर गये हैं यह सुनकर ही हमारा हृदय उनके वात्सल्यपूर्ण व्यक्तित्व के आगे श्रद्धावनत हो जाता है। स्वयं आजन्म ब्रह्मचारी होकर भी इस 'लोकानुग्रही' ऋषि ने अप्सरा की परित्यक्ता दुहिता को अपनाया। उसे माता का स्नेह व पिता का संरक्षण दिया, शिक्षा दी और गृहकार्य में दक्ष बनाया। 'वनौकस' होकर भी 'लौकिकज्ञ' जो थे। उसे ही नहीं और भी न जाने कितने प्राणियों का भार इस संसार से विरक्त संन्यासी ने लोकानुग्रह के लिए अपने कन्धों पर उठा रखा था। शकुन्तला के विवाह की चिन्ता थी गुरोः पुनरस्या अनुरूप वरप्रदाने संकल्पः; संकल्पितं प्रथममेव० (४।१३) वह तो अनायास ही जैसा चाहते थे वैसा हो गया (दिष्ट्या धूमाकुलित दृष्टेः०) पर अभी इन दो और कुमारियों को भी अनुरूप वरों को देने का भार बाकी है (इमे अपि प्रदेये)। चतुर्थ अंक में महर्षि कण्व के प्रत्येक शब्द में से उनके अन्दर का पितृत्व वा वात्सल्य छलकता सा दिखाई देता है। शकुन्तला को दी गयी उनकी अन्तिम शिक्षा भारतीय नारी के लिए युगयुगान्तर तक जीवन सम्बल बनी रहेगी।

उदारता की तो मानों वे जीवन्त मूर्ति है। जिस 'सखीगामी दोष' के कारण आज तात काश्यप के लौटने पर अनसूया अत्यन्त चिन्तित है, रातभर सो भी नहीं सकी, उसे ही अपनी 'मानसी सिद्धि' से जानकर वे क्षमा ही नहीं कर देते वरन् उस पर सन्तोष भी प्रकट करते हैं। हम देखते हैं कि उनकी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



इस अत्यधिक उदारता पर उनके परम रूक्ष शिष्य शार्ङ्गरव को भी शिकायत है (५/२०)। उनके इस स्वभाव की रक्षा के लिए ही लगता है कालिदास ने शकुन्तला को उसकी क्षिप्रकारिता पर प्रताड़ित करने के लिए अपने इस शिष्य को उनका प्रतिनिधि बनाकर (वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे) उसके साथ भेज दिया था। जो भी हो महर्षि कण्व का व्यक्तित्व अपनी वत्सलता व उदारता का सानी नहीं रखता।

ठीक इसके विपरीत महर्षि दुर्वासा यद्यपि हमारे सामने बिल्कुल भी प्रत्यक्ष नहीं होते लेकिन उनका 'सुलभकोप' तथा 'हुतवह' के समान 'दाहक स्वभाव (कोऽन्यो हुतवहादग्धुं प्रभवति) हमारे मन पर अपना प्रत्यक्षवत् प्रभाव छोड़ जाता है। चौथे अंक के प्रारम्भ से सातवें अंक के अन्त तक उसकी धूमिल छाया सी बराबर बनी रहती है।

**अनसूया और प्रियंवदा :** कालिदास ने जितना ध्यान नाटक के प्रधान पात्रों के चित्रण पर दिया है उससे कम लघु पात्रों के चरित्र-चित्रण पर नहीं प्रत्येक का अपना विशिष्ट रूप एवं महत्व है। गम्भीर, दूरदर्शी और व्यवहार-कुशल अनसूया तथा मधुरभाषिणी, अदूरदर्शी और विनोदप्रिय प्रियंवदा दोनों ही सखियाँ एक दूसरी की पूरक बनकर नारी स्वभाव की पूर्णता को व्यक्त करती हैं। नाटक में कई दृष्टियों से इनका महत्वपूर्ण स्थान है। शाकुन्तल के वस्तु-संयोजन में इन दोनों का विशिष्ट स्थान है। ये दोनों ही कालिदास की प्रतिभा से प्रसूत हैं। उसके द्वारा जहाँ कवि ने दुष्यन्त के प्रथम परिचय में शकुन्तला के शील की रक्षा की है वहाँ नाटक के वातावरण में संतुलन बनाये रखने में भी इनसे बहुत सहायता ली गयी है। शकुन्तला के चरित्र को उभारने में इनका बड़ा योगदान है। उसके जन्मादि का परिचय देने तथा दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम-प्रसंग को विकसित करने में इन दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं के सहारे शकुन्तला की कुमारीगत शालीनता की रक्षा हो सकी है। निश्छल और निःस्वार्थ प्रेम की प्रतिमूर्ति इन दोनों सखियों की एकत्रयोजना करके कालिदास ने नाटक को अत्यधिक गाम्भीर्य एवं अत्यधिक हास्य-विनोद की कोटियों से बचा लिया है। वातावरण में बराबर संतुलन बना रहता है।

शकुन्तला के जीवन-विकास में इन दोनों बाल सखियों का समान महत्त्व होने पर भी इन के स्वभाव में महान् अन्तर पाया जाता है। शकुन्तला और प्रियंवदा से आयु में बहुत बड़ी न होने पर भी अनसूया उनसे कहीं अधिक अनुभवी, गम्भीर एवं दूरदर्शी है। प्रारम्भ में ही हम शकुन्तला को अपना बन्धन

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



ढीला करने के लिए उसी से अनुरोध करते हुए सुनते हैं—'सखि अनसूये, अति-पिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि । शिथिलय तावदेतत् ।' कवि के इन शब्दों में ऐसी ध्वनि सी निकलती है जैसे कि मानों प्रियंवदा से मीठी मीठी बातें बनाकर उसे ऐसे बन्धन में डाल दिया कि उससे तो कभी मोक्ष ही सम्भव न था यह तो अनसूया की ही सूझ-बूझ थी कि तुरन्त प्रियंवदा को भेजकर दुर्वासा के 'अनन्त' शाप को 'सान्त' करवा लिया। अचानक ही एक अपरिचित को अपने बीच पाकर असमञ्जस में पड़ी हुई प्रियंवदा ने भी उसके बारे में जानने के लिए उसी से पूछा था—'अनसूये को नु खल्वेष चतुर गम्भीरा कृतिर्मधुरं प्रियमालयन् प्रभाववानिव लक्ष्यते ।' उसने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम को बढ़ने देने में जो योगदान किया उसका कारण यही प्रतीत होता है कि उसको इस बात का पता था कि 'गुरु ने शकुन्तला को अनुरूप वर को देने का संकल्प किया हुआ था' और यह अनुरूप वर कौन हो सकता है इसका भी शायद उसे पता था। इसीलिए तो भ्रमरबाधा के प्रसंग में शरारतभरी मुस्कराहट के साथ प्रियंवदा के स्वर में स्वर मिलाकर कह दिया था—'के आवां परित्रातुम् । दुष्यन्तमाक्रन्द ।' पर यह सब कुछ होने पर भी 'तात' की अनुपस्थिति में वहाँ जो कुछ हो गया था उसकी उसे ही सबसे अधिक चिन्ता है। हम देखते हैं कि 'सखीगामी दोष' और राजा के 'अनार्यचरित' की बात ने उसे किस प्रकार चिन्तित किया हुआ है। वह समझ नहीं पा रही है कि तीर्थ से वापस आये हुए 'तात' को वह क्या मुँह दिखाएगी। प्रियंवदा की शरारत से शकुन्तला का 'मदनताप' इस कोटि तक पहुँच गया था कि अब शकुन्तला स्वयं कहने लगी थी—'तद्यदि वामनुमतम् ..... अन्यथा सिंचितं मे तिलोदकम्' ऐसी स्थिति में और कोई उपाय न देखकर उसे सखी के प्राणों की रक्षा के लिए उसका अनुमोदन कर देना पड़ा था पर उसके परिणाम पर उसे जो व्यथा है, वह स्पष्ट झलक रही है उसकी उक्तियों में। यदि उसका हार्दिक अनुमोदन होता तो अब उसके मुँह से 'काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसन्धे जने शुद्धहृदया सखी पदंकारिता' जैसी आलोचना सुनाई न देती। अविवाहिता कन्या होकर भी उसने जिस संयत तथा व्यञ्जनात्मक रूप से शकुन्तला के जन्म का वृत्तान्त दुष्यन्त को सुनाया वह उसकी वाक्कुशलता का परिचायक है। उसकी दूरदर्शिता का परिचय हमें तब मिलता है जब वह कहती है—'अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्य-ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।' तात कण्व की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दृष्टि में भी वही अधिक गम्भीर एवं समझदार है। इसीलिए तो शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'अनसूये ! गतवती मां सहधर्मचारिणी। निगृह्यशोकं अनुगच्छत मां प्रस्थितम् ।' विदाई में अन्तिम क्षणों में शकुन्तला को दिया गया उसका उपदेश कितना सारगर्भित है यह दर्शनीय है। —'सखि मंत्रयस्व—

एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुः खमाशाबन्धः साहयति ।। (४।१६, संस्कृत छाया)

शकुन्तला के जीवन के लिए इसका महत्त्व 'शुश्रुषस्व गुरुन्' से किसी भांति भी कम नहीं।

इससे ठीक विपरीत स्वभाव वाली है प्रियंवदा, विनोदी, चुलबुली और चुस्त। यही थी जिसने कि शकुन्तला से "पयोधर विस्तारयित् आत्मनो यौवनमुपालम्भस्व।" कहकर उसे यौवनागम के प्रति सचेतित किया था, फिर केसर वृक्ष के पास जाने पर लता और वृक्ष के संयोग की बात को कहकर उसे किसी 'उपभोगक्षम' सहकार के सहारे के लिए उकसाया था, 'आत्मनानुरूपौ वर प्राप्त करने की भावना को जगाया था और चुटकी भरते हुए 'दुष्यन्तमाक्रन्द' कहने में अगवानी की थी। प्रियंवदा ही थी जिसने कि राजा को आमंत्रित करने ("तेन ह्यस्यां····· मुहूर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः") तथा उसकी झिझक को दूर करने (अलं विचार्य। अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम) में विशेष योग दिया था। यद्यपि शकुन्तला से बहुत बड़ी नहीं थी, प्रेम प्रसंग में भी कोई विशेष अनुभवी न थी किन्तु चतुर इतनी थी कि बात को बहुत जल्दी ताड़ जाती थी। प्रथम अंक में शकुन्तला के मन के भाव को ताड़ने में उसे देर न लगी। उसने देखा कि शकुन्तला यों ही वहां से जाने की बात कह रही है तो झट से कह दिया—'हला, न ते युक्तं गन्तुम्', इस पर जब 'किन्निमित्तम् ?' का प्रश्न हुआ तो तुरन्त कह दिया—"वृक्ष सेचने द्वे धारयत्ति'। अतिथि को सहानुभूति प्रकट करने का तथा 'अंगुलीयक' को इस युगल के जीवन में प्रवेश का मौका मिल गया, निगाह भी बड़ी तेज थी। यहां देखते ही अंगुलीयक से ही अतिथि का पता लगा लिया तो आगे चलकर राजा को देखकर ही उसकी बेचैनी और मानसिक व्यथा का पता लगा लिया ("ननु स राजर्षि····· प्रजागरकृशो लक्ष्यते") प्रथम अंक का सारा प्रसंग उसकी प्रकृति पर अच्छा प्रकाश डालता है। सूझ-बूझ में भी यह कम नहीं। शकुन्तला से मदनलेख लिखवाने की

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



योजना इसी की थी और इसी ने उसे राजा के पास भेजने की युक्ति भी सुझाई थी। प्रियंवदा ही थी जो कि 'लतावलय' से अनुसूया को बड़ी चातुरी के साथ निकालकर ले गयी थी तथा राजा को 'अनार्याचरण' के लिए अवसर प्रदान किया था और फिर किस चालाकी से गौतमी के वहां आने की सूचना दी थी("चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी), अपने इस वाक्-चातुर्य से ही वह 'प्रकृतिवक्र' 'सुलभकोपन' ऋषि को भी मना लेने में सफल हो जाती हैं। प्रियंवदा और अनुसूया की प्रकृति का सबसे बड़ा अन्तर दिखाई देता है चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में जबकि अनुसूया दुष्यन्त के विषय में आशंका प्रकट करती है तो वह बड़े विश्वास के साथ कह देती है—"विस्रब्धा शव, न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।" मानो कि अच्छी 'आकृति' ही सज्जनता का पक्का प्रमाणपत्र है। आचार्य चन्द्रबली पाण्डे की दृष्टि में 'शकुन्तला अनुसूया और प्रियंवदा क्रमश. ऋद्धा, मति और रति की प्रतीक हैं।'[1]

शार्ङ्गरव और शारद्वत : ऐसे ही दो अन्य परस्पर विरोधी चरित्रों की उद्भावना की है कालिदास ने शार्ङ्गरव और शारद्वत के रूप में। अनुसूया और प्रियंवदा के समान ही इनके नाम भी सप्रयोजन एवं व्यञ्जक हैं। ये दोनों पात्र भी परस्परविरोधी होते हुए भी एक दूसरे के पूरक हैं। शार्ङ्गरव यदि कठोरता एवं उग्रता का प्रतीक है तो शारद्वत शील और सौजन्य का। आचार्य चन्द्रबली पाण्डे के शब्दों में 'शार्ङ्गरव यदि 'तपोधन' है तो शारद्वत 'संयमधन'।' यदि प्रथम को हम दुर्वासा की प्रतिकृति कहें तो द्वितीय को कण्व का कहना होगा, शाकुन्तल के कथाविकास में शार्ङ्गरव का बड़ा महत्वपूर्ण योग है। यदि यह शीघ्रकोपी, स्पष्टवादी कण्व शिष्य इस दल का नेता न होता और बीच में ही आपे से बाहर होकर राजा को बुरा भला न कहता तो सम्भव था कि शान्त वातावरण में मामला सुलझ भी जाता। पर इससे न तो कथानक ही आगे बढ़ पाता और न शकुन्तला को ही वह फटकार व पश्चात्ताप मिल पाता जोकि कवि उसके लिए आवश्यक समझता है। आगे चलकर दुष्यन्त और शकुन्तला के चरित्र के उत्थान में शार्ङ्गरव की इस जल्दीबाजी से कितना लाभ हुआ यह शाकुन्तल के प्रशंसकों से छिपा हुआ नहीं। इसके जैसा निर्लेप चरित्र शायद ही कहीं देखने को मिल सकेगा। इसे न शकुन्तला के कुसुम कोमल हृदय की परवाह है ("इत्थंमात्मकृतं चापलं

१. कालिदास पृ० ३१७

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दहति' "यदि यथा·····दास्यमपिक्षमम् ५/२७) और न राजा के तेज और शक्ति की (५/२०, २५)। धर्म के नाम पर तो यह अपने कुलपति को भी टोकने से बाज नहीं आता)"भगवन् आदेकान्तं किव स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति नदिडं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति।")

शारद्वत को तो नाटक में अधिक बोलने का अवसर ही नहीं मिला पर जितना भी मिला उतने में ही उसने अपने शील का परिचय दे दिया। सच है कि इतने थोड़े शब्दों में इतना अधिक कार्य साधने वाला पात्र सम्पूर्ण नाटक में और कोई नहीं। राजदरबार में शार्ङ्गरव और दुष्यन्त के उत्तर-प्रत्युत्तर से स्थिति को अधिक बिगड़ती देखकर केवल एक वाक्य में ही सारी स्थिति को ही बदल दिया ("शार्ङ्गरव! किमुत्तरेण? अनुष्ठितो गुरोः निदेशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्।") उसकी सौम्यता एवं विवेक का इससे सुन्दर प्रदर्शन और नहीं हो सकता था। उसने तो पूरे सौजन्य के साथ युग-धर्म का निदेश कर दिया (५।२६) और स्थिति को अधिक बिगड़ने तथा सुलझने से बचा लिया। बस नाटक में उसका योगदान पूर्ण हो गया।

गौतमी : शारद्वत के समान ही गौतमी भी एक ऐसी ही पात्र है जिसके दर्शन हमें केवल दो अवसरों पर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए होते हैं पर कथा-नक के विकास में उसका भी महत्वपूर्ण योग है। 'लतावलय' में 'परिभोग' के कार्य में उसकी उपस्थिति से जो विघ्न उपस्थित हुआ था उससे नाटक के स्व-भाविक विकास के लिए कितना उपयुक्त अवसर मिल गया है यह कोई कला-पारखी बता सकता है। गौतमी ही उन दोनों के भेद की बात को जानती थी, अतः कवि ने उसे ही साथ भेज दिया। राजदरबार में उसने जिस बुद्धि-मत्ता, सहिष्णुता तथा सहानुभूति का परिचय दिया है उसके प्रकाश में उसका चरित्र स्वयं उद्दीप्त हो उठता है। कण्व यदि उस आश्रम के 'तात' हैं तो गौतमी उसकी 'माता'। उसके हृदय का मातृत्व शकुन्तला के प्रत्याख्यान के अवसर पर उमड़ पड़ा है।'

माढव्य : शाकुन्तल का माढव्य केवल परम्परागत विदूषक नहीं। यहां इसका योग केवल हास्य-विनोद की सृष्टि में ही नहीं नाटक की कथावस्तु के विकास में भी महत्वपूर्ण है। इसीकी उपस्थिति के कारण राजा का तपोवन निवास सम्भव हो सका है। अन्यथा राजमाता के सन्देश पर उसे स्वयं जाना पड़ता। साथ ही इसकी मोटी बुद्धि तथा पांचवे अंक की अनुपस्थिति से ही शकुन्तला का प्रत्याख्यान सम्भव हो सका है। अन्त में इसी की दुर्बलता

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



मातलि को राजा के प्रसुप्त तेज को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। वह विनोदी और पेटू तो है ही पर कई बार बड़ी बुद्धिमता का भी परिचय देता है। द्वितीय अंक में राजा को तपोवन में रुक सकने की तरकीब वही सुझाता है तथा षष्ठांक में बड़े अनुभव की बातें करता है—("न खलु मातापितरौ भर्तृवियोग दुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः।" "मैवम्, नन्वङ्गुलीयकमेव निदर्शनमवश्यंभाव्यचिन्तनीयः समागमो भविष्यति।")

ऐसे ही नटखट सर्वदमन, निर्धन किन्तु स्वजात्यभिमानी धीवर, चापलूस सेनापति, रिश्वतखोर राजपुरुष आदि के चित्रण में भी कवि ने बड़े कौशल का परिचय दिया है। प्रत्येक छोटे से छोटा सा पात्र भी कवि की अमर लेखनी का स्पर्श पाकर युगयुगान्तर के लिए अमर हो गया है। प्रत्येक पात्र के कार्य एवं उक्ति में इतना सामञ्जस्य रखा गया है कि उसमें से कुछ भी कम कर देने पर नाटक का सारा सौन्दर्य ही समाप्त हो जाता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (३)

# शकुन्तला : एक चारित्रिक विश्लेषण

कालिदास ने शकुन्तला को धाता की अद्वितीय सृष्टि कहा है (२/६) पर सच पूछा जाय तो यह बात कालिदास पर भी उतनी ही लागू होती है। कोई भी कलामर्मज्ञ कह सकता है कि शकुन्तला कालिदास की अद्भुत सृष्टि है। जर्मन कवि गेटे ने, फ्रांस के कवि शैजी ने, आंग्ल आलोचक सर मोनियर विलियम्स ने तथा भारतीय महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उसकी प्रशंसा में जो कुछ कहा है वह स्वयं भी इसी की पुष्टि करता है।

कठोर तपस्वी विश्वामित्र तथा परम रूपसी मेनका से शरीर लाभ करते ही इस दिव्य-मानवी को प्रकृति की शरण लेनी पड़ी। परम कारुणिक ऋषि कण्व के दृष्टिपथ में आने से पूर्व प्रकृति ने ही इस ऋषि के तेज और अप्सरा के रूप को अपनी गोद में सँजोकर रखा। महर्षि कण्व की देख-रेख में तथा उनके सान्निध्य में रहकर इसने अपना बचपन बिताया तथा आश्रम जीवन के तत्त्वों को आत्मसात् किया। कालिदास ने इस अभूतपूर्व रूप तथा चरित्र को प्रस्तुत करने में अपनी महनीय कल्पना तथा प्रतिभा का जो परिचय दिया है वह अन्यत्र तो क्या कालिदास की अन्य कृतियों में भी मिलना दुर्लभ है।

**सौन्दर्य की प्रतिमान :**

इस रूपराशि के चित्रण में कालिदास ने अपने सौन्दर्य के सभी मानदण्डों को तथा कल्पनाओं को मूर्तरूप दे डाला है। राजा दुष्यन्त प्रथम दृष्टि में ही इस अद्भुत सौन्दर्य को देखकर स्तम्भित रह जाता है। उसका यह विश्वास कि "राजमहलों में ही सौन्दर्य पलता है" एकदम हिल जाता है[1], यह ठीक भी था। शकुन्तला का सौन्दर्य सामान्य भौतिक सौन्दर्य न था। वह दिव्य, स्वर्गिक सौन्दर्य को लेकर ही इस धरा पर अवतरित हुई थी। उसके सौन्दर्य में तो वह "प्रभा तरल ज्योति' थी

---

१. शुद्धान्त दुर्लभमिदं.....उद्यानलता वनलताभिः ।। (१/१६)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



जो कि इस भौतिक जगत् का विषय ही नहीं हो सकती थी।[१] लेकिन इन सबसे भी ऊपर कालिदास उसमें जिस विशेषता को दिखाना चाहते हैं, उनके आदर्शों के अनुसार जो सौन्दर्य का मान्य मानदण्ड होना चाहिए वह है उसका अकृत्रिम सौन्दर्य—"अव्याजमनोहर वपु'। इसीलिए उसे किसी प्रकार की सज्जा या प्रसाधन की कोई आवश्यकता ही नहीं।[२] जिस रूप में कालिदास ने उस सौन्दर्य राशि को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है वह तो और भी अपूर्व है। उसे साक्षात् तो नहीं प्रतीक रूप में कहा जा सकता है कि वह 'नव विकसित कुसुम के समान टटका, नव किसलय के समान कोमल, रत्न के समान चमकीला, मधु के समान मधुर और देवता के समान पावन है'।[३] इस रूप का प्रतिरूप मानव–जगत् में तो नहीं, हाँ कहीं-कहीं प्रकृति–लोक में कवि को अवश्य ही दिखाई दे जाता है। वह नवमालिका के फूल की भाँति सुकुमार (नवमालिका कुसुम पेलवा) है, उसके होंठ किसलय के समान आरक्त हैं, भुजाएँ कोमल शाखाओं के समान हैं और समस्त शरीर में यौवन का ऐसे ही लोभनीय प्रस्फुटन है जैसे कि लता के शरीर में कुसुम का प्रस्फुटन होता है।[४] ऐसा था वह अलौकिक रूप संसार जिसे कि कालिदास ने अपनी मानस–दृष्टि से प्रत्यक्ष किया था। उसका स्वयं विचार है कि ऐसे अलौकिक रूप की रचना सामान्य स्थिति में सम्भव ही नहीं। अवश्य ही स्रष्टा ने सौन्दर्य प्रसाधनों के तत्त्वों को लेकर इसकी मानसी सृष्टि की होगी।[५]

**शालीनता तथा भीरुता :**

सौन्दर्य राशि के अक्षय भण्डार के समान ही शकुन्तला उदात्त गुणों की भी खनि है। उसमें नारी जीवन के सभी महनीय गुण भरे पड़े हैं। चरित्र की दृढ़ता एवं प्रकृति की दुर्बलता दोनों ही उसमें विद्यमान हैं। उसकी भीरुता ही राजा को उसके समक्ष प्रकट होने का अवसर प्रदान करती है। भीरुता का यही भाव तृतीय अंक में लता–कुञ्ज के दृश्य में भी पाया जाता है।

शालीनता तो भारतीय कन्या का जन्मजात गुण है। शकुन्तला में इसकी मात्रा पर्याप्त पायी जाती है। प्रथम अंक में ही दुष्यन्त को देखकर 'तपोवन

---

१. मानुषीषु कथं वा स्यात्·····उदेति वसुधातलात्॥ (१/२३)
२ किमिव हि मधुराणामण्डनं नाकृतीनाम्॥ (१/१९)
३. अनाघ्रातं पुष्पम्०·····। (२/१०)
४. अधरः किसलरागः·····यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥ (१/२०)
५. चित्रे निवेश्य·····वपुश्च तस्याः॥ (२/९)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विरोधी भाव' से ग्रस्त होने पर भी वह शालीनता के कारण उसे किसी पर व्यक्त नहीं कर पाती। राजा के द्वारा आत्म-प्रशंसा सुनकर और भी अधिक लज्जा से झुक जाती है, सम्पूर्ण प्रथम अंक में वह राजा से अक्षर भी नहीं बोलती, केवल तृतीय अंक में जाकर हम प्रथम बार उसे राजा से बोलते हुए सुन पाते हैं। शालीनता इतनी कि तब तक अपनी सहेलियों से भी अपने प्रेम की बात को व्यक्त नहीं किया जब तकिं ऐसा करने के लिए पूर्ण विवश न हो गयी। उसकी लज्जालु प्रकृति का तथा सहजात विनय का एक बड़ा जीवन्त चित्रण द्वितीय अंक में राजा दुष्यन्त के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[1] उसके स्वभाव की यह विशेषता हमें तब भी उसी रूप में दिखाई देती है जबकि वह एक पुत्र के मातृत्व तथा प्रौढ़ नारीत्व को प्राप्त हो चुकी होती है।[2]

**प्रकृति की पुत्री**

शाकुन्तल में शकुन्तला के साथ हमारा प्रथम परिचय ही प्रकृति-पुत्री के रूप में होता है। हम उसे प्रकृति की गोद में उसके लता वृक्षों के साथ व्यावहारिक तथा वाचिक सभी रूपों में स्नेहाभिव्यक्ति करते हुए पाते हैं। उनके प्रति उसके हृदय में ऐसा सहज स्नेह है कि वह उसके विरुद्ध कुछ भी सुनना नहीं चाहती।[3] वस्तुतः उसने प्रकृति के साथ अपने आपको एकाकार कर लिया है। न केवल शकुन्तला का उनके प्रति सौन्दर्यभाव है अपितु वे भी उसके प्रति ऐसा ही स्नेह रखते हैं। अपने निकट उसके लिए एक सुयोग्य वर को आए हुए देखकर केसर वृक्ष अपनी पत्तियों को हिला-हिला कर उसे अपने पास बुलाता है।[4] वह भी तुरन्त उसके संकेत को समझ जाती है और उसकी ओर चल पड़ती है। वन ज्योत्स्ना तो उसे सगी बहिन से भी अधिक प्यारी है। उस कुसुमिता लता का अनुरूप सहकार के साथ संयोग देखकर तो वह फूली नहीं समाती'[5] वह अब परिणीता है और उसने स्वयं अपने अनुरूप पति का वरण किया है अतः आज छोटी बहिन के लिए भी अनुरूप वर आया हुआ देखकर अपने थाँवले में बैठे हुए भौंरे को इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रेरित कर देती है।

प्रकृति के प्रति उसका प्रेम अनन्त और अगाध है। चतुर्थ अंक में यह

---

१. अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितम्·····न च संवृतः ॥ (२/११)
२. हिअआमि अज्ज उत्तेण सह गुरु समीवम् गन्तुम् ॥ (अंक ७)
३. न केवलं तात निओओ एव्व अत्थि मे सोदरसिणेहोवि एदेसु ॥ (अंक १)
४. एसो वादेरिद पल्लवाङ्गुलिभि·····केसर रुक्खओ ॥
५. नव कुसुम जोवणा·····सहआरो ॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। यहाँ तक कि इस स्नेही प्रकृति से नाता तोड़कर प्रिय के पास जाना भी उसके लिए एक समस्या बन जाता है।[1] तपोवन की प्रकृति के सभी जड़-चेतन रूपों के साथ उसका एक गहरा लगाव हो गया है। वस्तुतः उसके लिए तो प्रकृति का जड़ रूप है ही नहीं, उसके इसी स्नेह को व्यक्त करते हुए महर्षि कण्व बतलाते हैं कि वह वृक्षों को जल पिलाकर ही स्वयं पानी पिया करती है, अलंकरणों से प्यार होने होने पर भी अपने आपको सजाने के लिए कभी भी उनकी पत्तियों और कोपलों को नहीं तोड़ती, और उनके कुसुमित होने पर तो उसके हर्ष का ठिकाना ही नहीं रह जाता।'[2] उसके इस सहज दिव्य स्नेह ने तो प्रकृति को भी उसके प्रति इतना ही संवेदनशील बना दिया है। उसकी विदाई का समाचार पाते ही हिरनियाँ घास चरना छोड़ देती हैं, मोर नाचना छोड़ देते हैं और लताएँ पीले-पीले पत्तों के बहाने आँसू बहाने लगती हैं।[3]

उसके विदाई के इन क्षणों में समस्त तपोवन ही भावविभोर होकर व्याकुल हो उठता है। वनज्योत्स्ना और गर्भभरालसा मृगी के प्रति अभिव्यक्त उसकी स्निग्धोक्तियाँ करुणा के इस वातावरण को अत्यधिक गहन बना डालती हैं।[4] बेचारे मृगछौने की तो आज धाय माँ तो क्या साक्षात् माँ ही जा रही है। उसका दुःख तो अनिर्वचनीय है अतः वह तो चुपचाप आँखों में आँसू भरे उसके आँचल के छोर को पकड़े बैठा है।[5] उसके भोले मुख को देखकर तो माँ शकुन्तला भी अपने आँसू नहीं रोक सकी। बलवत् रोका हुआ हृदय का गुब्बार फूट ही पड़ा।[6] स्नेह, श्रद्धा, शुचिता, विश्वास, विनय तथा आत्मत्याग का जो उदात्त रूप हमें शकुन्तला में देखने को मिलता है वह वस्तुतः प्रकृति की ही देन है। उसकी विदाई के समय वनदेवियाँ उसे वस्त्राभूषण प्रदान करती हैं।[7]

---

१. अज्जउत्त दंसण समुस्सुआए वि·····पवत्थन्ति ॥ (वही अंक ४)

२. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं·····सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ (वही ४/९)

३. उग्गत्विअदम्भकवला·····अस्सू वि अ लदाओ ॥ (४/१२)

४. (i) वणजोस्सिणी चूदसंगदा त्रि·····भविस्सम् ॥
(ii) ताद एसा उडअ पज्जन्त चारिणी·····विसज्ज इस्सह ॥ (४)

५. यस्य त्वया·····मृगस्ते ॥ (४/१४)

६. वच्छ किं सहवास परिचाइणीं·····निवत्तेहिदाव ॥ (४था अंक)

७. क्षौमं केनचित्·····प्रतिद्वन्द्विभिः ॥ (४/५)

Devavani Parishad New Delhi .

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



तथा उसके मंगलमय जीवन के लिए विविध प्रकार की शुभकामनाएँ भी करती हैं ।[१]

मुग्धता

प्रकृति की पुत्री में मुग्धता का होना स्वाभाविक ही है, शकुन्तला के जीवन में आश्रम जीवन की स्निग्धता एवं मुग्धता पूर्णतया अनुप्राणित हो गयी थी। आश्रम के स्वच्छ शान्त और निर्मल वातावरण के बीच उसका प्रथम दर्शन ही हमारे मन पर उसके भोलेपन की गहरी छाप डाल देता है। किन्तु हम देखते हैं कि उसके इस शान्त और भोले जीवन को अचानक ही प्रतिकूल भावों का सामना करना पड़ता है। एक अजनबी की प्रथम दृष्टि ही उस शान्ति के बीच कुछ हल-चल पैदा कर देती है। युवा होते हुए भी वह अब तक काम के प्रभाव से सर्वथा विरहित थी। भोली मृगी के समान उसका हृदय सर्वथा अनावृत था अतः वह सरलता से ही काम के बाण का शिकार हो गया।

पर स्मरण रहे कि उसकी मुग्धता अज्ञता से उद्भूत न थी, प्रकृति की पुत्री होने के कारण वह प्रकृति की उन सभी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से भली-भाँति परिचित थी जोकि पावन थीं और जीवन के शाश्वत तथ्यों के निकट थीं। हम देखते हैं कि प्रियंवदा के द्वारा 'स्तन विस्तार' के परिहास पर वह लजा उठती है। दो युवा हृदयों के मिलन में जो उल्लास और आनन्द निहित होता है उससे वह अनभिज्ञ नहीं थी यह उसके उस कथन से पुष्ट हो जाता है जो-कि उसने 'नव कुसुमिता वन ज्योत्स्ना तथा उपभोग क्षम सहकार' के मिलन के अवसर पर कहे हैं।[२] इस वनस्पति युगल के मिलन के प्रति अभिव्यक्त उसके अनुरागपूर्ण वचन स्वयं उसके हृदय के भावों को ही अभिव्यक्त करते हैं। इस अवसर पर किया गया प्रियंवदा का परिहास भी सर्वथा निर्मूल नहीं।[३] अब शकुन्तला अपने यौवन की देहरी पर खड़ी है और बहुत सम्भव है कि उसके मन में भी किसी उपभोगक्षम युवा के संगम के लिए उत्सुकता हो। और हम देखते हैं कि ऐसे ही किसी युवा को देखकर उसका हृदय दोलायमान हो उठता है और 'तपोवन विरोधी भाव' के रूप में उसकी स्पष्ट अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि शकुन्तला सांसारिकता में चतुर नहीं, शीघ्र ही अपने भोलेपन से

---

१. महादेई क्षद्दम् लहेहि; वीर पसविणी होदि इत्यादि ।। (वही)
२. हला रमणीए क्खु काले·····उवभोअक्खमो सह आरो ।। (अंक १)
३. जहा वनजोसिणी·····अनुरूपम् वरम् लहे अम्' इति ।। (वही)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



काम के जाल में फँस जाती है पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह इस प्रकार के प्राकृतिक वा सांसारिक सम्बन्धों से सर्वथा अनभिज्ञ थी। सन्देह नहीं कि अपने इसी भोलेपन के कारण उसे संकट में पड़ना पड़ा पर अन्ततोगत्वा उसके हृदय की यही शुद्धता एवं पावनता थी जिसने कि ऐसे निर्मम क्षणों में भी उसे ढाढस बँधाए रखा तथा उसके जीवन को विशीर्ण होने से बचा लिया।

**प्रेम का विकास**

शकुन्तला के जीवन में हमें प्रेम के विकास की जिन अवस्थाओं के दर्शन होते हैं उन्हें अंकुरण, प्रदर्शन, तीव्रता और पूर्णता इन चार स्वाभाविक अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है।

**(१) अंकुरण :**

भोली-भाली शकुन्तला प्रथम आघात में ही काम के वाण की शिकार हो जाती है। राजा के प्रथम दर्शन से ही उसके हृदय में प्रेम के बीज का वपन हो जाता है और उसे अंकुरित होते देर नहीं लगती। किन्तु कालिदास ने चाह और लज्जा के मानसी संघर्ष को बड़ी सुन्दरता के साथ उसके जीवन में दर्शा दिया है। प्रेम की शारीरिक अभिव्यक्ति का सुन्दरतम रूप हमें शकुन्तला में देखने को मिलता है।

हम देखते हैं कि भोली–भाली शकुन्तला बिल्कुल अनजान सी बनकर बड़ी चतुरता से अपनी सखियों से भी अपना प्रेम छिपाने के लिए सचेष्ट हो उठती है। इस दृष्टि से शाकुन्तल के प्रथम अंक का वह संवाद बड़ा ही सुन्दर है जिसमें कि सखियाँ आज पिता कण्व के वहाँ न होने का दुःख प्रकट करती हैं और शकुन्तला उनके व्यङ्ग्य को समझकर बनावटी कोप से उनकी शरारत-भरी बातें न सुनने और वहाँ से चले जाने की बात कहती है।[1]

**(२) प्रदर्शन :**

हम देखते हैं कि ऊपरी तौर पर तो वह राजा के साथ हो रही सखियों की बातचीत के प्रति अरुचि सी प्रकट करती है और कुपित होकर वहाँ से चली जाना चाहती है किन्तु हृदय से वह उन्हें चाहती है और वहाँ से जाने के प्रति मन्दोत्साह भी है।[2] और जब उसे जाना ही पड़ता है तो वह किस प्रकार विलम्ब के लिए मधुर छलना करती है यह सर्वविदित ही है। उभरते हुए

---

१. हला सउन्दले जदि तादो·····सुनिस्सम्॥ (अंक १)

२. यदि·····गन्तुम् प्रभवामि॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



यौवन तथा फूटते हुए प्रेम ने अपने प्रथम परिचय में ही उसे सिखा दिया है कि वह पाँव में कुश की नोक के चुभ जाने तथा उत्तरीय के झाड़ी में उलझ जाने का बहाना करके अपनी कन्यागत शालीनता की रक्षा करते हुए भी प्रेम की अभिव्यक्ति तथा दर्शनलालसा की पूर्ति के लिए अवसर निकाल सकती है।[1] कन्यकाजनसुलभ लज्जाभाव की रक्षा करते हुए किस प्रकार उसका नवांकुरित प्रेम प्रदर्शनीय हो गया था इसकी एक और सुन्दर अभिव्यक्ति दुष्यन्त के उस संस्मरण में मिलती है जिसमें कि है वह कहता है कि वह छिप-छिप कर मेरी ओर झाँक लिया करती थी, किसी भी बहाने हँस दिया करती थी, प्रत्यक्षत: मुझसे वाग्व्यवहार तो नहीं करती थी किन्तु मेरी बातों को विशेष रुचि के साथ सुना करती थी, इत्यादि।[2] अत: हम देखते हैं कि उसके भोलेपन, बनावटी कोप, बहानेबाजी सभी से उसके हृदय में विकसित होते हुए स्नेह की ही अभिव्यक्ति होती है।

डा० डे का कथन ठीक ही है कि "तपोवन के शान्त, एकान्त और संयमित जीवन में उसका पालन, पोषण होने पर भी यौवन और सौन्दर्य से उद्भूत प्रेम और आनन्द का भाव स्वाभाविक रूप से उसके अन्तस् में विद्यमान था। ऋषि द्वारा पालिता ऋषि की कन्या होने पर भी वह उस अप्सरा की सन्तान थी जिसने कि एक बार अपने मादक सौन्दर्य से परम तेजस्वी विश्वामित्र की कठोर तपस्या पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। सौन्दर्य की इस अजेय शक्ति को उसने अपनी मां से दाय में प्राप्त किया था तथा साथ ही उसमें प्रेम की सहजात भावना एवं उत्कण्ठा भी विद्यमान थी। क्या वह स्वयं भी इस महाराजा को विजित करने में प्रवृत्त नहीं ? क्योंकि ऐसे भरपूर यौवन से युक्त प्रेमियों में प्रेम अनागत की नहीं वर्तमान को ही देखता है।"[3]

**(३) तीव्रता :**

हम देखते हैं कि काम से अत्यधिक पीड़ित होने पर भी शकुन्तला की नारीसुलभ शालीनता अपनी सखियों के प्रति भी तब तक अपने हृदयस्थ भाव को अभिव्यञ्जित नहीं होने देती जब तक कि उसका जीवन संकट में नहीं पड़ जाता और सखियों का अनुरोध अपरिहार्य नहीं हो जाता।[4] उसकी सखियों के

---

१. दर्भाङ्कुरेण चरण·····द्रुमाणाम्॥ (२/१२)

२. अभिज्ञानशाकुन्तल १/२८; २/११

३. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० १४४

४. सहि जदो पहुदि·····एतदवत्थाम् हि संवुत्ता॥ (अंक ३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



द्वारा उसकी शारीरिक दशा का जो निरूपण किया गया है[1] उसने स्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रेम किस स्तर को पहुँच चुका है। यहाँ तक कि दुष्यन्त के लिए भी वह अब अनभिव्यक्त नहीं रहती।[2] मदनपीड़ा की असह्यता तथा सखियों का अपरिहार्य आग्रह ही उसे अपने हृदय के रहस्य को अभिव्यक्त करने के लिए बाध्य करता है, प्रिय से प्रेम की भीख माँगने के लिए विवश करता है।[3]

किन्तु हम देखते हैं प्रेम-पीड़ा की तीक्ष्णता ने धीरे धीरे शकुन्तला के जीवन की मुग्धता एवं भीरुता पर विजय पानी प्रारम्भ कर दी है। लताकुञ्ज में सपत्नियों के प्रति अभिव्यक्त ईर्ष्याभाव तथा मामूली प्रारम्भिक विरोध के बाद दुष्यन्त की विलासभावना के सम्मुख झुक जाना तथा लताकुञ्ज से जाते समय छिप जाने का आग्रह करना एवं लताकुञ्ज को सम्बोधित करके उसे पुनः सम्भोग के लिए आमन्त्रित करना[4] इत्यादि इसके जीवन्त प्रमाण हैं। शकुन्तला की इस अन्तिम अभिव्यक्ति पर स्वर्गीय डा० डी० एल० राय ने बड़ा ही आक्षेप किया है। इसके लिए उन्होंने इसके शरीर में निहित अप्सरा के रक्त को दोषी ठहराया है तथा उसे प्रेम की भिखारिणी कहकर उसकी भीख को मिराण्डा की भीख से निम्न कोटि का ठहराया है।[5] किन्तु वस्तुतः स्थिति इतनी निम्न नहीं। हमें भूलना नहीं चाहिए कि प्रेमपीड़ा से दग्ध होने पर भी शकुन्तला शारीरिक मिलन के लिए दुष्यन्त को पूर्ण सबल शब्दों में सचेत करती है[6] और आमन्त्रण की स्थिति तब आती है जबकि लताकुञ्ज में दोनों की स्वीकृति से उनका गान्धर्व-विवाह सम्पन्न हो चुका होता है, ऐसी स्थिति में युवा-प्रेमियों की ऐसी संकेताभिव्यक्ति स्वाभाविक ही होगी। यद्यपि प्रथम और अन्तिम स्थितियों के बीच स्वाभाविक विकास के लिए अवकाश पर्याप्त नहीं मिल पाया है।

**(४) पूर्णता :**

शकुन्तला को प्रेम की प्राप्ति जितनी सरलता से हो गयी थी उसकी पूर्णता

---

१. हला सउन्दले अणभन्तरा·····तादिसीं ते पेक्खामि ।' (वही)
२. क्षाम क्षाम कपोल·····लता माधवी ।। (३/८)
३. तं जा वो अनुपदम्·····अनुकम्पनिज्जा होमिः तुज्झ न जाणे० (३/१४)
४. लदा वलअ सन्दावहारअ आमन्तेमि तुमं भूवो वि परिभो अस्स।
५ द्रष्टव्य-कालिदास और भवभूति (हिन्दी अनुवाद) (पृ० ७०–७१)
६. पौरव : रक्ख विणाअम्·····अत्तणो पहवामि ।।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



के लिए उसे उतनी ही अधिक साधना करनी पड़ी। बिना सोचे समझे कार्य के लिए पोष्य पिता की स्वीकृति तो सरलता से मिल गयी पर तपोवन के प्रतीक तप और ब्रह्मचर्य ने उसे इसके लिए दण्डित किया, अभिशप्त किया। उसका भरपूर यौवन और अलौकिक सौन्दर्य भी उसकी रक्षा करने में असमर्थ हो गया, अतः जब शकुन्तला निसर्ग के साथ अपने दृढ़ बन्धनों को तोड़ कर अपने आलौकिक रूप संभार के साथ अपने कल्पनालोक में पहुँची तो उसे कटु अवमानना का मुख देखना पड़ा। हम जानते हैं कि कालिदास ने कभी भी वासना को प्रेम का आदर्श नहीं माना, अतः उसकी प्राप्ति के लिए उसने उस भोली-भाली आश्रमबाला को भी दण्डित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। दुत्कार, फटकार, पश्चात्ताप और एकान्त मौनसाधना के द्वारा उसका परिष्कार किया, उदात्तीकरण किया। इस साधना के बाद ही शकुन्तला का प्रेम पूर्णता और पावनता को प्राप्त होता है। उसे अब न किसी प्रकार के आश्वासन की आवश्यकता है और न किसी प्रकार के शाप का भय। वह पूर्ण है, पावन है और शाश्वत है। दोनों के लिए ही मंगलमय और कल्याण-कर है।

**दुर्भाग्य का प्रकोप**

शकुन्तला के भाग्य ने उसके साथ सदा ही खिलवाड़ किया है। शैशव में ही माता-पिता ने परित्याग कर दिया, एक आश्रम में शरण मिली तो वहाँ भी दुर्भाग्य ने उसका पीछा न छोड़ा। एक दिन किसी परदेशी से दिल लगाकर मधुर सुखों की छलना में उसे वहाँ से भी निकलवा दिया। शाप दिलवाया और फिर एकमात्र सहायक अंगुलीय को भी छीनकर भरे राजकुल में उसका असह्य अपमान करवाया। यहाँ तक कि उसी व्यक्ति से उसके चरित्र पर भी आक्षेप करवाया जिसके लिए कि उसने निसर्ग के पावन प्रेम और आश्रम के पवित्र बन्धनों को भी तोड़कर पिता की आज्ञा के बिना ही अपना सब कुछ न्यौछावर कर डाला था। उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो उठती है। दुष्यन्त तो उसका प्रत्याख्यान कर ही डालता है पर ऋषिकुमार भी उसके प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति दिखाने के लिए तैयार नहीं। उनकी कठोर पटकार से तो उसका समस्त धैर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है वह भयभीत हो उठती है। आशा की अन्तिम किरण के ओझल होते ही वह अन्धकार में डूब जाती है। पुरोहित का प्रस्ताव तो उसके लिए और भी अपमानजनक लगता है। दुर्भाग्य के इन क्षणों में धरती माता भी उसके प्रति कठोर हो जाती है। कहीं से भी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



सहानुभूति की कोई आशा न देखकर शकुन्तला का हृदय चीत्कार कर उठता है पर उसका दुर्भाग्य मुस्कराता है। पर हम देखते हैं कि विषम परिस्थितियों की आग में पड़कर शकुन्तला के चरित्र का स्वर्ण चमक उठता है। उसका सतीत्व जाग उठता है और हमें उसकी नैतिक शक्ति का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। इस प्रत्याख्यान के साथ ही उसके जीवन का असली उत्थान प्रारम्भ होता है। विषमताएँ उसकी चारित्रिक महानता तथा आत्मीय गौरव का हनन नहीं कर पातीं। वह अभिशाप के गाढ़ान्धकार को चीरकर उषा के समान अधिक शान्त, सुन्दर और उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आती है।

**आदर्श पत्नीत्व**

कालिदास नारीत्व के जिस उच्चादर्श के हामी थे उसका पूर्ण निरूपण शकुन्तला के चरित्र में सम्भव हो सका है। पत्नी के रूप में शकुन्तला ने हिन्दू नारी के उस आदर्श को पूरी तरह अपने जीवन और व्यवहार में कर दिखाया है जो कि महर्षि कण्व ने आश्रम से जाती बार उसके कान में फूंक दिया था।[1] यद्यपि अन्य सन्दर्भों में इस उपदेश के व्यावहारिक रूप को देखने का अवसर हमें नहीं मिल पाता पर पति के सन्दर्भ में **'भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः'** के उपदेश का जिस सचाई के साथ उसने पालन किया उससे विश्वास हो जाता है कि अन्य उपदेशों का भी उसने वैसे ही श्रद्धा और विश्वास के साथ पालन किया होगा। अपने ही स्वजनों के सम्मुख इस प्रकार अपमानजनक ढंग से 'विप्रकृता' होने पर भी वह अपने पति के लिए 'अनार्य' से अधिक कठोर किसी शब्द का प्रयोग न कर सकी। राजा द्वारा अन्तिम निर्णय दे दिये जाने पर भी वह आदर्श हिन्दू अबला के समान इसके लिए पति को दोषी न ठहराकर अपने दुर्भाग्य को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराती है। हम देखते हैं कि इतने निर्दय प्रत्याख्यान के बाद भी एक विवाहिता नारी के समान वह उसे ही अपना पति मानती रहती है और उसके प्रति अपने कर्तव्यों से विमुख नहीं होती। प्रतिव्रता हिन्दू नारी के समान वह मरीचाश्रम में पूर्णतया 'प्रोषितपतिका' का जीवन बिताती है (७/२१) तथा अन्य व्रतों एवं नियमों का पालन करती है। लगता है कि इन स्थितियों में भी उसके इस आदर्श पालन को देखकर वहाँ के लोग चकित थे तथा वह उनकी चर्चा का विषय बन गयी थी। सप्तम अंक की शकुन्तला रघुवंश के चौदहवें सर्ग की सीता की प्रतिरूप बन गयी है।

---

१. शुश्रूषस्व गुरुन्·····कुलस्याधयः॥ (४/१८)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**नारीत्व की पूर्णता**

शकुन्तला के चित्रण में कालिदास ने न केवल पत्नीत्व की अपितु नारीत्व की पूर्णता का भी सफल निरूपण किया है। कालिदास की आस्था है, और प्रकृति का विधान भी, कि मातृत्व को प्राप्त किये बिना नारीत्व की पूर्णता नहीं। मातृत्व में ही उसका असली व्यक्तित्व निहित है। हम देखते हैं कि शकुन्तला भी माँ बनी और वह भी एक वीर पुत्र की। शाकुन्तल के चौथे और सातवें अंक में उसके वात्सल्य को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। द्वितीय वियोग के दिनों में शायद बालक सर्वदमन ही उसकी सान्त्वना का सबसे प्रमुख स्रोत रहा हो, उसीने उसके प्रत्याख्यानजनित हृदय के घावों को शीतलता प्रदान की होगी। शकुन्तला से बालक सर्वदमन को अत्यधिक दुलार प्राप्त हुआ होगा इसका आभास हमें उसकी उन जिद्दों और शरारतों से ही मिल जाता है जो-कि हमें सप्तम अंक में थोड़ी देर के लिए देखने को मिल पाती हैं। माँ शकुन्तला से उसे कितना स्नेह मिलता है यह तो उस घटना से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है जिसमें कि वह माँ के नाम से मिलती जुलती ध्वनियों को सुनकर ही माँ से मिलने के लिए मचल उठता है। दुष्यन्त के सम्मुख माँ और पुत्र के बीच घटित होने वाला संक्षिप्त प्रश्नोत्तर भी उनके स्नेहसम्बन्ध पर गहरा प्रकाश डालता है।

नारी में मातृत्व का निरूपण कालिदास ने अपनी अन्य नाट्य कृतियों में भी किया है पर मातृत्व का जो गौरव शकुन्तला को प्राप्त हुआ है वह किसी और को नहीं। उर्वशी का मातृत्व किसी प्रकार भी महनीय नहीं कहा जा सकता। अपने ऐश्वर्य विलास के लिए सन्तान की दुर्ललित क्रीड़ाओं के अनिर्वचनीय आनन्द से प्रयत्नपूर्वक वंचित रहना मातृत्व का गौरव नहीं। वहाँ पुत्रप्राप्ति की प्रथम प्रतिक्रिया भी दुःखद ही होती है। अतः ऐसा मातृत्व पूजनीय नहीं हो सकता। पर शकुन्तला का पुत्र न केवल माँ की सान्त्वना का स्रोत है अपितु बिछुड़े हुए माता-पिता के पुनर्मिलन का स्रोत भी। रानी वारिणी भी यद्यपि एक वीर पुत्र की माँ है किन्तु उसके मातृत्व का कोई रूप हमारे-सामने नहीं आ पाता। जबकि शकुन्तला में हमें इसके अनेक रूप देखने को मिलते है। शकुन्तला का मातृत्व कितना पूर्ण होगा इसके दर्शन हमें काण्वाश्रम में ही हो जाते हैं। लता-वृक्षों का, तथा मृगछौने का उसने जिस वात्सल्य-भाव से पोषण किया था, वही उसके मातृत्व को गौरव प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**प्रेम का परिष्कार**

कालिदास ने शाकुन्तल में दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों के ही जीवन में प्रेम का परिष्कार करके दिखाया है, उनके भौतिक प्रेम को दिव्यता प्रदान की है। शाकुन्तल के प्रथम तीन अंकों में शकुन्तला का प्रेम पूर्णतया वासनात्मक रहा है। तीसरे अंक की घटना तो मुग्धा ऋषि-कन्या के लिए किसी प्रकार भी शोभनीय नहीं कही जा सकती। वासनात्मक प्रेम ने उसे इस प्रकार अन्धी बना दिया है कि वह दैनिक व नैतिक कर्तव्यों की भी उपेक्षा कर डालती है। दुष्यन्त के साथ विवाह करने के औचित्य के लिए पिता कण्व की स्वीकृति की भी परवाह नहीं करती। आश्रम धर्म का तथा आतिथ्यादि आश्रम कर्मों का उल्लंघन करती है। उसका बुरी तरह पतन हो जाता है। इससे उत्थान की एक लघु किरण-डोर गान्धर्वविवाह ऐसी अवश्य है जिसे कि वह थामे हुए है।

वासनात्मक प्रेम से अन्धीभूत शकुन्तला की आँखें तब खुलती है जब कि राजकुल में उसे 'दास्य' भी नहीं मिल पाता और उसके इस प्रेम को खुल्लम-खुल्ला लांछित किया जाता है। किन्तु इसके बाद मरीचाश्रम में उसकी जो मौन साधना चली है उसने उसके जीवन को, प्रेम को दिव्यता प्रदान करदी है। त्याग, तपस्या और पश्चात्ताप ने उसके उस समस्त मादक सौन्दर्य को फीका कर दिया है जोकि हम उसमें कण्वाश्रम में देख रहे थे। जीवन की समस्त चंचलता गम्भीरता में परिवर्तित हो गयी है। मलिन वस्त्र और मुरझाया हुआ मुख ही अब उसका सौन्दर्य है, चारित्रिक दृढ़ता और आत्मविश्वास ही अब उसका संबल है और इसी के बल पर वह अपने दुर्भाग्य पर विजय पाती है और अपने खोये हुए पति को प्राप्त करती है। प्रेम की इस दिव्यता का ही प्रभाव है कि राजकुल में उसका अपमान करने वाला दुष्यन्त यहाँ आकर उसके चरणों में गिर पड़ता है। अब उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार के 'अभिज्ञान' वा 'दिव्य परीक्षण' की आवश्यकता नहीं। अब वे दोनों सदा के लिए एक दूसरे के हो जाते हैं। किसी ऋषि का कोप वा भाग्य की कोई विडम्बना अब उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकती। प्रेम के इस दिव्य वातावरण में शकुन्तला का हृदय सर्वथा निर्मल हो जाता है। वह दुष्यन्त के निर्दय प्रत्याख्यान की बात को भुला कर उसे क्षमा कर देती है, हम देखते हैं कि उनके इस परिष्कृत दिव्य प्रेम को ही देवताओं के माता-पिता महर्षि मरीच तथा माता अदिति का शुभ आशीर्वाद मिलता है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**शकुन्तला की महानता का रहस्य**

सम्पूर्ण संस्कृत नाट्य साहित्य में शकुन्तला का चरित्र अद्वितीय है। ऐसे महान् चरित्र की कल्पना न कोई इससे पूर्व कर सका और न बाद में। सीता और पार्वती भी महान् हैं पर वे मानवी नहीं, देवियाँ हैं। उस दिव्यता के परिवेश में वे इतनी ऊँची उठ जाती हैं कि मानवीय पहुँच से भी बाहर चली जाती हैं। पर शकुन्तला सम्पूर्ण रूप से मानवी है आदि से अन्त तक, मानवीय भावनाओं और दुर्बलताओं की दासी। फिर भी वह ऊपर उठी है, काफी ऊपर उठी है, उसने मानवीय गौरव भूमि को भी छू लिया है। वह गिरी है पर गिर कर वहीं कीचड़ में फँस कर नहीं रह गयी है। भाग्य ने उसके साथ धोखा किया है पर वह उस छलना और विडम्बना के आगे सिर झुका कर बैठ नहीं गयी है। उसने इस सबसे संघर्ष किया है और अपने चरित्र बल और मनोबल के आधार पर इन सबको ठुकरा कर अपने व्यक्तित्व को बहुत ऊपर उठा ले गयी है। एक ओर उसकी क्षिप्रकारिता तथा दूसरी ओर उसके धैर्य को देखकर हम चकित रह जाते हैं। कालिदास ने उसके चरित्र में मानवीय दुर्बलताओं और महानताओं का जो अद्भुत किन्तु स्वाभाविक सम्मिश्रण दिखलाया है उसी में उसके चरित्र की महानता का सम्पूर्ण रहस्य छिपा हुआ दिखाई देता है। नारीत्व के भारतीय आदर्शों—प्रेम, पातिव्रत, सन्तानोत्पत्ति और आत्म-त्याग का सुन्दरतम निरूपण कालिदास की इस नायिका में सहज, स्वाभाविक रूप में सम्भव हो सका है। हम कह सकते हैं कि कालिदास ने अपनी महनीय कल्पना से शकुन्तला को अमर कर दिया है और शकुन्तला ने कालिदास को।

**शकुन्तला तथा कालिदास की अन्य नायिकाएँ**

निश्चय ही कालिदास ने शकुन्तला के रूप में नारीत्व के रूप की उच्चतम कल्पना प्रस्तुत की है। उसके चरित्र तथा रूप की महानता और भी अधिक निखर उठती है जबकि हम उसे कालिदास की अन्य नायिकाओं के समकक्ष रख कर देखते हैं। न वह मालविका के समान राजसी वैभव में जीवन बिताने वाली राजकुमारी है और न उर्वशी के समान केवल विलासिता में जीने वाली अप्सरा। दोनों का ही जीवन कृत्रिमता से आवृत है। जीवन की सरलता एवं स्वाभाविकता से दूर। अतः शकुन्तला के रूप में कालिदास ने एक ऐसे रूप की कल्पना की है जिसने कि निसर्ग की गोद में पलकर उसकी पावनता तथा प्रेम को अपने प्राणों में उतार लिया है और उसे उस स्थान में लाकर रखा है जहाँ संयम और शिष्टाचार ही जीवन का दूसरा नाम है। हम जानते हैं कि

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उर्वशी उस लोक की वासिनी है जहाँ ऐश्वर्य, यौवन और विलासिता ही जीवन है और मालविका राजकीय वैभव बीच पलने वाली सुकुमारी। पर शकुन्तला में कालिदास ने स्वर्ग और पृथ्वी को मिलाकर रख दिया है। अप्सरा के सौन्दर्य, ऋषि के तेज और तपोवन के नैसर्गिक तथा संयमित जीवन ने उसके व्यक्तित्व को एक अलौकिकता प्रदान कर डाली है। वह सहज सुन्दर है, शान्त है, पवित्र है पर तेजस्विनी भी।

शारीरिक सौन्दर्य में तो उर्वशी और मालविका में से कोई उसके सामने नहीं ठहर सकती, पर प्रेम के क्षेत्र में भी वे उससे बहुत पीछे रह जाती हैं। उन दोनों का प्रेम सर्वथा भौतिक है और आदि से अन्त तक वही रहता है। वह कभी भी उस दिव्यता एवं पावनता को प्राप्त नहीं करता जोकि विषमताओं में तपकर प्राप्त की जाती है। किन्तु शकुन्तला का प्रेम प्रारम्भ में शारीरिक होने पर भी अन्त में प्रत्याख्यान और पश्चात्ताप की आग में तप कर दिव्यता को प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार मातृत्व के क्षेत्र में भी शकुन्तला, उर्वशी और मालविका को बहुत पीछे छोड़ जाती है। वह सच्चे अर्थों में मातृत्व पद को प्राप्त करती है। यद्यपि मालविका के जीवन में यह अवसर आया ही नहीं पर उर्वशी ने शारीरिक सुख और विलास के लिए अपनी सन्तान को अपने से दूर रखकर मातृत्व को गौरवान्वित नहीं कलंकित किया है। ऐसे ही, यद्यपि मालविका और शकुन्तला दोनों को दुर्भाग्य का प्रकोप सहना पड़ा है पर शकुन्तला के साथ भाग्य ने जो क्रूर परिहास किया है तथा उसे उसने जिस प्रकार चुप चाय सहा है उससे किसी भी सहृदय का हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे ही शाप के विषय में भी देखा जाता है कि उर्वशी और शकुन्तला दोनों को ऋषि-कोप का भोजन बनना पड़ा है पर उर्वशी के लिए तो यह शाप प्रच्छन्न रूप से वरदान सिद्ध हो जाता है पर शकुन्तला को तो यह महाविनाश की चट्टान पर ही ले जाकर खड़ा कर देता है। वह शायद गिरकर चूर-चूर हो जाती यदि उसमें आत्मबल की दृढ़ता न होती। पुरुरवा और उर्वशी के समान दुष्यन्त और शकुन्तला का संगम शापवश नहीं अपितु त्याग और तपस्या के बल पर होता है।

यहाँ तक कि कालिदास के नाटकों की राजमहिषियाँ भी शकुन्तला के उदात्त गुणों की तुलना में पीछे रह जाती हैं। जहाँ तक रानी इरावती का प्रश्न है उसकी तो शकुन्तला के साथ कोई तुलना ही नहीं हो सकती। स्वभाव और गुणों

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



में ही वे दोनों एक दूसरी के ठीक विपरीत हैं। यह इरावती का दुर्भाग्य था कि उसे शाश्वत यौवन तो मिला पर हृदय की विशालता तथा बुद्धि की विवेचक शक्ति न मिल सकी। इसके विपरीत धारिणी और औसीनरी गम्भीर और बुद्धिमती तो थीं पर यौवन के आकर्षणों से सर्वथा वंचित। किन्तु इन सबके विपरीत शकुन्तला को युवती और बुद्धिमती दोनों ही होने का सौभाग्य प्राप्त था। साथ ही सुकुमारता, आत्म संयम और प्रकृति प्रेम में वह धारिणी और औसीनरी दोनों ही नारियों से बहुत आगे बढ़ जाती है, मौन कष्ट सहन की अनन्त शक्ति में तो कालिदास की कोई भी नायिका उसके सामने टिक ही नहीं सकती। गृहिणी के रूप में धारिणी और औसीनरी चाहे जितनी श्रेष्ठ हो पर उनमें से कोई भी इस प्रकार अपने पति के लिए चुपचाप कष्ट सहन के लिए तत्पर नहीं। किन्तु इसके विपरीत हम देखते हैं कि शकुन्तला पर दुर्भाग्य का एक के बाद दूसरा आघात होता चला जाता है पर वह धैर्य और साहस के साथ सबको सहती चली जाती है। हमें कभी भी उसमें कटुता तथा उद्वेग के दर्शन नहीं होते। शकुन्तला के मौन कष्ट सहन तथा सद्भाव ने उसके चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है। एक ही पात्र में प्रियात्व, पत्नीत्व और मातृत्व का ऐसा एकत्र निरूपण विश्व साहित्य के किसी नारी पात्र में सम्भव नहीं हो सका है। वस्तुतः कालिदास की शकुन्तला अद्वितीय है तथा अतुलनीय है।

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# (४)

# शाकुन्तल का उद्‌द्वैद्य

**शाकुन्तल की सोद्देश्यता**

कहा जाता है कि मूर्ख भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता (नहि प्रयोजनं विना मन्दोऽपि प्रवर्तते) तो फिर किसी सहजात प्रतिभावान् क्रान्त दर्शी कवि की कृति भला प्रयोजनहीन हो ही कैसे सकती है ? प्रयोजन अनन्त प्रकार के हो सकते हैं और उनके स्तर भी विभिन्न हो सकते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के प्रयोजन कई प्रकार के हो सकते हैं।[१] सांसारिक दृष्टि से यश और धन सब से प्रमुख प्रयोजन माने जाते हैं। रघुवंश की रचना के समय कालिदास के समक्ष भी यश एक मुख्य प्रयोजन के रूप में था (**मन्दः कवियशः प्रार्थी**) पर धन कालिदास का प्रयोजन कभी नहीं रहा। उसने कला की साधना सदा ही विशुद्ध साधक भाव से की है, इसमें उसका व्यावसायिक दृष्टिकोण कभी नहीं रहा।

तब सामान्यतः प्रश्न उठता है कि जब शाकुन्तल की रचना में कवि को यश और धन किसी चीज की लालसा नहीं तो इसकी रचना के पीछे क्या उद्देश्य हो सकता था ? इससे पूर्व भी वह दो महाकाव्यों, दो लघुकाव्यों तथा दो नाटकों की रचना कर चुका था। वही उसके यश को चिरजीवी रखने के लिए पर्याप्त थे, फिर कौन सी ऐसी बात थी जिसके लिए कवि को वृद्धावस्था में फिर से लेखनी उठानी पड़ी ? और इसकी रचना में कौन से ऐसे उद्देश्य की पूर्ति हुई कि फिर कवि को कोई और रचना करने की कामना न रही और परम तृप्ति एवं सन्तोष का अनुभव किया ?[२] इन सारे

---

१. काव्यं यशसे.....कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

२. शाकुन्तल ७/३५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



प्रश्नों का उत्तर शाकुन्तल में निहित विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करने से ही स्पष्ट हो सकेगा।

कालिदास की अन्य रचनाओं के विश्लेषण में हम देख चुके हैं कि उनकी काव्य साधना के पीछे कुछ उदात्त लक्ष्य थे, उद्देश्य थे। उन्हीं की उपलब्धि के लिए उसकी कला साधना चलती रही। अवस्था और अनुभवों के अनुरूप उनके रूपों में भी परिष्कार होता रहा। ऐसा लगता है कि कला और जीवन के कुछ स्थायी तत्वों के प्रति कवि का एक उदात्ततम तथा आदर्शतम दृष्टिकोण था, उनकी प्रत्येक कृति में हम उन्हें बराबर उस लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए पाते हैं और हम देखते हैं कि शाकुन्तल में आकर उनकी चरम परिणति हो गई है यही कारण है कि यहाँ आकर हम 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' कहने वाले को 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिणत शक्तिरात्मभूः' कहते हुए पाते हैं। अब उसे मोक्ष के अतिरिक्त और कोई कामना नहीं।

**सहज धर्म**

अपनी इस अन्तिम कृति में कालिदास ने वस्तुतः अनेक उद्देश्यों की पूर्ति की है। सबसे प्रथम तो यही कि इसमें उनकी कला साधना का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है। शाकुन्तल के रचना कौशल के बारे में पिछली पंक्तियों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है किन्तु उसके रचना-कौशल का रूप अधिक स्पष्ट होता है जबकि हम इसकी तुलना 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'मालविकाग्निमित्र' से करते हैं। भाव, भाषा, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण आदि सभी पक्षों में कला का जो चरम विकास यहाँ हुआ है वह पिछले दो नाटकों में नहीं हो सका है। उन दोनों में ही कालिदास की कला ऐन्द्रियता के परिवेश से मुक्त नहीं हो सकी है, जीवन का स्थूल रूप ही हमें वहाँ देखने को मिलता है। जीवन के स्थायी मूल्यों एवं शाश्वत तथ्यों का मूल्यांकन वहाँ नहीं हो सका है। भारतीय जीवन दर्शन के स्थायी तत्त्वों:—धर्म-अर्थ-काम का संघर्ष एवं उदात्त रूप वहाँ नहीं है यद्यपि उसकी धुँधली छाया हमें उनकी द्वितीय नाटच कृति 'विक्रमोर्वशीय' में मिलने लगती है। पर शाकुन्तल में कवि ने इन तथ्यों को जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दिया वह सभी को विदित है। तपोवन के कठोर संयमित जीवन में पलने वाली बाला भी नवयौवन का उभार आते ही अनजाने ही किस प्रकार 'तपोवन विरोधी विकार' से ग्रस्त हो जाती है 'ऋतुधूमपूत तपोवन' में किस प्रकार प्रणयलीला चलने लगती है और यह कितना स्वाभाविक है, इसे कालिदास ने अपनी कला के माध्यम से प्रस्तुत

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। जीवन के शाश्वत तथ्यों को कला के माध्यम से एक सहज एवं स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्ति देकर आत्मतोष की अनुभूति करना स्वाभाविक ही है। शाकुन्तल में आकर कालिदास का दृष्टि-कोण इतना उदात्त और विशाल हो गया था कि वे योग साधना तथा प्रेम-साधना को एक ही दृष्टि से देखने लगे थे। क्योंकि जीवन के लिए दोनों का समान महत्त्व है। यदि योग से, तपःसाधना से मन की शुद्धि होती है, उसमें निर्मलता आती है तो प्रेम साधना से भी हृदय निर्मल और विशाल होता है। जीवन सरिता के तट पर दोनों ही एक दूसरे के मार्ग में बिना किसी प्रकार बाधक बने हुए एक साथ ही पनप सकते हैं इस बात को कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से शाकुन्तल के छठे अंक के उस प्रसंग में दिखाया है जबकि दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र की पृष्ठभूमि को उभारने की बात कहता है (६/१७)। जीवन का कैसा बहुरंगी चित्र है कि मालिनी के किनारे ही कवि एक साथ ही, एक ही साँस में हंसयुग्म, तपोधन, एवं प्रेमनिर्भर मृगयुग्म की बात बिना किसी भेदभाव के कर जाता है। कालिदास देख चुके हैं कि जीवन की पूर्णता न केवल योग में है और न भोग में ही। स्वयं में दोनों एकाङ्गी हैं। इसलिए हम देखते हैं कि तपोवन में भी भोग होता है और प्रमदवन में भी योग। शाकुन्तल के द्वितीय अंक में कवि ने विदूषक के द्वारा जो **'कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि।'** कहलवाया था उसी का उत्तर है छठे अंक की वह योग साधना **(योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)** जिसकी पूर्णता से चकित होकर एक बार विदूषक ने कहा था कि 'इसमें भावों का चित्रण तो अद्भुत है ही पर अंगों का निम्नोन्नत उभार भी ऐसा यथातथ्य है कि उन पर मेरी दृष्टि फिसल सी रही है **(साधु वयस्य! मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः, स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नत-प्रदेशेषु।)**' तथा ऐसे ही एक बार सानुमती को भी साश्चर्य कहना पड़ा था कि ऐसा ज़ान पड़ता है जैसे कि सखी शकुन्तला मेरे सामने ही खड़ी हो **(अहो राजर्षेर्निपुणता! जाने सखी अग्रतो मे वर्तत इति।)** इसके अतिरिक्त हस्तिना-पुर के राजप्रासादों में (६/६,२१,२२) तथा कल्पवृक्ष के वनों, सुवर्णकमलों और रत्नशिलातलों के बीच (७/१२) जो साधनाएँ चली वह भी दर्शनीय हैं। 'मालविकाग्निमित्र' एवं 'विक्रमोर्वशीय' में भोग तो है पर योग नहीं, योग से हीन भोग का कोई महत्त्व नहीं। उसमें न स्थायित्व ही हो सकता है और न वह जीवन के लिए श्रेयस्कर ही। किन्तु शाकुन्तल में कवि ने इनका सुन्दर समन्वय दिखा दिया है। दोनों ही मानव जीवन के अभिन्न अंग हैं। दोनों के

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



समन्वय में ही मानव जाति का कल्याण निहित है। एक की आत्यन्तिक उपेक्षा मानव जीवन के लिए दुःखद सिद्ध हो सकती है।[1] इसीलिए शाकुन्तल के गृहस्थ ऋषि (राजर्षि) कहलाते हैं। (महर्षि मरीचि माता अदिति के साथ तपोनिरत हैं) तो तपस्वी, ऋषि गृहस्थ। यहाँ तक कि सामान्य सांसारिक गृहस्थियों की भाँति तीर्थ, व्रत आदि में विश्वास रखते हैं तथा पालिता कन्या की विदाई पर पर वियोग व्यथा से विचलित हो उठते हैं। कालिदास का आदर्श संसार से विरक्ति नहीं, अनुरक्ति है। वर्णाश्रम के जिस आदर्श को पुनः प्रतिष्ठापित करने का जो प्रयत्न उनकी अन्य रचनाओं में देखने को मिलता है उसी का निरूपण उनकी इस कृति में भी हुआ है, अधिक स्पष्ट एवं व्यावहारिक रूप में।

**गृहस्थ की प्रतिष्ठा**

बौद्ध धर्म के प्रभाव से गृहस्थ की मर्यादा का जो ह्रास हो गया था तथा संसार को दुःखमूल मानकर इससे पलायन की जो लहर चल पड़ी थी उसकी दिशा को मोड़ना भी शाकुन्तल का अन्यतम उद्देश्य प्रतीत होता है। यों तो कालिदास की सभी कृतियों में बौद्ध विरोधी स्वर सुनाई देता है पर वह जितना मुखर शाकुन्तल में हो उठा है उतना अन्यत्र नहीं। शाकुन्तल के प्रारम्भ में ही हुतवह, हवि, होता तथा ईश की अष्ट मूर्तियों' का जो स्तुतिगान हुआ है वह समस्त बौद्ध आस्थाओं के विरुद्ध एक विगुल की सी ध्वनि सुनाई देती है। उसके उपरान्त कवि हमें जिस तपोवन में ले चलता है वह भी संसार को दुःख-मूल समझकर उससे पलायन करने वाले संन्यासियों के संघारामों से भिन्न प्रकार का है। यहाँ के तपस्वी अपनी संतान को छोड़कर भागने वाले मोक्षार्थी नहीं अपितु पराई त्यागी हुई सन्तान को भी बटोर कर ले आने वाले हैं। वहाँ जीवन लीला सामान्य सांसारिक क्रम से ही चल रही है। लतावृक्ष युवा होते हैं, उन्हें वर-वधू बनाया जाता है, उनके विवाह सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञ होते हैं, तीर्थ यात्राएँ होती हैं, व्रत-पूजा और ग्रहशान्ति भी होती है।

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में कवि ने बड़ी स्पष्टता के साथ महर्षि कण्व के मुख से वैदिक परम्परानुमोदित तथा भगवान् बुद्ध द्वारा अनुमोदित संसार से विरक्ति के आदर्श को स्पष्ट कर दिया है। अपनी अन्तिम विदाई से पूर्व शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है 'तात अब फिर कब आश्रम को देख सकूँगी।' इस पर उसे उत्तर मिलता है—चिरकाल तक इस पृथ्वी की सौत

---

१. द्रष्टव्य रघु० १९ सर्ग

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वनकर और अपने अद्वितीय वीर पुत्र का राज्याभिषेक करके तथा उसे कुटुम्ब का भार सौंपकर अपने पति के साथ तुम फिर इस शान्त तपोवन में आओगी (४/२०)। इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की दृष्टि में तपश्चर्या जीवन का लक्ष्य होते हुए भी इसके लिए अन्य सांसारिक कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की उपेक्षा मान्य नहीं। महात्मा बुद्ध की भाँति पुत्र उत्पन्न होने के बाद ही गृहस्थ का परित्याग जीवन का आदर्श नहीं। पुत्रोत्पत्ति के साथ-साथ कुटुम्ब का पालन भी तो परम कर्तव्य है, यह भी तो तपश्चर्या ही है। अतः गृहत्याग तभी उचित है जबकि पुत्र कुटुम्ब का भार सँभालने योग्य हो जाय। तभी शान्त तपोवन में सुखपूर्वक रहना समाजोचित है। यही वह आदर्श था जिसने कि प्रिया-वियोगी अज को जीवन से विरक्त हो जाने पर भी इसलिए जीवित रहने के लिए बाध्य किया कि पुत्र राज्य का भार सँभालने के योग्य-हो जाय।[१]

इसी प्रकार शाकुन्तल के सप्तम अंक में कालिदास जब दुष्यन्त के मुख से बालक भरत को देखकर **'धन्यास्तदङ्ग रजसा मलिनीभवन्ति'** की वाणी सुनते हैं तो ऐसा लगता है कि जैसे दूसरे शब्दों में वे कह रहे हैं कि वे लोग कितने अधन्य हैं जोकि ऐसे स्वर्गिक आनन्द का परित्याग करके भिक्षुक वनकर जंगलों की खाक छानते हुए मोक्ष की कामना करते हैं।

रघुवंश में महाराज रघु ने कौत्स से **'सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते'** की बात कहकर सभी आश्रमों से इसकी श्रेष्ठता को उद्घोषित किया था। बौद्धों ने संन्यास के सम्मुख जिस गार्हस्थ्य के महत्त्व को घटा दिया था उसी की पुनःप्रतिष्ठा करना कालिदास का उद्देश्य था। इस उद्देश्य की जितनी सुन्दर स्थापना शाकुन्तल में हुई है उतनी और कहीं नहीं। यहाँ तो गृहस्थ की नींव ही तपोवन में रखी जाती है और उसी में उसकी पूर्ति भी होती है। दोनों ही तपोवनों में बड़े निर्भर भाव से सन्तान का भरण हो रहा है। एक स्थान पर लता वृक्षों के साथ 'पुत्रकृतक' दीर्घापाङ्ग का तो दूसरे स्थान पर संसार का भरण करने वाले 'भरत' का। विशेष यह कि इनकी स्थिति से वहाँ के यम, नियम और तपस्या में कोई विघ्न नहीं। प्रत्येक अपने रूप में प्रगतिशील है, समाज के कल्याण में निरत है।

कालिदास की तीनों नाट्य कृतियों में इस गृहस्थ धर्म का उत्तरोत्तर

---

१. द्रष्टव्य— गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विकास परिलक्षित होता है। मालविकाग्निमित्र की परिणति गृहस्थ के मूलाधार विवाह में होती है तो विक्रमोर्वशीय की परिणति उसके परिणाम सन्तानोत्पत्ति में। पर दोनों में ही जिस प्रकार इसकी पूर्ति हुई है वह किसी आदर्श समाज के लिए अनुकरणीय स्थिति वा गौरव की वस्तु नहीं हो सकती थी, उसी की पूर्ति की गयी है शाकुन्तल में। इसमें कालिदास ने बड़े नाटकीय कौशल के साथ दो प्राणियों के स्नेहविकास के लिए स्वाभाविक स्थितियाँ उत्पन्न की हैं फिर कामविवश होने पर भी विवाह की शास्त्रीय मर्यादा एवं वर्ण व्यवस्था को (१/२१) आवश्यक माना है। फिर यहाँ विवाह का पूर्वाभास ही सन्तान की भावना से होता है (१/१२), उसी में इसका विकास होता है (६/२५; **कष्टं खल्वनपत्यता।**) और उसी में इसकी समाप्ति भी (७/३३)। इसे पितरों की स्वीकृति (**दिष्टया धूमाकुलित दृष्टेरपि यजमानस्य·····अशोचनीयासि संवृत्ताः।**) और ऋषियों का आशीर्वाद (७/२८) प्राप्त है। विक्रमोर्वशीय के समान अनचाहे ही प्राप्त हो पड़ने वाली सन्तान नहीं। यहाँ विवाह भी कोई क्षणिक वा समय सापेक्ष्य सम्बन्ध नहीं। यह तो जन्मजन्मान्तर का सम्बन्ध है जो एक बार स्थापित हो जाने पर फिर बड़े से बड़े आघात से भी नहीं टूट सकता। विस्मृति वा प्रमादवश यदि एक पक्ष इसे झटका कर तोड़ने का यत्न भी करे तो दूसरा पक्ष इसे तब तक दृढ़ता के साथ पकड़े रखता है जबकि पहला पक्ष अपनी भूल को स्वीकार करके उसके साथ जा नहीं मिलता, यही तो है गृहस्थ का भारतीय आदर्श जिसे कि कालिदास अपने इस कला के माध्यम से दिखाना चाहते हैं। साथ ही वे ऐसे आदर्शवादी भी नहीं कि आदर्श के समक्ष यथार्थ को बिल्कुल भूल ही जाएँ। विवाह का लक्ष्य सन्तानोत्पत्ति (**प्रजायै गृहमेधिनाम्**) तथा जन्मजन्मान्तर स्थायी आन्तरिक बन्धन होते हुए भी उसका अपना स्थूल दैहिक पक्ष भी है। शाकुन्तल के प्रथम तीन अंकों में कवि ने प्रेम के इसी पक्ष को उभारा है। दो हृदयों का स्थायी मिलन तथा सन्तान प्राप्ति यदि आदर्श है तो दो शरीरों का मिलन तथा उससे उद्भूत सुख भोग यथार्थ। उसके किसी भी पक्ष की उपेक्षा वा किसी एक पक्ष की पुष्टि उसका एकाङ्गी रूप ही प्रस्तुत कर सकती है। पिछले दो नाटकों में इसका स्थूल अथवा यथार्थ रूप ही अधिक उभरा है पर शाकुन्तल में इसके दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय हो गया है।

**सहज कर्म**

बौद्ध धर्म का सबसे प्रबल प्रहार वैदिक धर्मानुमोदित वर्ण और आश्रम

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



व्यवस्था पर हुआ था। और इसके प्रभाव से भारत की यह प्राचीन व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चली थी। ब्रह्मचर्य आश्रम में ही संन्यास को अनुमति मिल गयी। वर्ण और कर्म का कोई सामञ्जस्य न रहा। महाभारतकार ने **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'** तथा **'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'** (गीता० ३/३५; १८/४८) की जो व्यवस्था दी थी वह बाद में बौद्धमत के प्रभाव से टूट चली थी। कालिदास ने अपनी कला के माध्यम से उसे भी पुनरुज्जीवित करने का बीड़ा उठाया था। उनकी रचनाओं में हमें वर्ण और कर्म का पूर्ण सामञ्जस्य दिखाई देता है। शाकुन्तल तो इसका आदर्श रूप ही कहा जा सकता है। इसमें बड़े ही स्पष्ट शब्दों में 'सहज कर्म' भी श्रेष्ठता का उद्घोष किया गया है। राज श्याल जब मछुए की वृत्ति पर व्यङ्ग्य करता है तो वह बड़े स्वाभिमान के साथ अपने जातीय कर्म का समर्थन करते हुए कहता है—

**सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।**
**पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥** (६/१)

अर्थात् जन्म से जिसे जो सहज कर्म प्राप्त है वह चाहे किसी प्रकार का हो उसे छोड़ना उचित नहीं। इसी व्यवस्था के अनुरूप परम दयालु एवं ज्ञानी ब्राह्मणों को भी यज्ञ के समय स्वयं पशुबलि देनी पड़ती है।'

इस व्यवस्था के अनुसार क्षत्रिय का कर्म है संकटग्रस्त की संकट से रक्षा करना (**क्षतात्किल०**), प्रजा का अनुरञ्जन करना (**राजा प्रकृतिरञ्जनात्**) तथा सन्तान की भाँति प्रजाजनों का पालन करना (**स पिता पितरस्तेषां०**)। शाकुन्तल में कालिदास ने दुष्यन्त के रूप में क्षत्रिय के इस आदर्श की स्थापना की है। प्रथम तीन अंकों में तपोवनरक्षिता के रूप में तथा सप्तम अंक में देवलोकरक्षिता रूप में। छठे अंक में उसका प्रजापालक रूप अपने आदर्श रूप में सामने लाया गया है। यहाँ पर कालिदास ने सहज धर्म तथा काम का विरोध उपस्थित करके सहज कर्म की विजय दिखलाई है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान से संतप्त होने पर दुष्यन्त अपने राजकीय कर्तव्य से विमुख नहीं। समुद्रव्यवहारी सार्थवाह धनमित्र के निधन पर उसने जो घोषणा करवाई वह तो युग युग के लिए राजधर्म के लिए एक आदर्श उपस्थित करती है।[1] इसके अतिरिक्त राजा के आदर्श रूप एवं कर्म की सुन्दर व्याख्या हमें शाकुन्तल के पाँचवे अंक में

---

१. येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ (६/२३)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



(४७६-८, १०, १४ इत्यादि) में देखने को मिलती है। इसमें भी धर्म और काम का सुन्दर संघर्ष उपस्थित करके धर्म की विजय दिखाई गयी है। इस विषय में एक विशेष रूप से द्रष्टव्य बात यह है कि कालिदास के अनुसार धर्मार्थ चतुष्टय में प्रत्येक के लिए पूर्ण अवकाश होते हुए भी प्रत्येक को अपनी सीमा में रहना भी आवश्यक है। दुर्विनीतों का शासन करने वाले पौरव (१/२३) ने स्वयं मुग्धा तपस्वि कन्यकाओं के प्रति दुर्विनय का आचरण किया। अतः उसका पतन हुआ, उसे शाप मिला और उसका उत्थान तब हुआ जबकि उसने पुनः स्वधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन किया।

**सहज सौन्दर्य**

कालिदास को प्रेम और सौन्दर्य का कवि कहा जाता है। उनकी सभी रचनाओं में इन दोनों पक्षों का विभिन्न रूपों में निरूपण हुआ है। हम उनके सौन्दर्यविषयक दृष्टिकोण पर उनकी सूक्तियों का विश्लेषण करते हुए कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ पर केवल शाकुन्तल में उनके दृष्टिकोण के नये विकास की ओर संकेत कर सकेंगे। रघुवंश का कवि सहज सौन्दर्य के सार्वजनीन प्रभाव से अनभिज्ञ था अतः उसने **'भिन्नरुचिर्हि लोकः'** कहकर लोकरुचि को महत्त्व दिया। पर अन्त में उसने इस बात को देख लिया कि सहज सौन्दर्य में एक जादू होता है जोकि सभी को सभी स्थितियों में आकृष्ट कर सकने की क्षमता रखता है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—

**सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं**
**मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।**
**इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी**
**किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्॥** (२/२६)

ठीक भी है शैवाल से अनुविद्ध सरोज और कालिमा से संसक्त कलाधर के सहज सौन्दर्य को देखकर किस देश और किस काल का सौन्दर्यान्वेषी पुलकित न हो उठेगा? सहज सौन्दर्य का चमत्कार ही ऐसा है कि वह हर हालत में सुन्दर ही प्रतीत होगा। ऐसे सौन्दर्य को जो कोई भी देखेगा उसके मुख से **'अये लब्धं नेत्र निर्वाणम्'** की साश्चर्य उक्ति अनायास ही निकल पड़ेगी। शाकुन्तल में आकर सहज सौन्दर्य के प्रति कवि का दृष्टिकोण इसी प्रकार का बन गया था इसकी पुष्टि एक अन्य उक्ति से भी होती है। सौन्दर्य का आधार कोई वर्ग विशेष ही नहीं हो सकता वह कहीं भी रह सकता है। शाकुन्तल के छठे अंक में दुष्यन्त को देखकर कञ्चुकी कहता है – **'सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्व-**

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



**माकृति विशेषाणाम्'** विशेष आकृति चाहे जिस स्थिति में हो रमणीय ही रहेगी। मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय के कवि की दृष्टि सौन्दर्य के कृत्रिम रूप पर अधिक रही है। एक राजकुमारी है तो दूसरी अप्सरा। एक सर्वथा मानवीय तो दूसरा सर्वथा अतिमानवीय। ऐसा सौन्दर्य शायद सौन्दर्य का आदर्श रूप नहीं माना जा सकता। अतः कवि ने शकुन्तला के रूप में एक ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि की जोकि सहज भी है और अद्भुत भी। राजदरबारों की चमक दमक से दूर प्रकृति की गोद में निखरने वाले मानवीय और अति-मानवीय सौन्दर्य का अद्भुत सम्मिश्रण इसमें हुआ है। कालिदास की दृष्टि में इस प्रकार का सौन्दर्य मामूली मिट्टी से उत्पन्न नहीं हो सकता। यह तो एक ऐसी 'प्रभातरत्न' ज्योति होती है जिसका अवतरण दिव्य लोक से हुआ करता है।

**मानुषीषु कथं वा स्यादस्यरूपस्य सम्भवः।**
**न प्रभातरत्नं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥** (१/२४)

ऐसे सार्वभौम रूप की सृष्टि के लिए सृष्टा को शायद विशेष प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करना पड़ता है। सौन्दर्य के उस विशेष उपकरण का नाम कवि ने 'लावण्य' कहा है (२/९) उस अपार लावण्य को शब्दों की अथवा तूलिका की परिधि में बांधने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाय पर वह सम्पूर्ण रूप से उनके बन्धन में नहीं आ सकता (६/१४)। वह केवल देखने और अनुभव करने की वस्तु होता है। इस प्रकार के दिव्य सौन्दर्य के लिए **'इदमित्थम्'** कहा ही नहीं जा सकता। इसीलिए कवि ने शाकुन्तल में कहीं भी उसे सीमा रेखाओं में बांधने का यत्न नहीं किया है। उसे सर्वत्र ही अनुभूतिगम्य कर डाला है। कहीं भी हमें अभिधेय रूप में शकुन्तला के नख शिख का निरूपण नहीं मिलता। अधिक से अधिक कुछ निकटतम साम्य रखने वाले प्रतीकों में उसकी झलक दे दी गयी है। शकुन्तला का सौन्दर्य कैसा है इसे बतलाने के लिए कवि कहता है—

**अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—**
**रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्॥**
**अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं**
**न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥** (२/१०)

अब सहृदय सौन्दर्यपारखी स्वयं ही कल्पना कर सकता है उस सौन्दर्य की जोकि **'अनाघ्रात पुष्प'**, **'अलूनकिसलय'**, **'अनाविद्धरत्न'** और **'अनास्वादित**

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



मधु' में हो सकता है और उसी की पृष्ठभूमि में मानसगोचर कर सकता है उस प्रकृतिपुत्री के सहज सौन्दर्य को भी। कालिदास को इस स्तर पर आकर विश्वास हो गया था कि सहज सौन्दर्य का प्रतिरूप मानव जगत् में हो ही नहीं सकता। अतः उसे जहाँ कहीं प्रतिरूप देने की आवश्यकता हुई भी तो उसे प्रकृति के लोक में ढूँढा है। अभी तक **'सरसिजमनुविद्धम्०'** वा **'अनाघ्रातं पुष्पम्०'** में जो कुछ कहा गया है वह सब प्रकृति के आवरण में ही कहा गया है। जब साक्षात् रूप से शकुन्तला के अंगों के निरूपण का प्रसंग आया तो तब भी कवि ने कहा—

**अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।**
**कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषुसन्नद्धम्॥** (१/१९)

शकुन्तला का अधर कोमल किसलय के समान आरक्त है तो उसकी भुजाएँ कोमल शाखाओं के समान हैं। और उसमें यौवन ऐसे ही खिल रहा है जैसे कि लताओं पर फूल खिलते हैं। पर इस प्रकार के सौन्दर्य का आस्वादन 'तत्त्वान्वेषण बुद्धि' के द्वारा नहीं हो सकता। उसके आकार-प्रकार, नाप-जोख के चक्कर में पड़ने वाला उसके रस का आस्वादन नहीं कर पाता। कालिदास ने ऐसे सौन्दर्य पारखियों को 'हतभाग्य' कहा है। भाग्यवान् 'कृती' तो वे हैं जोकि इस प्रकार के सहज सौन्दर्य के सागर को पाकर उसके बौद्धिक विश्लेषण के चक्कर में पड़कर आमूल चूल उसमें डूब जाते हैं। शकुन्तला की सहज रूप-राशि का निर्भर पान करने वाले भ्रमर को देखकर तभी तो दुष्यन्त कहता है—**'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुरकर हतास्त्वं खलु कृती।'**

शाकुन्तल की रचना में कवि के सौन्दर्यविषयक दृष्टिकोण में कितना अन्तर आ चुका है इसे देखने के लिए हमें जरा उसकी प्रथम नाट्यकृति मालविकाग्निमित्र की ओर देखना पड़ेगा। वहाँ कवि की सौन्दर्यविषयक आस्था क्या है तथा उसका दृष्टिकोण कितना स्थूल है यह केवल मालविका के सौन्दर्य वर्णन से सम्बन्धित एक पद्य को देखने से ही स्पष्ट हो जायेगा। मालविका को नृत्य-नेपथ्य में देखकर राजा अग्निमित्र कहता है—'आह! क्या ही अद्भुत रूप है! बड़ी-बड़ी आँखें, शरत् काल के पूरे चाँद जैसा मुखड़ा, कन्धों से कुछ झुकी सी भुजाएँ, उभरते हुए कठोर स्तनों से सघन वक्षस्थल, सुँती हुई सी कोखें, पतली (मुट्ठीभर) कमर, मोटी-मोटी जंघाएँ, कुछ-कुछ झुकी हुई सी पैरों की अंगुलियाँ यह सब ऐसा लगता है जैसे कि इसके शरीर की रचना विधाता ने नाट्याचार्य गणदास के कहने पर ही की हो।'

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ।।
(मालविकाग्निमित्र २/३)

इसके बाद उनकी दूसरी नाट्यकृति में हम इसके बदलते हुए दृष्टिकोण को भी देख सकते हैं। सौन्दर्य की व्याख्या स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होती हुई दिखाई देती है। उर्वशी के विषय में अपने मित्र विदूषक से बातें करते हुए पुरुरवा कहता है—'वह इतनी अधिक सुन्दरी है कि उसे बड़ी सुन्दर कहना भी एक अलौकिक सी बात है (पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव)। और फिर कहता है—'मित्र माणवक ! समझो कि उसके अंग-प्रत्यङ्ग का वर्णन तो हो ही नहीं सकता। इसलिए संक्षेप में सुनो—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ।। (२/३)

(उसका शरीर आभूषणों का भी आभूषण है, शृङ्गार की सामग्री का भी शृङ्गार है, और उपमानयोग्य वस्तुओं की भी उससे उपमा दी जा सकती है।)

यहाँ पर कवि ने उसके सौन्दर्य को 'इदमित्थम्' न कहकर उसकी सार्वभौमता की व्यञ्जना कर डाली है। शाकुन्तल में तो कवि इससे भी बहुत आगे बढ़ गया है। कवि समझ गया है कि सौन्दर्य का आधार अंग-प्रत्यंग होते हुए भी, वही सौन्दर्य नहीं। वह तो इन सबसे भिन्न है पर है फिर भी 'अंगेषु-सन्नद्धम्'। उसे अधिक से अधिक 'लावण्य' कहा जा सकता है, 'आकृति विशेष' कहा जा सकता है पर किन्हीं रेखाओं में बाँधा नहीं जा सकता। सहृदय सौन्दर्यपारखी सभी देशों और सभी कालों में अपने-अपने देशकाल के अनुरूप उसकी कल्पना कर सकता है, उसकी मानसिक रूपरेखा बना सकता है। ऐसा सौन्दर्य सर्वथा शुद्ध, निर्मल तथा मानसिक आस्वाद-वा रसास्वाद की वस्तु हुआ करता है। उसमें 'पापवृत्ति' के लिए अवकाश ही नहीं हो सकता क्योंकि वह स्थूल नहीं, पार्थिव नहीं। हम देखते हैं कि शाकुन्तल में आकर कालिदास की सौन्दर्यविषयक आस्था बहुत स्पष्ट हो जाती है, बहुत ऊँचे धरातल पर पहुँच जाती है।

**विशुद्ध प्रेम**

कालिदास के प्रेमविषयक दृष्टिकोण पर सूक्तियों का विश्लेषण करते समय

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विचार किया गया है। पर शाकुन्तल और कुमारसम्भव ये दो कृतियाँ ऐसी हैं जिनमें कि कवि ने अपने प्रेमविषयक दृष्टिकोण को न केवल उक्तियों के द्वारा अपितु कथावस्तु के द्वारा भी प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है। कालिदास मानते हैं कि अनुराग का प्रारम्भ वासना से होता है तथा उसकी पूर्ति बाह्याकर्षणशून्य आन्तरिक हृदयबन्धन में। उन्होंने जीवन में वासनात्मक प्रेम तथा शुद्ध प्रेम इन दोनों की सत्ता को स्वीकार किया है और कई स्थानों पर इन दोनों के अन्तर को भी स्पष्ट किया है। प्रेम के शुद्ध एवं दिव्य रूप का निरूपण कुमारसम्भव में हो चुका था पर वहाँ जो अलौकिक आलम्बन तथा जो अलौकिक प्रेम था (अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः (कुमार० ५/२) वह इस संसार में तो मिल नहीं सकता अतः उसे आदर्श बनाना भी संगत प्रतीत नहीं होता था। अन्यत्र प्रेम के जिन रूपों का चित्रण हुआ था वे अपने पार्थिव रूप से ऊपर नहीं उठ सके थे। अतः प्रेम के दोनों रूपों का मानवीय आदर्श प्रस्तुत करने की प्रबल प्रेरणा ने ही मानो कवि को शाकुन्तल की रचना के लिए प्रेरित किया और उसने बड़ी तत्परता के साथ इसमें मानव प्रेम के प्रारम्भिक रूप से लेकर उसके उदात्ततम रूप तक का सुन्दर निरूपण कर डाला। इसमें उसने दिखलाया कि यद्यपि सामान्यतया प्रेम का प्रारम्भ वासनाजन्य होता है पर उसमें स्थायित्व लाने के लिए उसे कठोर त्याग और तपस्या की आग में तपाकर उसका परिष्कार करना पड़ता है। केवल वासनाजन्य प्रेम अन्धा होता है, प्रबल होता है, वह अनेक सीमा रेखाओं को तोड़कर दो प्राणियों का मिलन तो करा देता है पर उसे स्थिरता प्रदान नहीं करा सकता, इतना ही नहीं वरन् कामवासनाजन्य प्रेम से उद्भूत शरीरिक मिलन कभी कभी दो हृदयों के मिलन के अभाव में वासना की बाढ़ के उतर जाने के बाद उनके जीवन के लिए दुःखद सिद्ध हो जाता है, जीवन के लिए अभिशाप बन जाता है। इसीलिए कालिदास ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥ (५/२४)

कालिदास ने शाकुन्तल के प्रथम तीन अंकों में प्रेम के उस रूप को खूब उभारा है जिसका आधार है शारीरिक सौन्दर्य, रूपमाधुरी और जिसका परिणाम है कामवासना की तृप्ति। ऐसे प्रेम का निरूपण तो मालविकाग्निमित्र में ही हो चुका था फिर उसे यहाँ दिखाने की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः उसकी

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



पुनरावृत्ति की यहाँ को आवश्यता न थी। पर कवि आदर्श लोक को छूने से पूर्व इस धरती पर भी अपने चरण बनाये रखना चाहता है। वह बताना चाहता है कि यों तो प्रेम के नाम से पुकारा जाने वाला सांसारिक अनुराग सरलता से उपलब्ध हो सकता है पर उसके शुद्ध, अलौकिक रूप की प्राप्ति त्याग और तपस्या के बिना सम्भव नहीं। सरलता से मिलने वाली वस्तु सरलता से ही खो भी जाती है।

कालिदास मानते हैं कि प्रेम का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी, यह सब कुछ ही नहीं। जीवन में सर्वोपरिस्थान है धर्म अथवा कर्तव्य का। भारतीय आदर्शानुमोदित 'पुरुषार्थ—चतुष्टय' में भी 'धर्म' को प्रथम तथा 'काम' को तृतीय स्थान दिया गया है। अतः धर्म वा कर्तव्य के साथ इसका विरोध कवि को कभी भी अभिमत नहीं रहा। इसीलिए अतिथि धर्म का पालन करने के ही कारण जहाँ पार्वती के प्रेम को 'वरदान' मिला वहीं उसी धर्म का पालन न करने के कारण शकुन्तला का प्रेम अभिशप्त हुआ।

सच्चा प्रेम लेना नहीं, देना जानता है; उसमें संग्रह की नहीं अपितु त्याग की, बलिदान की भावना होती है। वह कभी किसी प्रकार का प्रतिदान भी नहीं चाहता। पार्वती के हृदय में सच्चा प्रेम था अतः उसने प्रिय को पाने के लिए सब कुछ न्यौछावर कर दिया, स्वयं सूख कर कांटा बन गयी, रो-रोकर आँखें सुझा लीं, तब कहीं प्रिय को पाया, प्यार को पाया। पर शकुन्तला को ऐसा कुछ करना नहीं पड़ा था। रसिक भ्रमर स्वयं कली के द्वार पर अतिथि बन कर आ गया, उस पर रीझ गया, न्यौछावर हो गया। जो कहा वह मानने को तैयार हो गया। वरन् उसने तो स्वयं आत्मसमर्पण करते हुए यहाँ तक कह डाला कि हे भीरु! तुम जिससे 'अवधीरणा' की आशंका करती हो वह तुम्हारे साथ संगम के स्वय उत्सुक खड़ा है।[1] और जब सखियों की ओर से ही सही, इस प्रेम की सौदेबाजी होने लगी तो झट से प्रस्तुत कर दिया गया उसका मूल्य 'समुद्रवसना धरित्री के सपत्नीत्व' के रूप में (३/१८), दोनों को ही प्रेम के मूल्य के रूप में कुछ चुकाना न पड़ा। एक के पास अतुल रूप संभार था तो दूसरे के पास वसुंधरा की अतुल रत्न समृद्धि। दोनों में से किसी ने भी एक दूसरे को अपना हृदय नहीं दिया था। वासना के प्रबल उद्वेग में एक ने

---

१ अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको विशंकसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुराप: कथमीप्सितो भवेत्॥ (३/१२)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



अपनी रूप समृद्धि प्रदान की थी दूसरे ने वैभव समृद्धि, यही इन दोनों का संबल था। इसीलिए जब शकुन्तला अपनी अपार रूपराशि के लेकर राजरानी और राजमाता बनने का स्वप्न लेकर दुष्यन्त के पास पहुँची तो इतना बड़ा पद तो क्या, वहाँ उसे 'दास्य' भी नहीं मिल सका। रूप और यौवन प्रेम का स्थायी आधार न बन सका। अतः उसके लिए शकुन्तला को वही मार्ग अपनाना पड़ा जोकि पार्वती ने अपनाया था। इधर दुष्यन्त को भी अपनी वासना को विरह और पश्चात्ताप की अग्नि में खूब तपाना पड़ा। तभी कहीं जाकर उन दो हृदयों का मिलन हो सका। जैसे अपनी रूप समृद्धि के बल पर शकुन्तला ने दुष्यन्त को सहज ही पा लिया था वैसे ही अपनी राजसी समृद्धि के बल पर दुष्यन्त को भी कितनी ही शकुन्तला सी रूपयौवनसम्पन्ना हंसपदिकाएँ प्राप्त हो जाती थी। उसे प्रेम को पहचानने तथा उसका मूल्य चुकाने का कभी अवसर ही नहीं पड़ा था। वह वासना को ही प्रेम समझ बैठा था जैसा कि शकुन्तला ने भी समझा था। पर ऐसा प्रेम न व्यक्ति के लिए और न समाज के लिए ही श्रेयस्कर हो सकता था। संसार में प्रतिदिन ही इस प्रकार के न जाने कितने नाटक चलते रहते हैं और न जाने कितने ही अनवधान लोग तथा समाज इसके शिकार होते रहते हैं। शुद्ध तथा वासनात्मक प्रेम के इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही कालिदास ने शकुन्तला का इस रूप में प्रत्याख्यान करवा कर फिर दोनों को विरह और पश्चात्ताप की अग्नि में इतना तपाया है कि उनके प्रेम का वासनात्मक रूप पूरी तरह से जल जाता है और उनके प्रेम का विशुद्ध रूप चमक उठता। एक **'प्रजागरक्षाम'** है तो दूसरी **'त्रियमक्षाममुखी'** है। अब वहाँ न किसी अभिज्ञान की आवश्यकता है और न किसी प्रकार के आश्वासन की। पर साथ ही ऐसे दिव्य प्रेम की स्थापना मरीचि के दिव्य आश्रम में करवा कर कवि शायद बताना चाहता है कि इस प्रकार का परम शुद्ध, अलौकिक प्रेम इस मर्त्यलोक में शायद नहीं हो सकता। यहाँ तो शायद कण्वाश्रम के दुष्यन्त—शकुन्तला के प्रेम की पुनरावृत्ति होती रहेगी। कवि ने अपनी आस्था एवं अनुभूति के अनुरूप आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। उस पर चलना या न चलना दूसरों का काम है। पर इतना तो निश्चित है कि बाह्य सौन्दर्य पर आधारित प्रेम को सदा ही अभिशाप का भय बना रहेगा जबकि आन्तरिक प्रेम सदा अजर अमर रहेगा। इसका वही रूप होगा जिसके बारे में भवभूति लिखते हैं कि 'सुख और दुःख में समान रहता है, जीवन की सभी उच्चावच अवस्थाओं मेंएकरूप रहता है, जिसकी शीतलता व्यथित हृदय को शान्ति प्रदान करती है,

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



वृद्धावस्था के कारण शारीरिक सौन्दर्य के क्षीण हो जाने पर भी जिसके रस में कोई अन्तर नहीं आता, इत्यादि।[1] ऐसे प्रेम की कामना मानव लोक के कल्याण के लिए सदा से होती रही है और होती रहेगी। एक आङ्ग्ल कवि (कैरियू) ने अपनी कविता 'दि ट्रू ब्यूटी' में प्रेम के इसी पक्ष को प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास किया है, वह कहता है—वह व्यक्ति जोकि गुलाबी गालों से प्यार करता है और प्रवाल से आरक्त होठों की प्रशंसा करता है, जिसे अपने प्रेम की अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए प्रिय की चमकती हुई आँखों के ईंधन की आवश्यकता होती है, उसके प्रेम की ज्वाला अवश्य ही बुझ जाएगी जब कि वृद्धावस्था इस सारे सौन्दर्य को फीका कर डालेगी। किन्तु इसके विपरीत मृदु एवं स्थिर मन, भव्यभाव, भद्र अभिलाषाएँ तथा दोनों ओर से समान रूप से स्नेहाबद्ध हृदयों से उद्भूत प्रेम, प्रेम की अग्नि को सदा प्रज्वलित रखता है। जहाँ ये नहीं वहाँ मेरी दृष्टि में वे गाल, वे होंठ और वे आँखें सभी हेय हैं।[2]

**प्रेम का परिष्कार**

कालिदास की अन्य नाट्य कृतियों में निरूपित प्रेम की शाकुन्तल के प्रेम के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ आकर कवि की प्रेम विषयक धारणाओं में महान् परिवर्तन आ गया है। मालविकाग्निमित्र की रचना के समय कवि के सामने प्रेम का वह उदात्त पक्ष था ही नहीं जोकि शाकुन्तल वा कुमारसम्भव की रचना के समय बन चुका है। उसमें उस

---

१. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः॥ (उ० रा० च०)

2. He that loves a rosy cheek,
Or a coral lip admires,
Or from star like eyes doth seek
Fuel to maintain his fires,
As old times make these decay,
So his flames must fade away,
But a smooth and stead fast mind,
Gentle thoughts and calm desires,
Hearts with equal love Combined,
Kindle never dying fires,
Where these are not a despiseks,
Loveiy Chceks or lipsks or eyes.

(Golden Treasary)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



विशुद्ध और निश्छल प्रेम की झाँकी भी नहीं है जोकि शाकुन्तल का मूल स्वर है। उसका नायक स्वयं 'शठ' कह कर अपना परिचय देता है। अपनी रूपसी युवती पत्नी इरावती की उपेक्षा करके लुक छिपकर कुमारी मालविका को अपने प्रेम के, वासना के चंगुल में फंसाने के लिए साँठ-गाँठ करता है और फिर रँगे हाथों पकड़ा जाने पर धृष्टतापूर्वक रानी के सामने अपनी करतूत का ढिंढोरा पीटता है। उसका हाथ पकड़कर उसे मनाने का यत्न करता है (३/२०) और जब वह कुपित होकर चली जाती है तो कहता है—'चलो अच्छा हुआ, थोड़ी देर के लिए बला टल गयी।' उसे उसके रूठ कर चले जाने का कोई दुःख नहीं, वरन् प्रसन्नता है कि मालविका से मिलने का मौका मिल जायेगा।[1] मानो कि प्रेम एक खरीदने बेचने की वस्तु है उसका कोई मूल्य नहीं, कभी भी लिया दिया जा सकता है। कवि ने न प्रेम को सामान्य वासना के स्तर से उठाने का यत्न किया है और न नायक-नायिका के चरित्र को ही सामान्य कामियों के स्तर से उठा कर ऊपर ले जाने का ही कोई प्रयत्न किया है। वासना की तृप्ति ही यहाँ प्रेम का प्रमुख ध्येय दिखाई देता है।

विक्रमोर्वशी में यद्यपि कवि ने विरह-ताप की योजना करके प्रेम को किसी सीमा तक परिष्कृत करने का यत्न किया है पर उसमें वह शुचिता एवं स्वाभाविकता नहीं ला सका है जोकि शाकुन्तल के परम प्रौढ़ कवि में पाई जाती है। इसकी नायिका उर्वशी नायक के साथ अपने परिचय के कुछ ही क्षणों में शालीनता की सीमा का उल्लंघन करने लगती है और फिर बाद में इसी लघु कालीन परिचय के ही आधार पर उसके साथ आँख मिचौनी खेलने पर उतारू हो जाती है। यद्यपि उर्वशी अप्सरा है किन्तु फिर भी उसका यह धृष्ट व्यवहार मर्त्यलोक के वासियों के लिए आदर्श नहीं बन सकता और न प्रेम के विकास के मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही प्रस्तुत करता है। इसमें प्रेम के प्रादुर्भाव एवं विकास के लिए स्वाभाविक वातावरण नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। इतना ही नहीं, यहाँ पर तो उस आस्था का भी सम्यक् प्रदर्शन नहीं हो सका है जिसके अनुसार कालिदास मानते हैं कि प्रेम की परिणति विवाह में और विवाह की परिणति सन्तानोत्पत्ति में होती है। यहाँ प्रेम स्थायी आधार शिला पर स्थित नहीं। वह कुछ सीमाओं वा शर्तों के अधीन चल रहा है जोकि किसी समय भी टूट सकती हैं, ऐसा प्रेम न श्रेयस्कर हो सकता है और न समाज के

१. मन्ये प्रियाहृतमनास्तस्याः प्रणिपात लघनं सेवाम्।
एवं हिप्रणयवती सा मक्य उपेक्षितुं कुपिता।। (माल० ३/२३)

Devavahi Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



लिए काम्य ही। सम्पूर्ण नाटक में उसका वासनात्मक पक्ष इतना प्रबल है कि उसके लिए वात्सल्य और मातृत्व का भी बलिदान कर दिया गया है। इसकी नायिका प्रिय समागम की अधिकतम कामना के लिए अपनी सन्तानजन्य स्वर्गिक सुख का बलिदान कर देती है। उसमें त्याग और सहिष्णुता का तो नामोनिशान भी नहीं। यद्यपि अन्त में जाकर कवि ने इन दोनों ही पक्षों का परिष्कार करने का यत्न किया है पर वह पूर्णतया सफल नहीं हो सका है। न उर्वशी के परिवर्तनप्रत्यावर्तन में स्वाभाविकता है और आयुष् की प्राप्ति में ही। सब कुछ ऊपरा सा लगता है। यद्यपि पुरुरवा के विरह सन्ताप की योजना कर के वासना की कालिमा को जलाने का यत्न किया गया है पर वह पूरी तरह कुन्दन नहीं बन सका है। न कहीं प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष है और न कहीं विशुद्ध प्रेम की विजय। अन्त में उनका स्थायी मिलन भी एक विवशता के अधीन ही किया जाता है। उसके नायक नायिका को कोई त्याग वा तपस्या नहीं करनी पड़ी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रमोर्वशी का कवि अपने उद्देश्य के प्रति सचेष्ट तो है पर उसमें अभी सफल नहीं हुआ है। उसी की पूर्ण सफलता के लिए उसे शाकुन्तल की रचना करनी पड़ी।

शाकुन्तल के कवि को हम प्रारम्भ से ही पूर्ण सचेष्ट पाते हैं। नायक को प्रेम की रंगभूमि पर उतारने से पूर्व ही उसने नायिका के यौवनावतार तथा उसकी काम विषयक सचेतता का निरूपण करके उसके लिए उचित पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। प्रेम का अंकुर फूटने से पूर्व ही उसके लिए उचित भूमि तैयार हो जाती है। फिर पूरे नारीगत शील और संकोच के साथ शकुन्तला में प्रेम का अंकुर फूटता है। हम शकुन्तला की शालीन उक्ति—**'किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवन विरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'** में स्पष्टता उस अंकुर को फूटता हुआ देखते हैं। और फिर इसके अनन्तर **"स्त्रीणामाद्य प्रणय-वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु"** की मान्य धारणा के अनुरूप हम इसकी अभिव्यक्ति भी देख सकते हैं। **'दर्भाङ्कुरेणचरणक्षत इत्यकाण्डे०'** में शकुन्तला के उदीयमान प्रेम की जो अभिव्यक्ति हुई है वह कितनी संगत एवं स्वाभाविक है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। इसके बाद कवि ने उसके विकास के लिए जो स्वाभाविक वातावरण उत्पन्न किया है तथा उसके परिणाम को जिन रूपों में दिखाया है उस पर पीछे काफी प्रकाश डाला ही जा चुका है। इस प्रकार के स्वाभाविक आधारों पर पोषित प्रेम कभी टूट नहीं सकता, अनेक विघ्नबाधाओं को पार करके अन्त में विजयी होता है यह दिखलाना भी कवि का एक

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



उद्देश्य प्रतीत होता है। उसने स्वयं भी स्वीकार किया है कि सच्चा प्रेम विघ्न बाधाओं से बाधित नहीं होता। वह तो और भी अधिक तीव्रतर हो उठता है उस नदी के वेग के समान जोकि पर्वत की चट्टानों के बीच में आ जाने से किंचित् काल के लिए प्रतिरुद्ध हो जाता है।"[1] ऐसे प्रेम का सदा अभिनन्दन होता है और 'जन्मजन्मांतर' तक 'स्थिर भाव' वाला होता है (**भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि**)।

कालिदास द्वारा चित्रित प्रेम के अन्तिम रूपों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे उस प्रणय पद्धति के पक्षपाती हैं जोकि लोक, धर्म, नीति, मर्यादा से विमुख नहीं, ऐकान्तिक नहीं। वह स्वच्छ जीवनधारा का अवरोधक नहीं अपितु प्रवर्तक होना चाहिए, शकुन्तला और दुष्यन्त काम के आवेगों में बह पड़ने वाले संवेदनशील प्राणी ही नहीं अपितु और भी अनेक गुणों के आगार हैं। वे प्रेमी हैं पर उनका प्रणय उनके मार्ग का, उनके धर्म का बाधक बनने नहीं पाता। शकुन्तला के विरह में आमूलचूल मग्न दुष्यन्त को जब युद्ध का निमन्त्रण आता है तो वह तुरन्त अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए तत्पर हो जाता है, वह अपने राजकीय कर्तव्यों के प्रति भी किस प्रकार जागरूक है यह हम पहले ही दिखा चुके हैं। शकुन्तला को प्रेम अवश्य एक बार कर्तव्यच्युत करता है पर अन्त में हम उसे भी अपने पथ पर पूरी आस्था एवं दृढ़ता के साथ बढ़ते हुए पाते हैं। कालिदास ने शुद्ध सात्त्विक प्रेम की सर्वत्र विजय तथा कामुकता की पराजय दिखाई है। कामुकता का दुष्परिणाम दिखाने के लिए ही उसने शायद अग्निवर्ण का चित्रण प्रस्तुत किया है।

**शिष्ट एवं संयत शृंगार**

कालिदास की शृंगार-योजना पर पृथक् रूप से विचार किया गया है और उसमें भी शाकुन्तल की शृंगार-योजना का निरूपण हो चुका है अतः यहां विस्तार में जाने का अवकाश नहीं। शृंगार का भी जो आदर्श एवं संयत रूप कालिदास ने इसमें उतारा है वह केवल उनकी दीर्घकालीन साधना एवं अनुभूतियों का ही परिपाक है। मुग्धा शकुन्तला की शृंगार चेष्टाएँ (१/२९; २/११–१२)[2] तथा शृंगारोक्तियाँ[3] कितनी शिष्ट एवं संयत हैं यह देखते ही

---

१. नद्या इव प्रवाहो विषमशिला संकटस्खलित वेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणो भवति।। (विक्रम० ३/८)

२. वाचं न मिश्रयति०; अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं०; दर्भाङ्कुरेण चरणः०।

३. किं नु खलु तपोवनविरोधिनो०, सखि यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवन रक्षिता राजर्षिः तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता, तव न जाने हृदयं० इत्यादि। (३/१४)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



बनता है। अनसूया जब दुष्यन्त को शकुन्तला के जन्म का वृत्तान्त सुनाने लगती है तो 'तब एक दिन बसन्त के सुहावने अवसर पर उस (मेनका) के उन्मादक रूप को देख कर·····' कहते कहते वह लज्जावश आगे की बात को बिना कहे ही कह डालती है। ऐसे ही जब शकुन्तला और दुष्यन्त के मन में बढ़ते हुए अनुराग को सखियाँ भाँप लेती हैं तो वे शकुन्तला से—'शकुन्तला ! यदि आज पिता जी यहाँ होते तो ?' जैसे संक्षिप्त वाक्य में ही सब कुछ कह जाती हैं। तृतीय अंक में लताकुंज के प्रसंग में शृंगार चित्रण के लिए उन्मुक्त अवकाश के होते हुए भी कवि ने बड़े ही संयत रूप से तथा बड़ी संयत भाषा में ही उसे प्रस्तुत किया है। कहीं भी, किसी रूप में भी शृंगार में अमर्यादा एवं अश्लीलता नहीं आने पायी है। शृंगार के दोनों ही पक्षों का बड़ा उदात्त निरूपण हुआ है।

**प्रकृति का उदात्त निरूपण**

कालिदास की अन्य विशेषताओं—प्रकृति चित्रण, अलंकार योजना, सूक्ति-सौन्दर्य आदि—पर पृथक्-पृथक् विचार किया ही गया है, यहाँ बस इतना ही कहना है कि इन सबका भी उत्कृष्टतम रूप हमें शाकुन्तल में देखने को मिलता है। प्रकृति के साहचर्य में ही कालिदास ने मानव की पूर्णता को देखा है। शाकुन्तल में प्रकृति स्वयं एक पात्र बन गयी है। इसकी नायिका स्वयं उसकी पुत्री है। कण्वाश्रम के लता-वृक्ष, पशु, पक्षी सब एक ही उच्छ्वास से उच्छ्वसित होते हैं। यदि उनके प्रति शकुन्तला का 'सोदर स्नेह' है तो वे भी उसका पूरा पूरा प्रतिदान करते हैं।[1] प्रकृति का ऐसा अद्भुत रूप संसार के किसी चितेरे ने चित्रित नहीं किया है। यह मानव और प्रकृति के तादात्म्य का चरम विकास कहा जायेगा। मानव और प्रकृति के तादात्म्य का चरम विकास कहा जायेगा। मानव और प्रकृति के सम्बन्धों की इससे उदात्त कल्पना न और कहीं हुई है और न हो सकेगी।

**उपसंहार**

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास की कविता, आदर्शों और कल्पना में जो श्रेष्ठ, उदात्त अंश था वह सब कुछ शाकुन्तल में उतर आया है। शाकुन्तल वस्तुतः कवि की श्रेष्ठतम कृति है ऐसी कृति की समाप्ति पर इसके स्रष्टा को परम आत्मतोष भी अनुभूति का होना स्वाभाविक ही है। इसमें उसकी सारी कल्पनाएँ पूरी हो गयीं। जीवन की अनुभूतियों की पिटारी का बोझ

१. शाकु० ४/५

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust



हल्का हो गया। अब इससे अधिक कला और काव्य के लोक में कहने को अथवा देने को कुछ शेष न रहा। बस केवल कामना रही तो यही कि—शासक वर्ग प्रजा के हित साधन में निरत रहे, विद्वानों की वाणी का सर्वत्र सम्मान हो, कवि पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्तिलाभ करे।[1] जिस देश में क्षात्र धर्म और ब्रह्मतेज दोनों ही कार्यशील हो उस देश के लिए और अधिक उच्च संदेश हो भी क्या सकता है। कालिदास ने अपनी रचना में इन दोनों रूपों का पर्याप्त निरूपण किया था लोक कल्याण के लिए वही पर्याप्त था।

वस्तुतः शाकुन्तल कला, कल्पना और सांस्कृतिक आदर्शों का अद्भुत सम्मिश्रण है। इस पर चाहे जितने दृष्टिकोणों से विचार कर लिया जाय फिर भी कुछ शेष रह ही जायेगा। इसका साङ्गोपाङ्ग निरूपण शब्दों की सीमा से बाहर है। जर्मन कवि गेटे की प्रशंसा कोई भावपूर्ण उक्ति नहीं अपितु एक अनुभूत तथ्य है।[2] शाकुन्तल कालिदास की कलाकृति का वह स्तम्भ है जिसके सहारे उसकी यशःपताका युगयुगान्तर तक विश्व के कोने-कोने तक फहराती रहेगी। यदि मानव कभी चन्द्रलोक का वासी बना तो निश्चित है कि शाकुन्तल भी वहाँ अवश्य होगा।

---

१. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥ (शाकु० ७/३५)

२. वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे शाकुन्तलं सेव्यताम्॥
(संस्कृत रूपान्तर श्री म, म, वा० वि०, मिराशी)

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

Devavani Parishad New Delhi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust

# देववाणी-परिषदा प्रकाशिताः
## संग्रहणीया ग्रन्थाः

१. अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (प्रथमखण्डः)
(सं० : डॉ० रमाकान्तशुक्लः) (दुष्प्राप्यः) रु० १५.००

२. अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यविमर्शः (द्वितीयखण्डः)
(सं० : डॉ० रमाकान्तशुक्लः) रु० ३०.००

३. कर्णभूषणम् (डॉ० सी० आर० स्वामिनाथन्) (पेपरबैक) रु० ५.००

४. देववाणीदर्शनम् (दुष्प्राप्यम्) रु० ५०.००

५. भाति मे भारतम् (काव्यम्) (प्रणेता-डॉ० रमाकान्तशुक्लः) रु० ४०.००

६. श्रीकृष्णचरितम् (उ०प्र०शासन-पुरस्कृतं महाकाव्यम्)
(प्रणेता-डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लः) रु० ३०.००

७. सुगमरामायणम् (उ०प्र०-हरियाणा-शासन-पुरस्कृतं
महाकाव्यम्) (प्रणेता-डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लः) रु० ३५.००

८. हरविजयस्य साहित्यिकमध्ययनम् (डॉ० कृष्णकान्तशुक्लः) रु० ९०.००

९. श्रीमदप्पयदीक्षितचरितम् (गद्यकाव्यम्)
(डॉ० हरिनारायणदीक्षितः) रु० २०.००

१०. भारतस्वातन्त्र्यसंग्रामेतिहासः (डॉ० रमेशचन्द्रशुक्लः) रु० ३५.००

११. सदाशयसमुच्चयः (प्रणेता-श्री टी० वी० परमेश्वर अय्यरः) रु० १५.००

१२. आभाणकमञ्जरी (प्रणेता-श्री टी० वी० परमेश्वर अय्यरः) रु० १५.००

१३. मेघदूत : एक वश्लेषण (लेखक : डॉ० देवीदत्त शर्मा) रु० २०.००

१४. रघुवंश : एक विश्लेषण ( ,, ,, ) रु० २०.००

१५. अभिज्ञानशाकुन्तल : एक विश्लेषण ( ,, ,, ) रु० २०.००

१६. कालिदास की कला और संस्कृति (भाग २) ( ,, ,, ) रु० ६०.००

### प्राप्तिस्थाने

१. 'देववाणी-परिषद्,दिल्ली' ६ वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

२. सुधाकमल ग्रन्थालय, २६४, उत्तरी गांधी कालोनी, मुजफ्फरनगर

Devavani Parishad New Delhi